# मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास

# मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास

लेखक :

श्रीचंद चोरड़िया, न्यायतीर्थ ( द्वय )

प्रकाशक :

जैन दर्शन समिति

प्रकाशक :
जैन दर्शन समिति
१६-सी, डोवर लेन,
कलकत्ता-७०००२९

अर्थ-सहायक :
श्री भगवतीलाल सिसोदिया ट्रष्ट, जोधपुर
मारफत—श्री जबरमल भण्डारी

प्रथम आवृत्ति १०००
सन् १९७७
वि० स० २०३४
भाद्र कृष्णा ८

पृष्ठांक / ३६०
मूल्य भारत में रु० १५·००
विदेश में Sh 20/-

मुद्रक :
झा प्रिन्टर्स
२-सी, इमाम बक्स लेन,
कलकत्ता-७००००१

# जैन दर्शन समिति के संस्थापक



स्व० श्री मोहनलालजी बांठिया

जन्म—३०-११-१९०८ स्वर्गवास—२३-९-१९७६

# समर्पण

उनके मात्र ज्ञानोद्यम से प्रेरित होकर, जिनके सान्निध्य में आगम साहित्य के क्रमवार विषय-विभाजन व जैन दर्शन से सम्बन्धित कोशों के निर्माण करने का सुअवसर मिला उन स्वर्गीय श्री मोहनलालजी बाँठिया को प्रस्तुत ग्रन्थ समर्पित करता हूँ।

—श्रीचंद चोरड़िया

# प्रकाशकीय

यह आपको मालूम ही होगा कि स्वर्गीय श्री मोहनलालजी बाँठिया के जैनागम एवं वाङ्मय के तलस्पर्शी गम्भीर अध्ययन द्वारा प्रस्तुत कोश परिकल्पना को क्रियान्वित करने तथा उनके सत्कर्म और अध्यवसाय के प्रति समुचित सम्मान प्रकट करने की भावनावश जैन दर्शन समिति की संस्थापना महावीर जयंती १९६९ के दिन की गई थी। स्वर्गीय श्री मोहनलालजी बाँठिया ने श्रीचन्दजी चोरड़िया के सहयोग से क्रिया कोश तैयार किया था, जिसको समिति ने सन् १९६९ में छपाया था। समिति के गठन होने के पूर्व स्वर्गीय श्री बाँठियाजी ने श्रीचन्दजी चोरड़िया के सहयोग से लेश्याकोश को भी तैयार किया था--जो सन् १९६६ में स्वय के खर्चे से ही प्रकाशित किया था।

'लेश्याकोश व क्रियाकोश' विद्वद्वर्ग द्वारा जितना समादृत हुआ है तथा जैन दर्शन और वाङ्मय के अध्ययन के लिये जिस रूप में इसको अपरिहार्य बताया गया है। देश-विदेश में इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा हुई है। 'भगवान महावीर जीवन कोश' का संकलन प्राय: बाँठियाजी के रहते हुए ही हो गया था। इसके दो खण्ड होंगे। उनके सहयोगी श्रीचन्दजी चोरड़िया—इन दोनों खण्डों को तैयार कर रहे हैं; जो शीघ्र ही तैयार हो जायेंगे।

जैन दर्शन जीवन का शुद्धि का दर्शन है। रागद्वेष आदि बाह्यशत्रु, जो आत्मा को पराभूत करने के लिये दिन-रात कमर कसे खड़े रहते हैं, से जूझने के लिये यह एक अमोघ अस्त्र है।' जीवन शुद्धि के पथ पर आगे बढ़ने की आकांक्षा रखने वाले पथिकों के लिये यह एक दिव्य पाथेय है। यही कारण है, जैन दर्शन जानने का अर्थ है आत्ममार्जन के विधिक्रम को जानना, आत्मचर्या की यथार्थ पद्धति को समझना।

भगवान महावीर की साधना के प्रति मानव समुदाय श्रद्धावनत है उन्होंने समता के जिस सिद्धांत का निरूपण किया था, उसकी सीमा मानव जगत् तक

ही नहीं—अपितु प्राणी मात्र तक भी। समता का ऐसा उजागर कोई विरल ही व्यक्ति हो सकता है।

जैन दर्शन समिति कलकत्ता ने जैन दर्शन से सम्बंधित पुस्तकों के प्रकाशन का भी निर्णय लिया था। अपितु इसका पावन उद्देश्य एक अभाव की पूर्ति करना, अर्हत् प्रवचन की प्रभावना करना तथा जैन दर्शन और वाङ्मय का प्रचार-प्रसार करना तथा इसके गहन-गम्भीर तत्त्वज्ञान के प्रति सर्व साधारण को आकृष्ट करना और इस तरह समाज की सेवा करना ही है।

इधर मे श्री श्रीचन्दजी चोरड़िया न्यायतीर्थ ने 'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' नामक एक पुस्तिका लिखी है। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपादन अत्यन्त प्राञ्जल एवं प्रभावक रूप मे सुगमता के साथ किया गया है यह जैन सिद्धांत को निरूपण करने वाली अद्भुत कृति है।

'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' यह पुस्तक अनेक विशिष्टताओं से युक्त है। एक मिथ्यात्वी भी सद्अनुष्ठानिक क्रिया से अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। साम्प्रदायिक मत भेदों की बातें या तो आई ही नहीं है अथवा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का समभाव से उल्लेख कर दिया गया है।

श्री चोरड़ियाजी ने विषय का प्रतिपादन बहुत ही सुन्दर और तलस्पर्शी ढग से किया है। विद्वज्जन इसका मूल्यांकन करे। निःसंदेह दार्शनिक जगत के लिए चोरड़ियाजी की यह एक अप्रतिम देन है। सचमुच श्री चोरड़ियाजी एक नवोदित और तरुण जैन विद्वान है, जिन की अभिरुचि इस दिशा मे श्लाघ्य है।

क्रिया कोश के बाद यह 'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' का प्रकाशन जैन दर्शन समिति, कलकत्ता से हो रहा है।

इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन में अर्थ सहाय देना भगवतीलाल सिसोदिया ट्रस्ट, जोधपुर ने स्वीकार किया है। यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। भगवतीलाल सिसोदिया ट्रस्ट के मैनेजिंग ट्रस्टी श्री जबरमलजी भंडारी को विशेष रूप से धन्यवाद देते हैं जिन्होंने 'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' के प्रकाशन में आर्थिक सहायता कर हमें प्रोत्साहित किया।

लखनऊ के डा० ज्योति प्रसादजी जैन, जो एक अच्छे विचारक और चिंतन शील व्यक्ति है, प्रस्तुत पुस्तक का आमुख लिख कर हमें अनुग्रहित किया है। इसके लिये उनके प्रति भी हम आभारी है।

श्रीचन्दजी चोरड़िया ने अनेक पुस्तकों का गहन अध्ययन कर यह पुस्तक लिखकर हमें प्रकाशन करने का मोका दिया, उनके प्रति भी हम आभारी है।

अस्तु—इस महान् और ऐतिहासिक कार्य के सुसपादन और सम्पूर्ति में धनराशि की आवश्यकता होगी। जिसके लिये हम जैन समाज के हर व्यक्ति से साग्रह अनुरोध करते हैं कि इस कार्य को गतिशील रखने के लिये यथा सम्भव सहायता करे तथा मुक्त हस्त से धनराशि प्रदानकर समिति को अनुग्रहित करे।

मेरे सहयोगी—जैन दर्शन समिति के उपमंत्री श्री मांगीलालजी लूणिया, कार्य वाहक सभापति—श्री ताजमलजी बोथरा, श्री केवलचन्दजी नाहटा, श्री धर्मचन्दजी राखेचा आदि के समिति सभी उत्साही सदस्यों, शुभचिंतकों एवं संरक्षकों के साहस और निष्ठा का उल्लेख करना मेरा कर्त्तव्य है। जिनकी इच्छाएँ और परिकल्पनायें मूर्त्तरूप मे मेरे सामने आ रही है। श्री सुरजमलजी सुराना का भी हमे सहयोग रहा है।

जैन दर्शन समिति ने जैन दर्शन का प्रचार करने के उद्देश्य से इसका मूल्य केवल १५) रखा है। जैन, जैनेतर सभी समुदाय से हमारा अनुरोध है कि—'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' पुस्तिका का क्रय करके अंतत: अपने समुदाय के विद्वानों, भंडारों में, पुस्तकालयों में, इसका यथोचित वितरण करने में सहयोग दे।

मा प्रिन्टर्स तथा उनके कर्मचारी भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस पुस्तक का सुन्दर मुद्रण किया है।

आशा है प्रस्तुत पुस्तक का सर्वत्र स्वागत होगा।

कलकत्ता
भाद्र कृष्णा ८, संवत् २०३४

मोहनलाल बैद
मंत्री
जैन दर्शन समिति

# प्रस्तावना

जैन दर्शन सूक्ष्म और गहन है। 'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' यह जैन समाज का एक चर्चित विषय है। मैंने प्रस्तुत पुस्तक के नौ अध्याय किये हैं। प्रत्येक अध्याय में अनेक उप विषय हैं जिनका क्रमवार सप्रमाण विवेचन किया गया है। सन् १९७१-७२ में प्रस्तुत पुस्तक की लेखमाला जैन भारती में क्रमवार कई दिन चली। लेखमाला से प्रभावित होकर कई एक विद्वज्जनों के मेरे पास पत्र आये। उन्होंने लिखा कि क्यों नहीं इसे पुस्तिका रूप मे प्रकाशित किया जाय। तभी मैंने संकलन करना प्रारम्भ किया। लेकिन स्व० मोहनलालजी बाँठिया के सानिध्य मे जैन विश्व भारती लाडनूं, से 'कोश-कार्य' चलने से प्रस्तुत विषय का वेग मन्द पड़ गया। चूँकि स्व० मोहनलालजी बाँठिया जैन विश्व भारती, लाडनूं, के कोश सम्पादक थे। जैन दर्शन समिति के मंत्री—श्री मोहनलालजी बैद, जैन दर्शन समिति के भूतपूर्व सभापति श्री जबरमलजी भंडारी स्व० श्री मोहनलालजी बाँठिया का अनुरोध रहा कि आप पुस्तिका पूरी कर दें। हम जैन दर्शन समिति से प्रकाशित कर देंगे।

पुस्तिका स्व० श्री मोहनलालजी बाँठिया के समय मे ही पूरी हो गई थी।

पाठक वर्ग से सभी प्रकार के सुझाव अभिनन्दनीय हैं। चाहे वे सम्पादन, वर्गीकरण, अनुवाद या अन्य किसी प्रकार के हों। आशा है इस विषय में विद्वद्वर्ग अपने सुझाव भेज कर हमे पूरा सहयोग देंगे।

'भगवान महावीर जीवन कोश' की हमारी तैयारी अधिकांश हो चुकी है। इसके दो खण्ड होंगे।

तेरापंथ संप्रदाय के युगप्रधान आचार्य तुलसीजी व मुनि श्री नथमलजी की भी इस दिशा मे मुझे अनूठी प्रेरणा मिलती रही है जिसे भुलाया नहीं जा सकता।

हमारे अनुरोध पर डा० ज्योति प्रसाद जी जैन एम० ए० पी० एच० डी० ने उस पुस्तक पर आमुख लिख कर हमे अनुग्रहित किया—तदर्थ धन्यवाद।

हम जैन दर्शन समिति के आभारी हैं जिसने प्रस्तुत पुस्तक का सारा व्यय वहन किया। हम स्व० श्री मोहन लाल जी बाँठिया तथा जबरमल जी भंडारी के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने हमे इस कार्य के लिये प्रोत्साहित किया है। हम साहित्य वारिधि श्री अगरचन्दजी नाहटा के भी कम आभारी नहीं हैं जो सदा हमारी तथा हमारे कार्य की खोज खबर लेते रहे हैं।

हम स्व० श्री मोहनलालजी बाँठिया के प्रति अत्यन्त आभारी हैं जिनके सानिध्य मे कोश निर्माण व जैन दर्शन के विविध पहलुओं के शोध करने का अवसर मिला। जैन दर्शन समिति के कार्य वाहक सभापति श्री ताजमलजी बोथरा, श्री रतनलालजी रामपुरिया, श्री नेमचन्दजी गधैया, श्री मोहनलालजी बेद, श्री केवलचन्दजी नाहटा, श्री मांगीलालजी लूणिया, श्री जयचन्दलाल गोठी, श्री धर्मचन्द राखेचा, श्री सुरजमलजी सुराना, आदि सभी बन्धुओं को धन्यवाद देते हैं। जिन्होंने हमें मूक या अमूक रूप मे सहयोग दिया।

आशा है धर्म प्रेमी पाठक प्रस्तुत पुस्तक का तन्मयता से अध्ययन करेंगे, जरा भी उपयोगी सिद्ध हुई तो मैं अपना प्रयास सफल समझूंगा।

श्रीचन्द चोरड़िया, न्यायतीर्थ (द्वय)

# आमुख

क्या एक मिथ्यात्वी या सम्यग्दृष्टिविहीन जीव का भी आध्यात्मिक विकास हो सकता है ? सैद्धान्तिक भाषा का प्रयोग न करके, दूसरे शब्दों में कहें कि क्या एक धर्मनिरपेक्ष, अधर्मी अथवा धर्मभाव शून्य व्यक्ति का भी आत्मोन्नयन हो सकता है ?' यह एक ऐसा ज्वलन्त प्रश्न है जो एक रोचक, सामयिक एवं उपयोगी चर्चा का विषय बनाया जा सकता है।

धर्म तत्त्व किसी न किसी रूप में मानव जीवन के साथ सदैव से तथा सर्वत्र जुड़ा पाया जाता है। आदिम, बर्बर असभ्य या अर्धसभ्य जातियों में उसने नाना प्रकार के अंध विश्वासों अथवा मूढाग्रहों का रूप लिया। वहाँ भय की भावना ही मुख्यतया धर्मभाव की मूल जननी रही। जिन लक्ष्य या अलक्ष्य शक्तियों से मनुष्य को भय लगा, उनकी नाना देवी-देवताओं के रूप में उसने कल्पना की, और आत्म-रक्षार्थ जादू-टोना, पूजा, बलि आदि के द्वारा उन्हें तुष्ट और प्रसन्न करने की प्रथा चली। सभ्य जातियों में भी जहाँ विविध आपत्ति-विपत्तियों एवं भय के कारणों से रक्षा तथा ऐहिलौकिक इच्छाओं और वाञ्छाओं की पूर्ति लक्ष्य रहे, धर्मप्रवृत्तिप्रधान रहा और नाना प्रकार के इष्टा-निष्ट देवी-देवताओं की प्रार्थना, पूजा स्तुतिगान, यज्ञानुष्ठान आदि में चरितार्थ हुआ। किन्तु दृश्यमान चराचर जगत को लेकर सभ्य मानव के मन में कहीं-कहीं अनेक जिज्ञासाएँ भी उत्पन्न हुईं—यह क्या है ? कहाँ से आया ? इसका अन्त क्या होगा ? इसमें मेरी स्थिति क्या है ? मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? इत्यादि। इन जिज्ञासाओं का सरल समाधान मनुष्य को एक ऐसे ईश्वर ( परब्रह्म, यहोवा, गोड, अल्लाह आदि ) की मान्यता में प्राप्त हुआ, जिसे उसने सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्व व्यापी तथा इस सम्पूर्ण चराचर जगत का कर्त्ता-हर्त्ता एवं नियता स्वीकार किया। और क्योंकि वह परमेश्वर, अलक्ष्य इन्द्रिय अगोचर तथा मनुष्य की पहुँच के परे था, उसके कोप से बचने या उसकी कृपा प्राप्त करने के हेतु ऋषियों, अवतारों, देवदूतों, पैगम्बरों आदि माध्यमों की

आवश्यकता हुई। उक्त ईश्वर और उसके अवतारों, पैगम्बरों आदि की आराधना उपासना ने धर्म का रूप लिया। मनुष्य का चिन्तन और आगे बढ़ा तो उसने दार्शनिकता का रूप लिया तथा भिन्न-भिन्न दर्शनों को जन्म दिया। अब वैसे ईश्वर तथा उसके अवतारों, पैगम्बरों आदि की मान्यता भी निरर्थक सी प्रतीत हुई। मनस्वी चिन्तक का ध्यान, अन्तर्मुखी हुआ, बाहर से हटकर स्वयं पर आया, कोऽहं पर केन्द्रित हुआ, और कोऽहं से सोऽहं तक की दूरी तय करता हुआ परम प्राप्तव्य की प्राप्ति मे निष्पन्न हुआ। उसका लक्ष्य स्व का चरमतम आध्यात्मिक विकास, अर्थात् आत्मा से परमात्मा बनना हुआ।

धर्म तत्त्व के स्वरूप विकास का जो संकेत ऊपर किया गया है, उससे ऐसा लग सकता है कि वह उसका ऐतिहासिक विकास क्रम है अर्थात् जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया वैसे-वैसे ही धर्म के स्वरूप का विकास होता गया। किन्तु ऐसा है नहीं। धर्म के तद्प्रभृति भिन्न रूप—आदिम अंधविश्वास, जादू टोना, भूत-प्रेतों की मान्यता, वृक्ष पूजा, नागपूजा, योनिपूजा, लिंगपूजा, बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद, अवतारवाद या पैगम्बरवाद, अनीश्वरवाद, अध्यात्मवाद आदि सदैव से रहते आये हैं, और आज भी प्रचलित हैं। ये ही नहीं, आज तक का तथाकथित युक्तिवादी, विज्ञानवादी, सुसभ्य एवं सुसंस्कृत मनुष्य जिसप्रकार आत्मा-परमात्मा, इहलोक-परलोक, पाप-पुण्य आदि की सत्ता मे विश्वास नहीं करता, धर्म का मखौल उड़ाकर स्वयं को परम नास्तिक कहने मे गर्व मानता है, वर्तमान जीवन को ही व्यक्ति का आद्य और अन्त सब कुछ, मानकर चलता है, प्राचीन काल मे भारतवर्ष के बार्हस्पत्य, लोकायत, चार्वाक आदि। यूनान और रोम के एपीक्यूरियन्स व एग्नास्टिक्स, ईरान और मध्यएशिया के मानी एवं मजदक ऐसे ही विचारों का डंके की चोट प्रतिपादन करते थे।

वस्तुतः प्रायः सभी प्रकार के धार्मिक विश्वासों, मान्यताओं और दार्शनिक विचारों का अस्तित्व अत्यन्त प्राचीन काल से ही रहता आया है, भले ही उनके रूप सुदूर अतीत में उतने परिष्कृत, विस्तृत या जटिल अथवा दार्शनिक न रहे हों जितने कि वे समय की गति के साथ होते गये। युग विशेषों, क्षेत्र

विशेषों या जाति विशेषों में किसी एक प्रकार की प्रधानता रही तो किसी में किसी दूसरे प्रकार की। प्रवृत्तिवादी मार्गों के साथ-साथ निवृत्तिप्रधान मार्ग भी चलते रहे, भौतिकवादिता के साथ-साथ आध्यात्मिकता भी पनपी रही। और जैसे-जैसे धर्म के प्रत्येक प्रकार का विकास होता गया, तत्द मानवी संस्कृति एवं सभ्यता का भी विकास होता गया। इतिहास-दर्शन के प्रकाण्ड मनीषी प्रो० आरनोल्ड जोसेफ टायनबी भी यही कहते हैं कि— "सभ्यता की उपज नहीं है, सभ्यता धर्म की उपज है। धर्म को बाह्य-आडम्बर से नहीं जोड़ना चाहिये, वरन् ऐसे आत्मा की उपलब्धियों की दृष्टि से आंकना चाहिये। वह जनसाधारण की अफीम नहीं, वरन् प्रेरणा का स्रोत है।" एक अन्य विद्वान के शब्दों में धर्म एक कल्पवेली है—उसके आसपास मन-गढ़न्त बातों के कैक्टस मत उगाओ। और डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार, "धर्म उस अग्नि को, जो प्रत्येक व्यक्ति के भी जलती है, उपासना को प्रज्वलित करने मे सहायता देता है। धर्म का प्रयोजन लोगों का मत बदलना नहीं, जीवन बदलना है। धर्म जाति वर्ण, और अहम् भाव को जन्म नहीं देता, वह तो मानव मन को आन्तरिक और उदात्त सम्भावनाओं के बीच सेतुबंध का कार्य करता है। किन्तु जो स्वयं रिक्त हैं, अर्थात् भौतिकता में डूबे हुए हैं, उन्हें इस गुरु पद का आभास ही नही हो पाता। उनके सामने तो ऐहिकता के इन्द्रजाल बिखरे होते हैं और उन्हीं में जीना उनका अभीष्ट होता है।"

जो लोग स्वयं को भौतिकवादी, विज्ञानवादी या घोर नास्तिक कहते हैं और धर्म के नाम से भी बिदकते हैं, वे भी कतिपय नैतिक नियमों और सदाचरण मे तो विश्वास करते ही हैं। मनुष्य स्वभावत: एक सामाजिक प्राणी है। वह एकाकी रह ही नहीं सकता—सदैव से दूसरे मनुष्यों के साथ रहता आया है। परिवार, कुल, आदिम कबीलों से लेकर वर्ण, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, समाज, राष्ट्र, वसुधैव कुटुम्बकम् तक का विकासक्रम उसकी सामाजिकता का ही प्रतिफल है। जब एक व्यक्ति परिवार, कबीले, जाति अथवा किसी भी समाज का अग होकर रहता है तो उसे अपनी स्वेच्छाचारिता को सीमित करना पड़ता है, अपने स्वार्थों का कुछ त्याग करना पड़ता है और उक्त समाज के दूसरे सदस्यों का भी ख्याल रखना पड़ता है। स्व-पर हित की दृष्टि से इन पारस्परिक

सम्बन्धों में व्यवस्था, सहकारिता, सहयोग एवं सह अस्तित्व अभीष्ट होते हैं। एतदर्थ कुछ नियमोपनियम बनाने पड़ते हैं, जो नैतिकता कहलाते हैं और जिनका पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिये वांछनीय ही नहीं, आवश्यक भी होता है। अनैतिकता का परिणाम अव्यवस्था, अराजकता और अशान्ति होते हैं। बहुधा स्वार्थपरता, महत्त्वाकांक्षा, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मनुष्य को नैतिक नियमों की अवहेलना करने के लिये प्रेरित करते हैं। ऐसी स्थिति में समाज भय, लोक भय, राजदण्ड का भय आदि उसकी उच्छृंखल प्रवृत्ति पर अंकुश का काम करते हैं। क्योंकि इन नैतिक नियमों को प्रचलित धर्म की भी स्वीकृति प्राप्त होती है, धर्मभय, ईश्वरीयकोप का भय या परलोक का भय भी उक्त नियमों के पालन करने में प्रेरक और सहायक होते हैं। जो धर्म को नहीं मानते वे सामाजिक या नागरिक जीवन की अनिवार्यता अथवा अपनी अन्तरात्मा ( कान्शेन्स ) से सदाचार की प्रेरणा लेते हैं।

वास्तव में नैतिक नियम यद्यपि वे वैयक्तिक संस्कारों एवं परिवेश से भी प्रभावित होते हैं, प्रायः एक निष्पाप, सरल हृदय, कर्तव्यचेता मनुष्य के सहज स्वभाव के अनुरूप होते हैं, और इसीलिये वे धर्म का अंग या व्यावहारिक रूप मान्य किये जाने लगे। उनके सम्यक् आचरण से मनुष्य का आत्मविकास, अथवा उसके व्यक्तित्व का विकास होता ही है। इस दृष्टि से थामसफुलर की यह उक्ति सत्य ही है कि 'सम्यक् जीवन ही एकमात्र धर्म है।' नैतिकता का आधार ही धर्म है। प्रत्येक धर्म हिंसा-झूठ-चोरी-कुशील-शोषण आदि पापों का निषेध करता है। धर्म तो मनुष्य में सद्गुणों का वपन एवं पोषण करता है, धर्म को आधार बनाकर ही पुण्याचरण किया जा सकता है। धर्म तो प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित उस अनन्त ऊर्जा की अनुभूति, उपलब्धि एवं अभिव्यक्ति का सर्वाधिक सशक्त साधन है, जो कि उसका जन्मसिद्ध अधिकार एवं निजी स्वभाव है और जो चरित्र निर्माण, समस्त अच्छाइयों और महानताओं के विकास तथा दूसरों को शान्ति प्रदान करने में प्रस्फुटित होती है। धर्म मात्र नैतिकता या सदाचरण नहीं है। वह तो आत्म-विकास की प्रक्रिया है, जीवनोन्नयन है, समग्र जीवन का दिव्यीकरण है, स्वस्वरूप का उद्घाटन एवं आविष्कार है, बाह्य एवं आभ्यन्तरिक उत्थान का साधक है और नितान्त वैयक्तिक है।

श्रमण तीर्थंकरों की अत्यन्त प्राचीन जैन परम्परा में 'धर्म' की जो परिभाषा—'वत्थुसुहाओ धम्मो' अर्थात् वस्तु स्वभाव का नाम धर्म है—दी गई है वह सर्वथा मौलिक है और धर्म तत्त्व के यथार्थ स्वरूप की द्योतक है। जो जिस चीज का सर्वथा परानपेक्ष निजी गुण है, वही उस चीज का धर्म है। आत्मा भी एक पदार्थ, तत्त्व या वस्तु है, और उसका जो परानपेक्ष स्वभाव है वही आत्म धर्म है। उक्त स्वरूप या स्वभाव की उपलब्धि का जो मार्ग या साधन है, वह व्यवहार धर्म है। सम्पूर्ण विश्व का विश्लेषण करने से उसके दो प्रधान उपादान प्राप्त होते हैं—जीव और अजीव। संसार में जितने भी जीव या प्राणी हैं, क्षुद्रातिक्षुद्र जीवाणुओं, कीटाणुओं, जीव-जन्तुओं से लेकर अत्यन्त विकसित मनुष्य पर्यन्त, उनमें से प्रत्येक की अपनी पृथक एवं स्वतन्त्र आत्मा है। ये समस्त आत्माएँ भौतिक एवं आत्मिक विकास की निम्नतम अवस्थाओं से लेकर चरमतम अवस्थाओं में स्थित हैं। अपनी मौलिक शक्तियों, क्षमताओं एवं स्वभाव की दृष्टि से वे सब समान हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न आत्माओं में उक्त शक्तियों, क्षमताओं और स्वाभाविक गुणों की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न है। यह अभिव्यक्ति सूक्ष्म निगोदिया एकेन्द्री जीव में निम्नतम है और सिद्ध भगवान अथवा ससार से मुक्त हुये परमात्म तत्त्व में अधिकतम या पूर्ण है। अजीव, जड़; अचेतन या पुद्गल नाम का जो दूसरा तत्त्व है, उसके साथ गाढ सम्बन्ध रहने से और उसके कारण होने वाली क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप जीवात्मा देहधारी होकर अपने स्वभाव से भटकर जन्म-मरणरूप संसरण करता रहता है। एक पुरातन कवि ने 'पृष्ठेव्याधः करधृतशरैः सारमेयै समेतः' आदि पद्य में संसारी जीव की इस दशा का सुन्दर चित्रण किया है। आत्मारूपी गन्धमणि को नाभि में धारण किए हुए परन्तु उसके अस्तित्व से अनभिज्ञ भव-विभ्रान्त जीव रूपी कस्तूरी मृग के पीछे काल रूपी कर व्याध बाण चढ़ाये तथा नाना रोगादि रूप शिकारी कुत्तों को साथ दौड़ रहा है, और वह मृग जन्म-मरण रूपी विषम कान्तार में दिग्भ्रष्ट-पथभ्रष्ट हो भटक रहा है- अभी त्राणदायक निर्गमन मार्ग प्राप्त नहीं हुआ।' एक उर्दू शायर ने कहा है—

हवाए नफस के ताबे हैं जिनके जिस्म ऐ अकबर।
उन्हीं की रूह रहती है बदन में मुजमहिल होकर॥

अर्थात् 'जो लोग विषय वासनाओं में फँसे हैं उनकी आत्मा देह में कैदी बनी घुटती रहती है।' इतना ही नहीं —

लज्जत है रूह को तने खाकी से मेल में।
फितरत ने मस्त कर रक्खा है कैदी को जेल में॥

'भौतिक शरीर के साथ एकत्व बुद्धि एव आसक्ति के कारण यह आत्मारूप कैदी इस भव रूपी बन्दीगृह मे भ्रमवश सुखमग्न रहता है।'

परन्तु —

नफस मे उलझा है अकबर जो अभी दिल्ली दूर है।
राह के ये खुशनुमा मंजर हैं, मंजिल दूर है॥

"जब तक विषय-कषाओं मे उलझा पड़ा हैं, भटकता ही रहेगा। मार्ग के लुभावने दृश्य भव भटकन में ही सहायक होते हैं, लक्ष्य तो दूर है।" अतएव जबतक रूह पर गफलत से हुई का धब्बा लगा रहेगा, आत्मा मोहनिद्रा से जागृत नहीं होगा, उसमे स्व-पर भेदविज्ञान प्रगट नहीं होगा, वह ऐसे ही भटकता रहेगा, मिथ्यात्वी अवस्था में ही बना रहेगा। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि वह, जैसा कि भगवान महावीर ने कहा है, स्वय से यह करना प्रारम्भ करदे—आत्म विजय के प्रयत्न मे जुट जाय। जब मनुष्य का युद्ध स्वय से प्रारम्भ होता है, तभी उसका मूल्य होता है।

अपने स्वरूप को भूले हुए, महाविष्ट, बहिर्मुखी, ससारग्रस्त व्यक्ति को ही मिथ्यादृष्टि या मिथ्यात्वी कहते हैं। जैन दर्शन मे अभव्य और मिथ्यात्वी वैसे ही अपशब्द हैं जैसे की ब्राह्मण धर्म मे नास्तिक अनार्य, विधर्मी और पापी, ईसाई मत मे इनफाइडेल, हेरेटिक, एथिस्ट आदि और इस्लाम मे काफिर जिम्मी आदि। प्रत्येक धर्म यह दावा करता है कि मनुष्य का कल्याण उस धर्म के पालन से हो सकता है और जो उस धर्म को नहीं मानता वह नास्तिक है, काफिर है, अधर्मी और पापी है, उसके इहलोक व परलोक दोनों नष्ट होगे। इसका अर्थ यह हुआ कि एक धर्म का बडे से बड़ा सन्त और धर्मात्मा अन्य सब धर्मों की दृष्टि मे अधर्मी और पापी ही है। अतएव संसार मे कोई व्यक्ति भी धर्मात्मा नहीं हो सकता आत्मोन्नयन नहीं कर सकता—सभी अधर्मी और पापी हैं?

जैनधर्म एक अत्यन्त उदार, वैज्ञानिक युक्तियुक्त, विवेकशील एवं विचारवान परम्परा है। तथापि व्यवहारों में प्रायः प्रत्येक नामधारी जैनी भी यही मानता, समझता और कहता है कि जैनों के अतिरिक्त अन्य सब मनुष्य मिथ्यात्वी एवं अधर्मी हैं।

सब तेरे सिवा काफिर, आखिर इसका मतलब क्या ?
सिर फिरादे इन्सान का, ऐसा खब्ते मजहब क्या ?

बहुतों की तो यह स्थिति है—

मुखालफीन को हम कह तो कह देते हैं काफिर।
मगर यह डरते हैं दिल में हमीं न काफिर हों॥

वस्तुतः जो लोग धर्म तत्त्व, धर्म के स्वरूप और रहस्य से अनभिज्ञ होते हैं और धर्म के स्वयंभूत ठेकेदार बन बैठते हैं, वे ही ऐसी अनुदार एवं विवेकहीन मनोवृत्ति का परिचय देते हैं। ऐसा कदाग्रह यह कठमुल्लापन जैनधर्म और दर्शन की प्रकृति के प्रतिकूल है। जैनदृष्टि तो इस विषय में सुस्पष्ट है और ऐसी विलक्षणताओं से सम्पन्न है जो अन्य किसी धार्मिक परम्परा में दृष्टि गोचर नहीं होती, यथा —

(१) जैन दर्शन आत्म तत्त्व की सत्ता को मानकर चलता है, और आत्म विकास की विभिन्न संभावनाओं एवं अवस्थाओं का सम्यक् निरुपण करता है।

(२) आत्म विकास का ॐ नमः मिथ्यात्व अवस्था में ही होता है। वह अबुद्धिपूर्वक और आकस्मिक भी हो सकता है, जब कर्म बन्धन के सहसा ढीला पड़ जाने से परिणामों में उज्ज्वलता या निर्मलता आ जाती है। बुद्धिपूर्वक तब होता है जब कोई मिथ्यात्वी आत्मा अपने स्वरूप के प्रति स्वतः या परोपदेश से सजग हो जाती है और स्वपुरुषार्थ द्वारा नैतिक सदाचरण, संयम, तप, त्याग का मार्ग अपनाती है। मिथ्यात्वी जीव ही आत्म विकास करते हुए जब सम्यग् दृष्टि को प्राप्त कर लेता है तो आत्मोन्नयन का मार्ग प्रशस्त एवं ऊर्ध्वगामी बन जाता है और अन्ततः परम प्राप्तव्य (परमात्मपद, मुक्ति या निर्वाण) की प्राप्ति में समाप्त होता है।

(३) मात्र जैन कुल में उत्पन्न होने या जैन धर्म अंगीकार कर लेने से कोई व्यक्ति सम्यक्त्वी नहीं बन जाता। यह सम्भव है कि समय विशेष या क्षेत्र विशेष में

समस्त तथोक्त जैन नामधारियों में एक भी सम्यग्दृष्टि न हो, भले ही वह श्रावक धर्म का व्यावहारिक पालन करता हो, व्रत भी ग्रहण किये हों अथवा गृहत्यागी साधु या साध्वी भी क्यों न हो।

(४) यह भी संभव है कि एक ऐसा व्यक्ति जिसने जैन धर्म का कभी नाम भी नही सुना, जैन शास्त्रों को पढ़ा या जाना भी नहीं, जैन साधना पद्धति का भी जिसे कोई परिचय नहीं, फिर भी वह नैतिक सदाचरण द्वारा एक बड़ी सीमा तक आत्म विकास कर ले तथा आत्म परिणामों की उज्ज्वलता के कारण सम्यक्त्व भी प्राप्त कर ले।

(५) एक द्रव्यलिंगी जैन मुनि, जो प्रायः पूर्ण श्रुत ज्ञानी हो सकता है, मुनि धर्म का भी निर्दोष पालन करता है, अपने आचरण एवं उपदेश से अन्य अनेकों को सन्मार्ग पर लगा देता है, अत्यन्त मन्द कषायी होता है, तथापि सम्यक्त्वी विहीन होने से मुक्ति नहीं पा सकता—अपनी तप-त्याग-संयम साधना के फलस्वरूप उच्च देवलोक तक ही पहुँच पाता है। उसी प्रकार किसी भी जैनेतर मार्ग की सम्यक् साधना करने वाला धर्मात्मा, भक्त, साधु, सन्त, परमहंस या फकीर भी आत्म विकास करके द्रव्यलिंगी जैन मुनि की भाँति उच्च देवलोक प्राप्त कर सकता है। और यदि संयोग से सम्यक्त्व प्राप्त कर ले तो कालान्तर में मोक्ष भी पा सकता है।

इस प्रकार, जैन धर्म में किसी प्रकार की धार्मिक ठेकेदारी या एकाधिकार नहीं है। यह तो आत्म विकास की सम्भावनाओं, रूपों, प्रकारों, सीमाओं आदि का सम्यक् निरूपण करके उसके लिये सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय मार्ग का निर्देश कर देता है और घोषित करता है कि कोई भी प्राणी, यहाँ तक कि पशु-पक्षी या नारकी जीव भी कहीं हो, किसी परिवेश या परिस्थितियों में हो, उपयुक्त संयोगों एवं निमित्तों के मिलने अथवा स्वपुरुषार्थ द्वारा मिलाने से अपना आत्म-विकास कर सकता है। उक्त आध्यात्मिक विकास के फलस्वरूप यह भी सम्भावना है कि वह मिथ्यात्व भाव में से निकल कर सम्यक्त्व भाव में आ जाये, और तब उसी जन्म अथवा निकट जन्मान्तरों में मुक्ति, निर्वाण या सिद्धत्व अर्थात् आत्मिक विकास की चरमावस्था प्राप्त कर

ले । विधिवत जैन मार्ग का सम्यक् अवलम्बन करने से से यह संभावना अधिक बलवती हो जाती है । किन्तु यह समझना भूल होगी कि सभी जैनी सम्यक्त्वी होते हैं, और सभी जैनेतर मिथ्यात्वी होते हैं ।

प्रस्तुत पुस्तक मे पंडितवर्य श्री श्रीचन्द चोरड़िया ने 'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' हो सकता है और कब-कब, कहाँ-कहाँ, किस प्रकार, किन-किन दिशाओं मे और किस सीमा तक हो सकता है, इस प्रश्न का सैद्धान्तिक दृष्टि से सप्रमाण विस्तृत विवेचन किया है जिसके लिये वह बधाई के पात्र हैं । चोरड़ियाजी आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति पर निर्मित लेश्याकोश, क्रियाकोश आदि कोश ग्रन्थों के संयोजक एवं निर्माता विद्वद्वर्य स्व० मोहनलालजी बाँठियाँ के सहयोगी रहे हैं । उन्हीं के साथ १९७२ के पर्यूषण में अपने कलकत्ता प्रवास के समय हमारी उनसे भेंट हुई थी । उस समय उन्होंने यह पुस्तक लिखना प्रारम्भ कर दी थी और इच्छा व्यक्त की थी कि हम उसका आमुख लिखें । अब जब पुस्तक का मुद्रण आरम्भ हो गया तो उन्होंने पुनः आग्रह किया । अतएव इस आमुख के रूप मे विवक्षित प्रश्न पर अपने भी कुछ विचार प्रगट करने का अवसर मिला, जिसके लिये हम श्री चोरड़ियाजी तथा मोहनलालजी बैद, मंत्री-जैन दर्शन समिति और श्री मांगीलाल लूणियाजी उप-मन्त्री—जैन दर्शन समिति कलकत्ता के आभारी हैं यह पुस्तक जैन पण्डितों को सोचने पर विवश करेगी, कतिपय प्रचलित भ्रान्तियों के निरसन में भी सहायक होगी और प्रबुद्ध जैनेतरों के समक्ष जैन दर्शन की सार्वभौमिकता, सार्वकालीनता, वैज्ञानिकता एवं युक्तिमत्ता को उजागर करेगी ।

ज्योति निकुञ्ज
चारबाग लखनऊ-१ —ज्योतिप्रसाद जैन
दिनांक १२ जून, १९७७ ई०

# विषय-सूची

## प्रथम अध्याय

### १ : मिथ्यात्वी—एक प्रश्न

मिथ्यात्वी के आत्म विकास होता है या नहीं, यदि होता है तो कैसे होता है ? प्रश्न टेढ़ा है। इस प्रश्न के पहले हमें यह विचार करना है कि मिथ्यात्वी के आत्म उज्ज्वलता पायी जाती है या नहीं ? विश्व में सिद्ध और संसारी के भेद से जीव के दो विभाग किये जा सकते हैं। सिद्ध जीव तो कर्मों से सर्वथा मुक्त होते हैं, अतः उनमे तो आत्मा की उज्ज्वलता का पूर्ण विकास पाया जाता है। परस्पर सिद्धों की आत्म-उज्ज्वलता मे किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं होता है। अर्थात् सर्व सिद्धों के आत्म-उज्ज्वलता पूर्ण रूप से विकासमान होती है, चूंकि उनके किसी भी कर्म का आवरण रूप परदा नहीं होता है, परन्तु संसारी जीव कर्मों के आवरण से ढके हुए होते हैं। संसारिक जीवों के परस्पर गुणों के विकास मे, आत्म उज्ज्वलता में तारतम्य रहता है। इसी तारतम्य को लेकर ही भगवान महावीर ने चतुर्दश गुण-स्थानों का निरूपण करना आवश्यक समझा। जिसमे मिथ्यात्वी को प्रथम गुणस्थान में रखा गया। यदि मिथ्यात्वी मे किंचित् भी आत्म-उज्ज्वलता नहीं मिलती तो मिथ्यात्वी को प्रथम गुणस्थान मे ही नहीं कहा जाता, क्योंकि गुणस्थान का निरूपण जीवों के गुणों अर्थात् आत्म-उज्ज्वलता को लेकर ही होता है।[1]

सामान्य व विशेष की दृष्टि से गुणों के दो विभाग किये गये हैं। सामान्य गुण अर्थात् चेतना गुण सब जीवों मे समान रूप से मिलता है, यहाँ तक कि निगोद के जीवों में[2] व सिद्धों के जीवों मे परस्पर सामान्य गुण—चेतना गुण मे किंचित् भी फर्क नहीं होता है। परन्तु विशेष गुण ( ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, उपयोग, सुख-दुःख आदि ) परस्पर सिद्धों में समान रूप से होता है,

---

१—कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पन्नत्ता—
—समवा० सम १४।५

२—साधारण वनस्पति विशेष—सूक्ष्म बादर दोनों प्रकार के निगोद होते हैं।

परन्तु सांसारिक जीव, जो अपने कृत कर्मो के आवरण के कारण बँधे हुए हैं अतः उनमे परस्पर विशेष गुणों मे तारतम्य रहता है, परन्तु विशेष गुण सब जीवों मे मिलेगा। जीव का लक्षण ही उपयोग बताया गया है जैसा कि भगवती सूत्र मे कहा गया है—

( जीवत्थिकाए ) गुणओ उवओग गुणे ।

भग० २ । १० । १२८

अर्थात् षट् द्रव्यों मे जीवास्तिकाय गुण की अपेक्षा उपयोग गुण रूप है। चेतनामय व्यापार को उपयोग कहते हैं। 'उपयोग' शब्द ही आत्मा की उज्ज्वलता का द्योतक है क्योंकि उपयोग ( ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग ) की प्राप्ति बिना कर्मो के क्षयोपशम तथा क्षायिक से नहीं होती है। वृद्धाचार्यों ने ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम, क्षायिक से उपयोग का व्यापार स्वीकृत किया है। प्रत्येक जीव मे यहाँ तक कि सूक्ष्मनिगोद मे भी आत्मा की आंशिक उज्ज्वलता अवश्यमेव मिलेगी, चाहे मात्रा मे कम मिले या अधिक, परन्तु मिलेगी अवश्यमेव। यों तो सूक्ष्म निगोद मे भी आत्म उज्ज्वलता में परस्पर तारतम्य रहता है। जैन ग्रन्थों के अध्ययन करने से यह भी ज्ञात हुआ कि सूक्ष्मनिगोद का जीव, अपने आयुष्य को समाप्त कर प्रत्येक वनस्पतिकायरूप मे उत्पन्न हुआ तत्पश्चात् वहाँ से अपने आयुष्य को समाप्त कर मनुष्य रूप में उत्पन्न हुआ। उस मनुष्यभव में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गया।[1]

## २ : मिथ्यात्वी के आत्म उज्ज्वलता का सद्भाव

यदि जीवों मे आत्मा की आंशिक उज्ज्वलता नहीं मिलती तो जीव-अजीव रूप में परिणत हो जाता। अस्तु गुणस्थान का निरूपण ही नहीं होता। सूक्ष्म निगोद में भी प्रथम गुणस्थान पाया जाता है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए नंदी सूत्र मे देवर्द्धिगणि ने कहा है—

"सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेण जीवो अजीवत्तं पाविज्जा सुट्ठुवि मेह समदए होइ पभाचंदसूराणं" ॥७७॥

---

१—देखें—प्रज्ञापना मलयगिरि टीका

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्यात्वी के भी आत्मा की उज्ज्वलता नहीं होती तो उन्हें प्रथम गुणस्थान मे भी नहीं रखा जाता। जयाचार्य ने भ्रमविध्वंसन के प्रथम अधिकार में कहा है कि गुण की अपेक्षा गुण-स्थान का प्रतिपादन किया गया है जिसमें मिथ्यात्वी को प्रथम गुणस्थान में सम्मिलित किया गया है। आचार्य भिक्षु ने नव पदार्थ की चोपाई मे मिथ्यात्वी के विषय में निर्जरा पदार्थ की ढाल मे कहा है—

'आठकर्मों में च्यार घनघातिया।
त्यांसु चेतन गुणां रीहुवै घात हो॥
ते अंश मात्र क्षयोपशम रहै सदा।
तिण सूं जीव उजलो रहै अंश मातहो ॥५॥
जिम जिम कर्म क्षयोपशम हुवै।
तिम तिम जीव उजलो रहै आम हो।
जीव उजलो हुओ ते निर्जरा ×× ॥८॥
देश थकी उजलो हुवै।
तिण में निर्जरा कही भगवान॥
ज्ञानावरणी री पाँच प्रकृति मभै।
दोय क्षयोपशम रहै सदीव हो॥
तिण सू दो अज्ञान रहै सदा।
अंश मात्र उजलो रहै जीव हो ॥११॥
मिथ्यातीरै जघन्य दोय अज्ञान छै।
उत्कृष्टा तीन अज्ञान हो॥
देश उणो दस पूर्व भणै।
इतलो उत्कृष्टो क्षयोपशम अज्ञान हो ॥१२॥
—ढाल १

अर्थात् आठ कर्मों मे चार (ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीय-अन्तराय) घनघाती कर्म है। इन कर्मो से चेतन जीव के स्वाभाविक गुणों की घात होती है। परन्तु इन कर्मों का सब समय कुछ-कुछ क्षयोपशम रहता

है जिस से जीव कुछ अंश रूप में उज्ज्वल रहता है। जैसे-जैसे क्षयोपशम होता है वैसे-वैसे जीव उत्तरोत्तर उज्ज्वल होता जाता है। इस प्रकार जीव का उज्ज्वल होना निर्जरा है। जीव के देश रूप उज्ज्वल होने को भगवान् ने निर्जरा कहा है। ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृतियों में से दो का सदा क्षयोपशम रहता है, जिससे मिथ्यात्वी के दो अज्ञान सदा रहते हैं और जीव सदा अंश मात्र उज्ज्वल रहता है। मिथ्यात्वी के कम से कम दो अज्ञान ( मति-श्रुत अज्ञान ) और अधिक से अधिक तीन अज्ञान ( मति-श्रुत-विभंग अज्ञान ) रहते हैं। उत्कृष्टतः कुछ कम दस पूर्व के ज्ञान को भन सकता है। इतना उत्कृष्ट क्षयोपशम अज्ञान उसको होता है।

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्यात्वी के भी आत्म-उज्ज्वलता मिलती है।

आगम में कहा है कि सम्यक्त्वी जीव भी अनेक गुणों को प्राप्त होकर भी सुसाधुओं के संग से रहित होने से दुर्दर की तरह मिथ्यात्व भाव को प्राप्त होता है अतः मिथ्यात्वी साधुओं की संगति मे रहकर नवीन ज्ञान सीखने का प्रयत्न करे। ज्ञाता सूत्र मे कहा है—

"संपन्नगुणोवि जओ, सुसाहु-संसग्गवज्जिओ पायं।
पावइ गुणपरिहाणिं, दद्दुरजीवोव्व मणियारो॥
—ज्ञातासूत्र श्रु १। अ १३। सू ४५

वस्तुतः मिथ्यादर्शन—दर्शन लब्धि का एक भेद है[1] दर्शनलब्धि के तीन भेद है—सम्यग्दर्शनलब्धि, मिथ्यादर्शनलब्धि तथा सम्यग्मिथ्यादर्शनलब्धि।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से अदेव मे देव बुद्धि, अधर्म मे धर्म बुद्धि और अगुरु ( कुगुरु ) में गुरु बुद्धि रूप आत्मा के विपरीत श्रद्धान को 'मिथ्या दर्शन लब्धि, कहते हैं। अर्थात् मिथ्यात्व के अशुद्ध पुद्गल के वेदना से उत्पन्न विपर्यास रूप जीव परिणाम को मिथ्यादर्शन लब्धि कहते हैं।

## ३ : मिथ्यात्वी की परिभाषा

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से अदेव में देव बुद्धि और अधर्म मे धर्म

---

१—भगवती श ८। उ २। प्र ६२

बुद्धि आदि रूप आत्मा के विपरीत श्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहते हैं। प्रज्ञापना के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने कहा है—

"मिथ्या—विपर्यस्ता दृष्टिः — जीवाजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितहृत्पुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिस्तु स मिथ्यादृष्टिः।"

"ननु मिथ्यादृष्टिरपि कश्चित् भक्ष्यं भक्ष्यतया जानाति पेयं पेयतया मनुष्यं मनुष्यतया पशु पशुतया ततः कथम् मिथ्यादृष्टिः? उच्यते, भगवति सर्वज्ञे तस्य प्रत्यायाभावात्, इहहि भगवदर्हत्प्रणीतं सकलमपि प्रवचनार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तद्गतमेकमप्यक्षरं न रोचयति तदानीमप्येष मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते, तस्य भगवति सर्वज्ञो प्रत्यायनाशतः।"

प्रज्ञापना सूत्र पद १८।१३४४ टीका

अर्थात् जीव, अजीव आदि तत्वों में अयथार्थ प्रतीति अर्थात् मिथ्या (विपरीत) विश्वास को मिथ्यादृष्टि कहते हैं।[१] जिस प्रकार किसी व्यक्ति विशेष को शुद्ध वस्तु में पीत का बोध होता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को जीव, अजीव आदि तत्वों में विपरीत बोध होता है। अब प्रश्न उठता है कि कोई मिथ्यादृष्टि जीव भी भक्ष को भक्ष रूप में जानता है, पेय को पेय रूप में, मनुष्य को मनुष्य रूप में तथा पशु को पशु रूप में जानता है तब वह मिथ्यादृष्टि कैसे कहा जायेगा। इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है—"सर्वज्ञ भगवान में उसका विश्वास नहीं है। इस प्रकार भी यदि वह अर्हत् प्रणीत सभी प्रवचनार्थ को सम्यग् समझता है, किन्तु उसमें से एक अक्षर भी उसे अच्छा नहीं लगता है तो वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि उसका सर्वज्ञ भगवान में विश्वास नहीं है।[२]

स्थानांग सूत्र में (दसवां स्थान) मिथ्यात्व के निम्नलिखित दस बोल कहे गये हैं—निम्नोक्त दस बोलों को विपरीत श्रद्धने वाले मिथ्यात्वी कहलाते हैं।

---

१—मिथ्यात्व असत्त्वश्रद्धान तदपि जीवव्यापार एवेति।

—ठाण० २।१।६०। टीका

२—तत्र मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिर्जीवाऽजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितधत्तूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिवत्, स मिथ्यादृष्टिः गुणा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानं पुनरेतेषां शुद्ध्यशुद्धि-

१—धर्म को अधर्म समझने वाला मिथ्यात्वी
२—अधर्म को धर्म समझने वाला मिथ्यात्वी
३—साधु को असाधु समझने वाला मिथ्यात्वी
४—असाधु को साधु समझने वाला मिथ्यात्वी
५—मार्ग को कुमार्ग समझने वाला मिथ्यात्वी
६—कुमार्ग को मार्ग समझने वाला मिथ्यात्वी
७—जीवको अजीव समझने वाला मिथ्यात्वी
८—अजीव को जीव समझने वाला मिथ्यात्वी
९—मुक्त को अमुक्त समझने वाला मिथ्यात्वी
१०—अमुक्त को मुक्त समझने वाला मिथ्यात्वी

उपर्युक्त कहे गये दस बोलों में से एक अथवा दो यावत् दस बोलों पर विपरीत श्रद्धा रखने वाले को मिथ्यात्वी कहा जाता है। मिथ्यात्वी का दूसरा नाम मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि जीव है. यहाँ पर मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य एकार्थवाची नाम है। दृष्टि शब्द का अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। जिन जीवों के विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञान रूप मिथ्यात्व कर्म के उदय से उत्पन्न हुई मिथ्याकर दृष्टि होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते

---

प्रकर्षापकर्षकृत . स्वरूपभेद, तिष्टन्त्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा गुणानां स्थानंगुणस्थान, मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं मिथ्यादृष्टि गुणस्थानं, ननु यस्य भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययनाशात्, उक्तं च—

सूत्रोक्त स्यैकस्याप्य रोचनादक्षरस्य भवति नरो मिथ्यादृष्टि', सूत्रं हि यदि तस्य न प्रमाणं जिनाभिहित, किं पुनः शेषोभगवदर्हदभिहित यथावज्जीवाऽजीवादिवस्तुतत्वप्रतिपत्तिनिर्णयः? ननु सकलप्रवचनार्थाऽभिरोचनात्तद्गतकतिपदार्थानां चाऽरोचनादेषन्यायत सम्यग्मिथ्यादृष्टिरेव भवितुमर्हतिकथं मिथ्यादृष्टिः? तदऽसत्, वस्तुतत्वाऽपरिज्ञानात्। ××× । यदापुनरेकस्मिन्नपि वस्तुनिपर्यायेवाएकांततो विप्रतिपद्यते, तदा स मिथ्यादृष्टिरेवेत्यदोष.।

पंचसंग्रह भाग १। पृ० ४१ से ४२

हैं। अथवा मिथ्या शब्द का अर्थ वितथ और दृष्टि शब्द का अर्थ रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय है। इसलिये जिन जीवों की रुचि असत्य में होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते है।[1] सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमीचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार (जीवकांड) में कहा है—

"मिच्छत्तं वेयंतो जीवो विवरीय-दंसणो होइ।
ण य धम्मं रोचेदिहु महुर खुरसजहाजरिदो ॥१०६॥
त मिच्छत्तं जहमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं।
संसइदमभिग्गहिय अणभिग्गहिदतिततिविह ॥१०७॥

अर्थात् मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न होने वाले मिथ्यात्व भाव का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धा वाला होता है। जिस प्रकार पित्तज्वर से युक्त जीव को मधुरस भी अच्छा मालूम नहीं होता है उसी प्रकार उसे यथार्थ धर्म अच्छा मालूम नहीं देता है। जो मिथ्यात्वकर्म के उदय से तत्त्वार्थ के विषय में अश्रद्धान उत्पन्न होता है[2] अथवा विपरीत श्रद्धान होता है उसको मिथ्यात्व कहते हैं। उसके संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत ये तीन भेद हैं।

विपरीत अभिनिवेश दो प्रकार का होता है—

अनंतानुबंधीजनित और मिथ्यात्व जनित। मिथ्यात्वी में उक्त दोनों प्रकार के विपरीताभिनिवेश पाया जाता है। मिथ्यात्वी का प्रथम गुणस्थान है। मिथ्या—विपरीत दर्शनको मिथ्यादर्शन कहते हैं। मिथ्यात्वकर्म के उदय से आप्त, आगम और पदार्थों में अश्रद्धान उत्पन्न होती है।

तत्त्वतः—तत्त्व अथवा तत्त्वार्थ पर मिथ्या श्रद्धावान् को मिथ्यादृष्टि कहते हैं जीव विपरीत दृष्टिसे मिथ्यादृष्टि होता है किन्तु उसमे जो अविपरीत दृष्टि होती है, उसकी अपेक्षा से नहीं। जैसे कि मान लीजिये कोई मिथ्यात्वी नव बोलों

---

१—अथवा मिथ्या वितथ, तत्र दृष्टिः रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्यादृष्टयः

—षट्खं० १,१। सू ९। टीका। पु० १। पु० १६२

२—मिथ्यात्व तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणम्—प्रशमरतिप्रकरण श्लो ५६

को तो सम्यग् श्रद्धता है परन्तु किसी एक बोल को विपरीत रूप से श्रद्धता है तो वह जो एक बोल को विपरीत श्रद्धता है, उस अपेक्षा से मिथ्यात्वी ( दर्शन मोहनीय कर्मका उदय ) —मिथ्यादृष्टि कहा जायगा, परन्तु सब बोल की अपेक्षा से नहीं। मिथ्यात्वी के जितने तत्त्वों के प्रति अविपरीत श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होती है। मिथ्यादृष्टि को अनुयोगद्वार सूत्र मे तथा नव पदार्थ की चौपाई मे क्षयोपशम भाव मे भी माना गया है।

( क्षयोपसमनिप्फन्ने ) मिच्छादंसणलद्धी।

—अनुयोगद्वार सूत्र

श्री मज्जयाचार्य ने दर्शन मोहनीय कर्मका क्षयोपशम पहले गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक स्वीकृत किया है। यद्यपि परस्पर मिथ्यात्वियों मे दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम मे तारतम्य रहता है। चूकि कोई मिथ्यात्वी एक बोल को, कोई दो बोल को यावत् नव बोल पर सम्यग् श्रद्धान करता है। परन्तु दर्शन मोहनीय कर्म का क्षयोपशम सब मिथ्यात्वी मे माना गया है। यहाँ तक की निगोद के जीवों मे दर्शन मोहनीय कर्म का आंशिक क्षयोपशम माना गया है[1] उस अविपरीत दृष्टि को सम्यग्दृष्टि का एक अंश माना गया है।

अज्ञान भाव भी विपाक प्रत्ययिक होता है, क्योंकि वह मिथ्यात्व के उदय से अथवा ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होता है। मिथ्यात्व भी विपाकप्रत्ययिक होता है क्योंकि वह मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार कर्मोदय-प्रत्ययिक उदयविपाकनिष्पन्न होते हैं।[2] ठाणांग के टीकाकार ने कहा है कि मिथ्या—विपरीतदृष्टि को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। पदार्थ की समूह की श्रद्धा-रहित दृष्टि-दर्शन-श्रद्धान जिसको होती है उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मोहनीय ( मिथ्यात्व मोहनीय ) कर्म के उदय से जिन प्रवचन मे अरुचि होती है। कहा है कि सूत्रोक्त एक अक्षर के प्रति भी रुचि न होने से मिथ्यादृष्टि होती है।

---

१—नंदी सूत्र

२—मिथ्यादर्शन—अतत्त्वार्थश्रद्धानमिति—सम० सम १। टीका

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से जीवादि तत्त्वों में अश्रद्धान होना मिथ्यात्व है अर्थात् जीवादि तत्त्वों में विपरीत श्रद्धा के होने को मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्वी के मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय प्रतिक्षण रहता है। स्थानांग सूत्र के टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि ने कहा है—

"शुद्धाशुद्धमिश्रपुंजत्रयरूपं मिथ्यात्व-मोहनीयं, तथाविधदर्शन-हेतुत्वादिति"

—स्थानांग १।३।११२

अर्थात् शुद्ध, अशुद्ध, शुद्धाशुद्ध तीन पुंजरूप मिथ्यात्व मोहनीय होता है क्योंकि तथाविध दर्शन मोहनीय कर्म का हेतु है। कषाय पाहुड में कहा है—

मिच्छाइट्ठीणियमा उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं।

कषापा० भाग १२। गा ५५। पृ० ३२२

अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव नियम से जिनेश्वरदेव के प्रवचन का श्रद्धान नहीं करता है तथा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद् भूत अर्थ का श्रद्धान करता है। कहा है—

"विपरीत दृष्ट्यपेक्षया एव जीवो मिथ्यादृष्टिः स्यात् न तु अवशिष्टाऽविपरीत दृष्ट्यपेक्षया।"

—जैनसिद्धांत दीपिका प्र० ८।३

अर्थात् जीव विपरीत दृष्टि की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि होता है किन्तु उसमे जो अविपरीत दृष्टि होती है उसकी अपेक्षा से नहीं।

व्यक्ति-प्रधान परिभाषा मे जिस व्यक्ति की दृष्टि मिथ्या है, उस व्यक्ति को मिथ्यादृष्टि कहा है। गुण प्रधान परिभाषा मे मिथ्यात्वी की दृष्टि को मिथ्यादृष्टि कहा गया है। मनोनुशासनम् मे युगप्रधान आचार्य तुलसी ने मन के छह प्रकारोंमे एक प्रकार 'मूढ' कहा है।[1] जो मन दृष्टि मोह (मिथ्यादृष्टि) तथा चारित्रमोह (मिथ्या आचार) से परिव्याप्त होता है, उसे मूढ मन कहा है।[2]

१—मूढ विक्षिप्त यातायातश्लिष्ट सुलीन निरुद्धभेदाद् मनः षोढा।
—मनोनुशासनम् प्र० २। सू० १

२—मनोनुशासनम् प्र० २। सू० २

सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के बीच की अवस्था सम्यग्मिथ्यादर्शन (तीसरा गुणस्थान) है। मिश्रप्रकृति (शुद्ध-अशुद्ध) की उदीयमान अवस्था में सम्यग्मिथ्यादर्शन (मिश्रमिथ्यात्व-सम्यक्त्व) की उपलब्धि होती है। इसमे मिथ्यात्व का मन्द विपाकोदय रहता है। इसलिए यह दर्शन दोनों (सम्यग् दर्शन और मिथ्यादर्शन) के बीच में होते हुए भी मिथ्यात्व के निकट है और मिथ्यात्व की क्रिया उसमें लगती है। इस तीसरे गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

इस गुणस्थान से या तो प्रथम गुणस्थान—मिथ्यात्व प्राप्त करता है या सम्यक्त्व (चौथा, पाँचवां, सातवां गुणस्थान) प्राप्त करता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव नियमतः शुक्लपाक्षिकभव्य होते हैं। कतिपय दार्शनिक इस गुणस्थान मे अनंतानुबंधी चतुष्क (क्रोध-मान-माया-लोभ) का अनुदय मानते हैं। गोम्मटसार (जीवकांड) मे कहा है—

सो संजम ण गिण्हदि देससजम वा ण बधदे आउं
सम्म वा मिच्छं वा पडिवज्जियमरदिणियमेण ॥२३॥

अर्थात् सम्यग्-मिथ्यादर्शन मे न देशसयम ग्रहण होता है, न आयुष्य का बधन होता है और न मृत्यु भी होती है।

विपरीत, एकांत, सशय, विनय और अज्ञान—इन पांच लक्षणों के द्वारा भी मिथ्यादर्शन की पहचान होती है। मिथ्यादर्शनी अपने उक्त गुणों के कारण विपरीतग्राही होता है।

## ४ : मिथ्यात्व के भेद-उपभेद

मिथ्यात्व के आभिग्रहिक आदि पाँच भेद हैं।

पंचसग्रह मे चन्द्रर्षि महत्तर ने कहा है—

आभिग्गहियमणाभि—ग्गहं च अभिनिवेसियंचेव।
संसइयमणाभोगं मिच्छत्तं पंचहा होइ।

—पंचसंग्रह भाग २। गा० २

टीका—मलयगिरि—मिथ्यात्वं तत्त्वार्थाश्रद्धानरूपं पंचप्रकारं भवति, तद्यथा—आभिग्रहिकमनाभिग्रहिकमाभिनिवेशिकं सांशयिक-

मनाभोगमिति, तत्र अभिग्रहेण इदमेव दर्शन शोभनं नान्यदित्येवंरूपेण कुदर्शनविषयेण निर्वृत्तमाभिग्रहिकं, यद्वशाद्—कोटिकादिकुदर्शनामन्यतम कुदर्शन ग्रहणाति। तद्विपरीतमनभिग्रहं, न विद्यते यथोक्तरूपोऽभिग्रहो यत्र तदनभिग्रहं, यद्वशात्सर्वाण्यपि दर्शनानि शोभनानीत्येवमिषन्माध्यस्थ्यमवलंबते, तथा अभिनिवेशेषेन निर्वृत्तमाभिनिवेशिक, यथा गोष्ठामाहिलादीनां सांशयिकं, यद्वशाद्भगवदर्हदुपदिष्टेष्वपि जीवादि तत्त्वेषु संशय उपजायते, यथा न जाने किमिद भगवदुक्त —धर्मास्तिकायादि सत्यमुतान्यथेति, तथा न विद्यते आभोगः परिभावन यत्र तदनाभोग, तच्चैकेंद्रियादीनामिति।

अर्थात् मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं, यथा—आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोगिक।

१—आभिग्रहिक मिथ्यात्व—तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही पक्षपातपूर्वक एक सिद्धांत का आग्रह करना और अन्य पक्ष का खण्डन करना—आभिग्रहिक-मिथ्यात्व है।

२—अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व—गुण और दोष की परीक्षा किये बिना ही सब पक्षों को बराबर समझना-अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

३—आभिनिवेशिक मिथ्यात्व—अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी उसकी स्थापना के लिए दुरभिनिवेश ( दुराग्रह-हठ ) करने को आभिनिवेशिक मिथ्यात्व कहते हैं।

४—सांशयिक मिथ्यात्व—इस स्वरूप वाला देव होगा या अन्य स्वरूप का ? इसी तरह गुरु और धर्म के विषय मे सन्देहशील बने रहने को सांशयिक मिथ्यात्व कहते हैं।

५—अनाभोगिक मिथ्यात्व—विचार शून्य एकेन्द्रियादि तथा विशेष ज्ञान-विकल जीव को जो मिथ्यात्व होता है उसे अनाभोगिक मिथ्यात्व कहते हैं।

संक्षेपतः स्थानांग सूत्र मे मिथ्यादर्शन के दो भेद किये गये हैं—

मिच्छादंसणे दुविहे पन्नत्ते, तजहा—अभिग्गहियमिच्छादंसणे चेव, अणभिग्गहियमिच्छादंसणेचेव। अभिग्गहियमिच्छादंसणे दुविहे

पन्नत्ते, तजहा—सपज्जवसिते चेव, अपज्जवसिते चेव, एवमणभिगहियमिच्छादसणेऽवि।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ८३ से ८५

टीका—'मिच्छादसणे' इत्यादि, अभिग्रहः--कुमतपरिग्रहः स यत्रास्ति तदाभिग्रहिक तद् विपरीतम्—अनभिग्रहिकमिति। 'अभिग्गहिए' इत्यादि, अभिग्रहिकमिथ्यादर्शन सपर्यवसितं—सपर्यवसान सम्यक्त्वप्राप्तौ, अपर्यवसितमभव्यस्य सम्यक्त्वाप्राप्तेः, तच्च मिथ्यत्वमात्रमप्यतीतकालनयानुवृत्त्याऽऽभिग्रहिकमिति व्यपदिश्यते, अनभिग्रहिक भव्यस्यसपर्यवसितमितरस्यापर्यवसितमिति।"

अर्थात् मिथ्यादर्शन के दो भेद हैं—यथा—

(१) आभिग्रहिक—कुमत के स्वीकार करने को आभिग्रहिक मिथ्यादर्शन कहते हैं तथा (२) अनाभिग्रहिक—अज्ञान रूप मिथ्यात्व को अनाभिग्रहिक मिथ्यादर्शन कहते हैं। दोनों प्रकार के मिथ्यादर्शन के दो-दो भेद हैं—(१) सपर्यवसित तथा (२) अपर्यवसित।

अपर्यवसितमिथ्यात्व—अभव्यसिद्धिक के होता है क्योंकि वे कभी भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करेंगे तथा सपर्यवसित मिथ्यात्व भव्यसिद्धिक के होता है क्योंकि वे सम्यक्त्व प्राप्त कर वापस जब मिथ्यात्व को प्राप्त करते हैं तब उनका मिथ्यादर्शन सपर्यवसित कहा जाता है। अतः यह प्रमाणित हो जाता है कि मिथ्यात्वी अभव्यसिद्धिक भी होते हैं तथा भव्यसिद्धिक भी।

अस्तु मिथ्यात्व के आधार पर मिथ्यात्वी के नामकरण भी वैसे ही हो जाते हैं। कषायपाहुड में कहा है—

'मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदसणो होइ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो।
तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाण।
ससइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं ति तं तिविहं।

—कषायपा० भाग १२। गा १०८। टीका

अर्थात् मिथ्यात्व का अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धान वाला है। जैसे ज्वर से पीड़ित मनुष्य को मधुर रस नहीं रुचता है वैसे ही उसे उत्पन्न

धर्म नहीं रुचता है। जो जीवादि नौ पदार्थों का अश्रद्धान है वह मिथ्यात्व है—सांशयिक, अभिग्रहित और अनभिग्रहित—इस प्रकार वह तीन प्रकार का है—

जीवादि नौ पदार्थ है या नहीं इत्यादि रूप से जिसका श्रद्धान दोलायमान हो रहा है, वह सांशयिक मिथ्यादृष्टि जीव है। जो कुमार्गियों के द्वारा उपदेशित पदार्थों को यथार्थ मानकर उसकी उस रूप में श्रद्धा करता है वह अभिग्रहीत मिथ्यादृष्टि जीव है और जो उपदेश के बिना ही विपरीत अर्थ की श्रद्धान करता आ रहा है वह अनभिग्रहीत मिथ्यादृष्टि जीव है।

स्थानांग सूत्र मे कहा है—

तिविधे मिच्छत्ते पन्नत्ते, तंजहा—अकिरिता, अविणते, अण्णाणे।

—ठाण० स्था ३। उ ३।सूत्र ४०३

अर्थात् मिथ्यात्व के तीन भेद होते हैं—यथा—

(१) अक्रिया—जैसे अशील को दुःशील कहा जाता है उसी प्रकार अक्रिया अर्थात् मिथ्यात्व से दूषित मोक्षसाधक अनुष्ठान को दुष्टक्रिया कहा जाता है।

(२) मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। देशादि ज्ञान भी मिथ्यात्व विशिष्ट अज्ञान ही है।

(३) अक्रिया की तरह मिथ्यादृष्टि के विनय को भी अविनय कहते हैं ठाणांग के टीकाकर ने कहा है कि "विशिष्टनय को विनय कहते हैं अर्थात प्रतिपत्ति-भक्तिविशेष। इसके विपरीत अविनय जानना चाहिए। आराध्य और आराध्य सम्मत रूप से इतर-लक्षणविशेष अपेक्षा रहितपन-अनियत विषय से अविनय जानना चाहिए।[1]

---

(१) ततोऽत्र मिथ्यात्वं क्रियादीनामसम्यग्रूपता मिथ्यादर्शनानाभोगादिजनितो विपर्यासो दुष्टत्वमशोभनत्वमिति भावः। 'अकिरिय' त्ति नःञिहदु शब्दार्थो यथा अशीला दुःशीलेत्यर्थ, ततश्चाक्रिया—दुष्टाक्रिया मिथ्यात्वाद्युपहतस्या मोक्षसाधकमनुष्ठानं, यथा—मिथ्यादृष्टेर्ज्ञामप्यज्ञानमिति, एवमविनयोऽपि, अज्ञानम्—असम्यग्ज्ञानमिति। ××× अथवा देशादिज्ञानमपि मिथ्यात्वविशिष्टमज्ञानमेवेति।

—ठाण० स्था ३। उ० ३। सू ४०३। टीका

स्थानांग सूत्र के दसवें स्थान में कहा है—

दसविधे मिच्छत्ते पन्नत्ते, तंजहा—अधम्मे धम्मसण्णा, धम्मे अधम्मसण्णा, अमग्गे मग्गसण्णा, मग्गेऽमग्गसण्णा, अजीवेसु जीवसण्णा, जीवेसु अजीवसन्ना, असाहुसु साहुसन्ना, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा।

—ठाण स्था० १०।सू० ७४

अर्थात् मिथ्यात्व के दस प्रकार हैं—धर्म में अधर्म संज्ञा, अधर्म में धर्मसंज्ञा मार्ग में कुमार्ग संज्ञा, कुमार्ग में मार्ग संज्ञा, जीव में अजीव संज्ञा, अजीव में जीव संज्ञा, साधु में असाधु संज्ञा, असाधु में साधु संज्ञा, मुक्त में अमुक्त संज्ञा और अमुक्त में मुक्त संज्ञा का होना मिथ्यात्व है।

प्रज्ञापना पद १८।१३४४ में कहा है—

मिच्छादिट्ठी तिविहे पन्नत्ते तंजहा—अणाइए अपज्जवसिए वा, अणाइए वा सपज्जवसिए, सादीए वा सपज्जवसिए, तत्थणं जे से सादीए सपज्जवसिए से जहन्नेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणो कालतो खेत्ततो अवड्ढं पोग्गल-परियट्टं देसूणं।

टीका—मलयगिरि-अनाद्यपर्यवसितोऽनादिसपर्यवसितः सादिस-पर्यवसितश्च, तत्र यः कदाचनापि सम्यक्त्वं नावाप्स्यति सोऽनाद्यपर्य-वसितः, यस्त्ववाप्स्यति सोऽनादिसपर्यवसितः, यस्तु सम्यक्त्वमासाद्य भूयोऽपि मिथ्यात्वं याति स सादिसपर्यवसितः स च जघन्येनान्त-र्मुहूर्त्तं, तदनन्तरं कस्यापि भूयः सम्यक्त्वाप्तेः, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, तमेवानन्तं कालं द्विधा प्ररूपयति—कालतः क्षेत्रतश्च, तत्र कालतोऽनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिणीर्यावत्, क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गल-परावर्त्तं देशोनं।

अर्थात् मिथ्यादृष्टि के तीन भेद होते हैं यथा—अनादि अपर्यवसित—अभवसिद्धिक जीव, अनादिसपर्यवसित—भवसिद्धिक जीव, सादिसपर्यवसित—प्रतिपाती सम्यग्दृष्टि जीव। उनमें से अभवसिद्धिक जीव अनादि अनंत स्वभाव

के कारण कभी भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकेंगे ; अनादि-सांत स्वभाव के कारण भवसिद्धिक जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकेंगे तथा सादि-सांत स्वभाव के कारण प्रतिपाती सम्यक्त्वी (जो पहले सम्यक्त्व को प्राप्त कर, फिर मिथ्यात्वी हो गये हैं।) जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त के बाद उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गलपरावर्तन के बाद नियमतः सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकेंगे अर्थात् सादिसांतमिथ्यात्वी—प्रतिपाती सम्यग्दृष्टि जीव उत्कृष्टकाल की अपेक्षा—देशोन अर्द्धपुद्गलपरावर्तन के बाद सम्यक्त्व को प्राप्त कर, चारित्र ग्रहण कर, सर्व कर्मों का क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे।

## ५ मिथ्यादृष्टि—जीव—जीवपरिणाम है

मिथ्यादृष्टि—जीव का एक परिणाम विशेष है स्थानांग सूत्र मे कहा है—

तिविहा सव्वजीवा पन्नत्ता, तजहा-सम्मदिट्ठी मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी।

—ठाण० स्था ३। उ २। सू ३१८

अर्थात् सब जीव तीन प्रकार कहे गये हैं—यथा—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि। आगम मे सर्व जीवों के निम्नलिखित आठ विभाग भी किये गये हैं,

अहवा—अट्ठविधा सव्वजीवा पन्नत्ता, तजहा—आभिणिबोहिय-नाणीजाव केवलनाणी, मतिअन्नाणी, सूयअन्नाणी विभंगणाणी।

—ठाण० स्था ८। सू १०६

अर्थात् सर्व जीव के आठ भेद किये जा सकते हैं—

यथा, आभिनिबोधक ज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधि ज्ञानी, मनःपर्यव ज्ञानी, केवल ज्ञानी, मतिअज्ञानी, श्रुतअज्ञानी और विभंग ज्ञानी।

अस्तु आभिनिबोधिक ज्ञानी यावत् केवलज्ञानी जीव नियमतः सम्यग्दृष्टि होते हैं तथा मतिअज्ञानी यावत् विभंग ज्ञानी—मिथ्यादृष्टि होते हैं या सम्यग्-मिथ्यादृष्टि।

प्रज्ञापना सूत्र में मिथ्यादृष्टि को जीव का परिणाम कहा है अतः मिथ्यादृष्टि जीव है।[1] आगम में कहीं-कहीं दृष्टि के स्थान पर दर्शन का भी व्यवहार हुआ है— जैसे कि कहा है—

दंसणपरिणामे णं भंते! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा! तिविहे पन्नत्ते, तंजहा—सम्मदंसणपरिणामे, मिच्छादंसणपरिणामे, मिच्छा-सम्मदंसणपरिणामे।

—प्रज्ञापना पद १३ । सू ९३५

अर्थात् दर्शन परिणाम के तीन भेद हैं—यथा सम्यग्दर्शन परिणाम, मिथ्यादर्शन परिणाम और सम्मिथ्यादर्शन परिणाम। जीव के गति आदि दस जीव परिणामों में एक जीव परिणाम—दर्शन परिणाम है। अतः मिथ्यादर्शन परिणाम—मिथ्यादृष्टि जीव का एक परिणाम विशेष है।

प्रज्ञापया पद १९ में भी मिथ्यादृष्टि को जीव कहा है—

जीवा ण भंते! किं सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी ? गोयमा! जीवा सम्मदिट्ठीवि मिच्छादिट्ठीवि सम्मामिच्छा-दिट्ठीवि।

—प्रज्ञापना पद १९ । सू १३९९

अर्थात् जीव सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, मिथ्यादृष्टि भी होते हैं तथा सम्यग्-मिथ्यादृष्टि भी होते हैं।

### ६ : मिथ्यादृष्टि और क्रियावाद—अक्रियावाद

मिथ्यादृष्टि जीव क्रियावादी भी होते हैं और अक्रियावादी भी।

जीव आदि पदार्थ नहीं है—इस प्रकार बोलने वाला अक्रियावादी है। कहा है—

"अकिरियावाई याविभवइ, नाहियवाई, नाहियपन्ने, नाहियदिट्ठी, णो सम्मावाई, णोणितियावाई, णसंतिपरलोगवाई, णत्थि इहलोए, णत्थि परलोए, णत्थि माया, णत्थिपिया, णत्थि अरिहंता, णत्थि चक्क-वट्टी, णत्थि बलदेवा, णत्थि वासुदेवा, णत्थिणिरया, णत्थि णेरइया,

---

१—ठाणांग सूत्र ठाणा १०

णत्थि सुक्कडदुक्कडाणं फलवित्तिविसेसो, णोसुचिण्णाकम्मा सुचिण्णा-फलाभवंति, णो दुच्चिण्णा कम्मादुच्चिण्णा फला भवंति, अफले-कल्लाणपावए, णो पच्चायंति जीवा, णत्थिए णिरए, णत्थि सिद्धि, से एवंवाई, एवंपण्णे, एवं दिट्ठी, एवं छंदरागमइणिविट्ठे यावि भवइ।

—दशाश्रुतस्कंध अ १। सू २

अर्थात् अक्रियावादी क्रिया के अभाव का कथन करने वाला—उत्पत्ति के बाद पदार्थ के विनाशशील होने के कारण वह प्रतिक्षण अनवस्थायी बदलता रहता है अतः उसकी क्रिया नही हो सकती। अथवा जीव आदि पदार्थ नहीं है—न माता है, न पिता है, न परलोक है, न इहलोक है आदि। वह अक्रिया-वादी इस प्रकार का बोलने वाला, इस प्रकार की बुद्धिवाला, इस प्रकार की दृष्टि-विचार वाला और इसी प्रकार के अभिप्राय मे राग मे, और इसी प्रकार की मति मे वह हठाग्रही होता है।

अक्रियावादी जीव केवल मिथ्यादृष्टि ही होते हैं, सम्यग्दृष्टि नहीं। इसके विपरीत क्रियावादी जीव मिथ्यादृष्टि भी होते हैं, सम्यग्दृष्टि भी। कहा है—

सम्मद्दिट्ठी किरियावाई मिच्छा य सेसगावाई।

—सूय० श्रु १। अ १२। गा १। नि गा १२१

अर्थात् क्रियावादी के दो भेद है—मिथ्यादृष्टि क्रियावादी तथा सम्यग्दृष्टि क्रियावादी। जो जीवादि नव पदार्थों के अस्तित्व मे विश्वास करता है तथा उनके नित्यानित्य एवं स्व-पर तथा काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर, आत्मा आदि कारणों को सकल भाव से तथा सापेक्ष भाव से अनेकांत दृष्टि से मानता है वह सम्यग्दृष्टि क्रियावादी है।[1] इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि क्रियावादी-एकांत भाव से मानता है—कहा है—

जीवादिपदार्थसद्भावोऽस्त्येवेत्येवं सावधारणक्रियाभ्युपगमो येषां ते अस्तीति क्रियावादिनस्ते चैव वादित्वान्मिथ्यादृष्टयः ××× । स तत्रा-

---

१—(क) भगवती श ३०। उ १

(ख) सूय० श्रु १। अ १२। गा १। टीका

स्त्येव जीव इत्येव सावधारणतयाऽभ्युपगमं कुर्वन् काल एवैकः सर्वस्यास्य जगत कारणम्, तथा स्वभाव एव नियतिरेव, पूर्वकृतमेव, पुरुषाकार एवेत्येवमपरनिरपेक्षतैकान्तेन कालादीनां कारणत्वेनाश्रयणान्मिथ्यात्वम्।

सूय० श्रु १ । अ १२ । गा १ । टीका

अर्थात् जो जीवाजीवादि के अस्तित्व को मानता है लेकिन उनके नित्यानित्यत्व तथा स्व-पर मे तथा काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर, आत्मा आदि को निरपेक्ष कारण—एकांत भाव से मानता है एकांत भाव होने से वह मिथ्यादृष्टि क्रियावादी है।

अथवा एकांत भावसे क्रिया को मोक्ष का साधन मानता है अतः वह क्रियावादी है। कहा है—

क्रियां ज्ञानादिरहितामेकामेव स्वर्गापवर्गसाधनत्वेन वदितु शील येषां ते क्रियावादिनः।

—सूय० श्रु २। अ २। सू २५। टीका

कतिपय आचार्यों की यह मान्यता रही है कि अक्रियावाद में भव्य और अभव्य—दोनों प्रकार के मिथ्यादृष्टियों का समावेश हो जाता है इसके विपरीत क्रियावाद मे केवल भव्य आत्माका ही ग्रहण होता है। उनमे कोई शुक्लपक्षी भी होते हैं क्योंकि वे उत्कृष्टतः देशोन अर्द्धपुद्‌गल परावर्तन के अतर्गत ही सिद्धगति को प्राप्त करेंगे।

यदि आस्तिकवादी—क्रियावादी भी आरम्भ और परिग्रह मे आसक्त हो जाता है तो सम्यक्त्व से पतित होकर नरक-निगोद मे जा सकता है। कहा है —

से किरियावाई × × × सम्मावाई × × × एवछदराग-मइ-निविट्ठे यावि भवई। से भवई महिच्छे, जावउत्तरगामिए नेरइए सुक्कपक्खिए आगमेस्साण सुलभबोहिए यावि भवइ।

—दशाश्रुतस्कंध अ ६। सू० १७

अर्थात् सम्यग्दृष्टि क्रियावादी—यदि राज्य-विभव, परिवार आदि की महा इच्छा वाला और महा आरम्भ वाला हो जाता है तो वह महाआरम्भी-

महापरिग्रही होकर यावत् नरक में जाता है। वहाँ से निकल कर जन्म-से-जन्म, मृत्यु-से-मृत्यु को, एक दुःख से निकल कर दूसरे दुःख को प्राप्त करता है। यद्यपि वह नरक मे उत्तरगामी नैरयिक और शुक्लपाक्षिक होता है। वह देशोन अर्धपुद्गल परावर्त्तन के बाद अवश्य मोक्ष को प्राप्त करता है और जन्मान्तर मे सुलभ बोधि होता है।

यद्यपि अज्ञानवादी तथा विनयवादी भी—मिथ्यात्वी होते है।[1] अज्ञानवादी कहते हैं कि जीवादि अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने वाला कोई नहीं है। न उनके जानने से कुछ सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त समान अपराध मे ज्ञानी को अधिक दोष माना है और अज्ञानी को कम।

इसलिए अज्ञान ही श्रेय रूप है। इसलिए वे मिथ्यादृष्टि है और उनका कथन स्ववचन बाधित है। क्योंकि अज्ञान ही श्रेय है यह बात भी वे बिना ज्ञान के कैसे जान सकते हैं ? और बिना ज्ञान के वे अपने मत का समर्थन भी कैसे कर सकते हैं ? इस प्रकार अज्ञान की श्रेयता बताते हुए उन्हें ज्ञान का आश्रय लेना ही पड़ता है।

विनयवादी कहते हैं कि स्वर्ग, अपवर्ग आदि के कल्याण की प्राप्ति विनय मे ही होती है। इसलिए विनय ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार विनय को प्रधान रूप से मानने वाले विनयवादी कहलाते हैं।[2]

केवल विनय से ही स्वर्ग, मोक्ष पाने की इच्छा रखने वाले विनयवादी मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है। केवल ज्ञान या क्रिया से नहीं। ज्ञान को छोड़कर एकांत रूप से केवल क्रिया के एक अंग का आश्रय लेने से वे सत्य मार्ग से दूर हैं।[3]

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि क्रियावादी भी होते है, अक्रियावादी भी होते हैं लेकिन सम्यग्दृष्टि अपेक्षा भेद से क्रियावादी हो सकते हैं शेष के तीन वादी नहीं होते।

---

(१) सूयगडांग श्रु १। अ १२

(२) आचारांग श्रु १। अ १। उ १। सू १। टीका

(३) सूयगडांग श्रु १। अ १२। टीका

## ७ : मिथ्यात्वी और क्षेत्रावगाह

सामान्यतः मिथ्यादृष्टियों का सर्वलोकक्षेत्र है । गति की अपेक्षा तिर्यंचगति में मिथ्यादृष्टि का क्षेत्र सर्वलोक प्रमाण क्षेत्र है, अन्य गतियों में लोक का असंख्यातवां भाग प्रमाण है ।

ज्ञान की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि में—मतिअज्ञान-श्रुतिअज्ञान का क्षेत्र सर्वलोक में है तथा विभंग अज्ञान का लोक का असंख्यातवां भाग क्षेत्र है ।

दर्शन की अपेक्षा मिथ्यादृष्टिमें—अचक्षुदर्शन का क्षेत्र सर्व लोक में है तथा चक्षुदर्शन तथा अवधिदर्शन का क्षेत्र लोक के असख्यतावें भाग मात्र है । सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने कहा—

"एकेन्द्रियाणां क्षेत्रं सर्वलोकः

तत्त्व० अ० १ । सू ८

अर्थात् मिथ्यादृष्टियों मे एकेन्द्रियों का ही सर्व लोक क्षेत्र प्राप्त होता है ।

भव्य और अभव्य मार्गणा की अपेक्षा से प्रथम गुणस्थान वाले जीवों का सर्वलोक क्षेत्र है ।

एकेन्द्रिय जीवों को बाद देकर बाकी के सर्व मिथ्यादृष्टि का क्षेत्र लोक के असख्यातवें भाग मात्र है जिसमे मिथ्यादृष्टि मनुष्यों का क्षेत्र—समयक्षेत्र मात्र है ।

लेश्या की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि में कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याओं का क्षेत्र सर्वलोकमे है परन्तु तेजो आदि शुभ लेश्याओं का क्षेत्र लोक के असख्यातवें भाग मात्र है । यह ध्यान मे रहना चाहिए कि तेजो-पद्म-शुक्ललेशी मिथ्यादृष्टि जीवों ने भूत काल की अपेक्षा भी लोक के असंख्यातवें भाग का ही स्पर्शन किया है ।

कायायोग की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि ने सर्वलोक का स्पर्श किया है ।[1]

औधिक मनोयोगी को साथ मिलाने से पाँच मनोयोगी के भेद हो जाते हैं इसी प्रकार वचनयोगी के भी पाँच भेद हो जाते हैं । षट्खंडागम में आचार्य पुष्पदंत-भूतबलि ने कहा है—

---

(१) कायाणुवादेण ××× केवडियं खेत्तं पोसिदं, सव्वलोगो

षट्खंडागम० १, ४, ३३। पु ४। पृ० १२४

जोगाणुवादेण पंचमणजोगि-पंचवचिजोगीसु मिच्छादिट्ठीहि केवडियंखेत्त पोसिदं, लोगस्स असंखेज्जदिभागो।

षट्खंडागम० १, ४, ७४। पु ४। पृ० १२८

अर्थात् योगमार्गणा के अनुवाद से पाँचों मनोयोगी और पाँचों वचनयोगियों मे मिथ्यादृष्टि जीवों ने लोक के असंख्यातवें भाग का स्पर्श किया है।

भव्य मार्गणा के अनुवाद से भव्यसिद्धिक मिथ्यादृष्टियों ने सर्व लोक का स्पर्श किया है तथा अभव्यसिद्धिक मिथ्यादृष्टियों ने भी सर्वलोक का स्पर्श किया है। जैसे कि कहा है;—

भवियाणुवादेण भवसिद्धिएसु मिच्छादिट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति ओघं ॥१६५॥

अभवसिद्धिएहिं केवडिय खेत्त पोसिद, सव्वलोगो ॥१६६॥

षट्खंडागम, १, ४, १६५, १६६। पु ४। पृ १५१

अर्थात् भव्यसिद्धिक तथा अभवसिद्धिक मिथ्यादृष्टि जीवों ने सर्व लोक का स्पर्श किया है।

## ८ : मिथ्यात्वी की स्थिति

ओघतः मिथ्यादृष्टि की स्थिति सर्वकाल की है—स्थिति की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि के तीन विभाग किये गये हैं —जैसा कि प्रज्ञापना सूत्र मे कहा है—

मिच्छादिट्ठीणं भंते ! पुच्छा ! गोयमा ! मिच्छादिट्ठी तिविहे पन्नत्ते तंजहा—अणादीए वा अपज्जवसिए १ अणाइए वा सपज्जवसिए २ सादीए वा सपज्जवसिए ३। तत्थण जेसे सादीए सपज्जवसिए से जहण्णेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण अणंत काल, अणंताओ उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढ पोग्गलपरियट्ट देसूण।

प्रज्ञा० पद १८। सू १३४४

मलयगिरि टीका—(मिथ्यादृष्टिः) तत्र च कदाचनापि सम्यक्त्वं नावाप्स्यति सो अनाद्यपर्यवसितः, यस्त्व वाप्स्यति सोऽनादिसपर्यवसितः, यस्तु सम्यक्त्वमासाद्य भूयोऽपि मिथ्यात्व याति स सादिसपर्यवसितः स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तदनन्तरं कस्यापि भूयः सम्यक्त्वा-

प्तेः उत्कर्षतोऽनन्तं कालं, तमेवानन्तं काल द्विधा प्ररूपयतिकालत. क्षेत्रतश्च, तत्र कालतोऽनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिणीर्यावत्, क्षेत्रंतोऽपा र्द्ध पुद्गलपरावर्त्त देशोन xxx।

अर्थात् मिथ्यादृष्टि के तीन भेद होते हैं—यथा १—अनादिअपर्यवसित—जो कभी भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकेंगे—अभव्यसिद्धिक जीव।

२—अनादिसपर्यवसित—जिन्होंने अभी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं किया है, कालान्तर मे प्राप्त करेंगे—जातिभव्यसिद्धिक जीव।

३—जिन्होंने सम्यक्त्व को प्राप्त किया लेकिन फिर सम्यक्त्व से पतित होकर फिर मिथ्यात्व को प्राप्त किया है। वे मिथ्यादृष्टि जीव जघन्य अतमुहूर्त, उत्कृष्टत. देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन के बाद अवश्य ही सम्यक्त्व को प्राप्त करेंगे—प्रतिपाती सम्यग्दृष्टि जीव।

प्रतिपाती सम्यग्दृष्टि जीव जो अभी मिथ्यात्वी है लेकिन वे निश्चय ही कालान्तर मे सिद्ध, बुद्ध यावत् मुक्त होंगे।

इन तीनों प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीवो मे सबसे कम अभव्यसिद्धिक जीव है, उनसे प्रतिपाति सम्यग्दृष्टि अनंत गुने अधिक है और उनसे भवसिद्धिक मिथ्या-दृष्टि जीव अनत गुने अधिक है।

## ६ : मिथ्यात्वी का अतरकाल

ओघतः मिथ्यादृष्टि जीवों का अंतरकाल नाना जीवों की अपेक्षा नहीं है, निरतर है। ऐसा समय कभी भी नहीं आ सकता है कि मिथ्यादृष्टि कोई भी न रहे।। जैसा कि षट्खंडागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन ने कहा है—

"ओघेण मिच्छादिट्ठीणमतर केवचिर कालादो होदि, णाणाजीव पडुच्च णत्थि अतरं, णिरतरं।"

—षट्० खं १, ६। सू २। पु० ५। पृ० ४

एक जीव की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि का अतरकाल जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट छियासठ सागरोपम से कुछ अधिक है।[1] एक मिथ्यादृष्टि जीव—परिणामों के

(१) पण्णवणा पद १८। सू १३४३

कारण सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ और वहाँ पर सर्वलघु अन्तर्मुहूर्त काल तक सम्यक्त्व के साथ रहकर फिर सम्यक्त्व से पतित होकर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। इस प्रकार से जघन्य अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मिथ्यात्व गुणस्थान का अंतरकाल हो जाता है।

यद्यपि षट्खंडागममें मिथ्यादृष्टि का अंतरकाल उत्कृष्ट दो छियासठ सागरोपम से कुछ अधिक कहा है। जो जीव एक बार भी मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं फिर पुनः मिथ्यात्व मोहनीयकर्म उदय से मिथ्यात्वी हो जाते हैं उनको प्रतिपाति सम्यग्दृष्टि से भी अभिहित किया है उन जीवों का अंतरकाल भी जघन्य अंतर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट छियासठ सागरोपम से कुछ अधिक का कहा गया है।

चूँकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि की स्थिति अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं होती है अतः कोई मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि को प्राप्त करता है तो अंतर्मुहूर्त के अन्तरकाल के बाद मिथ्यादृष्टि हो सकता है। क्योंकि कोई सम्यग्मिथ्यादृष्टि —अविपरीत-श्रद्धा होने से सम्यग्दृष्टि हो जाता है।[1]

सम्यग्दृष्टि के दो भेद है – सादिअपर्यवसित तथा सादिअपर्यवसित। उनमे से सादिसांत सम्यग्दृष्टि जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक होता है क्योंकि उसके बाद उसे मिथ्यात्व आ सकता है, उत्कृष्टतः छियासठ सागरोपम से कुछ अधिक काल तक होता है, उसके बाद मिथ्यात्व आ सकता है।[2]

अतः सिद्ध होता है कि मिथ्यात्वी का अंतरकाल जघन्य अंतर्मुहूर्त तक तथा उत्कृष्टतः छियासठ सागरोपम से कुछ अधिक हो सकता।

—❀—

---

(१) सम्मामिच्छादिट्ठी णं० पुच्छा। गोयमा। जहण्णेणवि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। प्रज्ञा० पद १८।१३४५

(२) प्रज्ञापना पद १८। सू १३४३

# द्वितीय अध्याय

## १ : मिथ्यात्वी और लेश्या

मिथ्यात्वी मे कृष्णादि छओं लेश्याए होती है। छः लेश्याओं मे प्रथम तीन लेश्याएँ ( कृष्ण-नील-कापोत ) अशुभ हैं तथा अंतिम तीन लेश्याएँ ( तेजो-पद्म शुक्ल ) शुभ हैं। आगमों मे मिथ्यात्वी मे शुभ लेश्याएँ भी होती है ऐसा उल्लेख मिलता है।

कर्म प्रकृति मे यथाप्रवृत्ति करण आदि को प्राप्ति के पूर्व भी मिथ्यात्वी म तेजो-पद्म-शुक्ल लेश्या का उल्लेख मिलता है।

करणकालात् पूर्वमपि ××× तिसृणां विशुद्धानां लेश्यानामन्यतमस्या लेश्यायां वर्तमानो, जघन्येन तेजोलेश्यायां, मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायां, उत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां ×××।

—कर्मप्रकृति टीका

अर्थात् करण कालको प्राप्ति के पूर्व भी मिथ्यात्वी के तीन विशुद्ध लेश्या का प्रवर्तन हो सकता है। जघन्यतः तेजोलेश्या, मध्यम परिणाम से पद्मलेश्या तथा उत्कृष्टतः परिणाम से शुक्ललेश्या का प्रवर्तन होता है।

अश्रुत्वा[1] केवली के अधिकार मे—बालतपस्वी अवस्था मे—प्रथम गुणस्थान मे शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम तथा विशुद्धलेश्या का उल्लेख है। उपर्युक्त तीनों निरवद्य अनुष्ठान हैं, उनके द्वारा कर्म की निर्जरा होती है। इसके विपरीत अशुभ अध्यवसाय, अशुभ परिणाम तथा अविशुद्धलेश्या—सावद्य अनुष्ठान है। यहाँ विशुद्धलेश्या का संबंध भावलेश्या के साथ जोड़ना चाहिए क्योंकि द्रव्यलेश्या—पुद्गल ( अष्टस्पर्शी पुद्गल है।[2] ) है; अतः भावलेश्या से कर्म कटते हैं, द्रव्यलेश्या से नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ में कहा है—

---

(१) भगवती श० ९। उ ३१

(२) भगवती श० १२। उ ५

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेस्साओ॥
एयाहि तिहि वि जीवो, दुग्गइं उववज्जइ॥
तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहिवि जीवो, सुग्गइं उववज्जइ॥

—गा ५६।५७

अर्थात् कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अधर्मलेश्याएँ हैं; इन लेश्याओं से जीव दुर्गति मे उत्पन्न होता है। तेजो, पद्म और शुक्ल—ये तीन धर्मलेश्याएँ हैं, इन लेश्याओं से जीव सुगति में उत्पन्न होता है। आगमों मे अनेक स्थल पर उल्लेख मिलता है कि धर्मलेश्या की अवस्था मे जीव यदि मरण को प्राप्त होता हैं तो वह नरक गति में नहीं जाता है। श्रीमज्जयाचार्य ने झीणी चर्चा मे कहा है कि कृष्ण, नील, कापोत लेश्या से पापकर्म का बंधन होता है, अत. इन लेश्याओं को अधर्म लेश्या कहा गया है तथा तेजो, पद्म, शुक्ल लेश्या से कर्मों की निर्जरा होती है, अत: इन लेश्याओं को धर्मलेश्या कहा गया है।

आचारांग मे ( १।४।१ ) प्राणीमात्र को अहिंसा पालने का उपदेश दिया गया है ? उस अहिंसा के पालने का अधिकार क्या मिथ्यात्वी को नहीं दिया गया है ? कहने का तात्पर्य यह है कि आज्ञा के अन्तर्गत की क्रिया की आराधना मिथ्यात्वी तथा सम्यक्त्वी दोनों कर सकते हैं।

सातवीं नरक मे केवल मिथ्यादृष्टि जीव ही उत्पन्न होते हैं—वे मिथ्यादृष्टि जीव या तो सज्ञी मनुष्य होते हैं, या सज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय ( सिर्फ जलचर)। सम्यग्दृष्टि मनुष्य तथा सम्यग्दृष्टि तिर्यंच पहले से छठे नरक तक उत्पन्न हो सकते है ( यदि सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होने के पूर्व मिथ्यादृष्टि अवस्था में नरक का आयुष्य बांध लिया हो )। यद्यपि आगमों मे नैरयिकों मे कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याओं का कथन है।[1] सम्भवतः यह कथन द्रव्यलेश्या की अपेक्षा हो। प्रज्ञापना सूत्र की टीका मे कहा गया है—

भावपरावत्तीए पुण सुरनेरइयाण वि छल्लेस्सा।

—पण्ण० प० १७। उ० ५। सू० १२५१। टीका में उद्धृत

१—लेश्या कोश, पृष्ठ ११

अर्थात् भाव की परावृत्ति होने से देव और नारकी के छः लेश्या होती है।

सातवीं नरक के नारकी को अन्तरालकाल में सम्यक्त्व लाभ हो सकता है। यह सुनिश्चित है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति शुभपरिणाम, शुभ अध्यवसाय तथा विशुद्ध-भावलेश्या ( तेजो-पद्म-शुक्ललेश्या ) के बिना नहीं हो सकती है। षट्खंडागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन ने कहा है.—

"एक्को अट्ठावीससंतकम्मिओ मिच्छादिट्ठी सत्तमाए पुढवीए किण्हलेस्साए सह उववण्णो। छहि पज्जत्तीहि पज्जत्तयदो विस्सतो विसुद्धो होदूण सम्मत्तं पडिवण्णो।

—षट्० १, ५,२६०। पुस्तक ४। पृ० ४३०

अर्थात् मोहकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्तावाला कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव सातवीं पृथ्वी ( नारकी ) में कृष्णलेश्या के साथ उत्पन्न हुआ। छहों पर्याप्तियों से पर्याप्त होकर, विश्राम ले तथा विशुद्ध होकर सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ।

प्रज्ञापना सूत्र के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने कहा है —

स्वभावो यस्य कृष्णलेश्यास्वरूपस्य तत्तद्रूप तद्भावस्तद्रूपता तया एतदेव व्याचष्टे—न तद्वर्णतया न तद्गंधतया न तद्रसतया न तत्स्पर्शतया भूयो भूय परिणमते, भगवानाह —हतेत्यादि, हन्त गौतम ! कृष्णलेश्येत्यादि, तदेव ननु यदि न परिणमते तर्हि कथ सप्तमनरकपृथिव्यामपि सम्यक्त्वलाभः, स हि तेजोलेश्यादिपरिणामे भवति सप्तमनरकपृथिव्यां च कृष्णलेश्येति, कथ चैतत् वाक्य घटते ? 'भावपरावत्तीए पुण सुरनेरइयाण पि छल्लेस्सा' इति ( भावपरावृत्तेः पुन सुरनैरयिकाणामपि षड्लेश्या ) लेश्यान्तरद्रव्यसंपर्कतस्तद्रूपतया परिणामासंभवेन भावपरावृत्तेरेवायोगात्, अतएव तद्विषये प्रश्ननिर्वचनसूत्रे आह—'से केणट्ठेणं भंते !' इत्यादि, तत्र प्रश्नसूत्र सुगम निर्वचनसूत्र आकारः तच्छायामात्रं आकारस्य भाव—सत्ता आकारभावः स एव मात्रा आकारभावमात्रा तयाऽऽकारभावमात्रया मात्राशब्द आकारभावातिरिक्तपरिणामान्तरप्रतिपत्तिव्युदासार्थः, 'से' इति सा कृष्णलेश्या नीललेश्यारूपतया स्यात् यदिवा प्रतिभाग· प्रतिबिम्बमादर्शादाविव विशिष्ट·

प्रतिबिम्ब्यवस्तुगत आकारः प्रतिभाग एव प्रतिभागमात्रा तया, अत्रापि मात्राशब्दः प्रतिबिम्बातिरिक्त परिणामान्तरव्युदासार्थः स्यात् कृष्णलेश्या नीललेश्यारूपतया, परमार्थतः पुनः कृष्णलेश्यैव नो खलु नीललेश्या सा, स्वस्वरूपापरित्यागात्, न खल्वादर्शादयो जपाकुसुमादिसन्निधान-तस्तत्प्रतिबिम्बमात्रामादधाना नादर्शादय इति परिभावनीयमेतत्, केवलं सा कृष्णलेश्या तत्र—स्वस्वरूपे गता—अवस्थिता सती उत्ष्वष्कते तदा-कारभावमात्रधारणतस्तत्प्रतिबिम्बमात्रधारणतो वोत्सर्प्पतीत्यर्थः, कृष्ण-लेश्यातो हि नीललेश्या विशुद्धा ततस्तदाकारभावं तत्प्रतिबिम्बमात्रं वा दधाना सती मनाक् विशुद्धा भवतीत्युत्सर्प्पतीति व्यपदिश्यते।

—पण्ण० पद १७।उ५। सू० १२५२ टीका

अर्थात् यदि कृष्णलेश्या नीललेश्या में परिणत नहीं होती है तो सातवीं नरक के नैरयिकों को सम्यक्त्व की प्राप्ति किस प्रकार होती है। क्योंकि सम्यक्त्व जिनके तेजोलेश्यादि शुभलेश्या का परिणाम होता है उनके ही होती है और सातवीं नरक में कृष्णलेश्या होती है तथा भाव की परावृत्ति से देव तथा नारकी के भी छह लेश्या होती है, यह वाक्य कैसे घटित होगा। क्योंकि अन्य लेश्या द्रव्य के संयोग से तद्रूप परिणमन संभव नहीं है तो भाव की परावृत्ति भी नहीं हो सकती है।

उत्तर में कहा गया है कि मात्र आकार भाव से—प्रतिबिम्ब भाव से कृष्ण-लेश्या नीलेश्या होती है, लेकिन वास्तविक रूप में तो कृष्णलेश्या ही है, नीलेश्या नहीं हुई है क्योंकि कृष्णलेश्या अपने स्वरूप को नहीं छोड़ती है जिस प्रकार आरीसा में किसी का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह उस रूप नहीं हो जाता है, लेकिन आरीसा ही रहता है। प्रतिबिम्ब वस्तु का प्रतिबिम्ब छाया जरूर उसमें दिखाई देती है।

ऐसे स्थल में जहाँ कृष्णलेश्या अपने स्वरूप में रहकर 'अवष्वष्कते, उत्ष्वष्कते' नीलेश्या के आकार भाव मात्र को धारण करने से या उसके प्रतिबिम्ब भाव मात्र को धारण करने से उत्सर्पण करती है—नीलेश्या को प्राप्त होती है। कृष्णलेश्या से नीललेश्या विशुद्ध है, उससे उसके आकार भाव मात्र को या प्रति-

विम्ब भाव मात्र को धारण करती कुछ एक विशुद्ध होती है, अतः उत्सर्पण करती है, नीललेश्या को प्राप्त होती है।

अतः सातवीं नारकी में भी भावपरावृत्ति की अपेक्षा छहों लेश्याएं होती है। वे मिथ्यादृष्टि नारकी तेजो आदि शुभलेश्या से सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं।

पंचसंग्रह के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने कहा है—

"सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकालेषु शुभलेश्या-त्रयमेव, तदुत्तरकालं तु सर्वा अपिलेश्याः परावर्त्ततेऽपीति।

पंचसंग्रह भाग १। पृ ११। टीका

अर्थात् सम्यक्त्व, देशविरति तथा सर्वविरति की उपलब्धि के समय लेश्या तीन शुभ होती है, उत्तरवर्ती काल में छहों लेश्या मिल सकती है। इससे और भी पुष्टि हो जाती है कि सातवीं नारकी मे भी सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय लेश्यायें शुभ होती है। जीवाभिगम सूत्र मे कहा है—

से किं त नेरइया? नेरइया सत्तविहा पन्नत्ता, तजहा—रयणप्पभा-पुढविनेरइया जाव अहेसत्तमपुढविनेरइया ××× तिविहा दिट्ठी। ×××।

—जीवाभिगम प्रतिपत्ति १। सू। ३२

अर्थात् रत्नप्रभानारकी यावत् सातवी नारकी मे तीनों दृष्टि होती है—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि।

षट्खंडागमके टीकाकार आचार्य वीरसेन ने और भी कहा है—

"संपहि मिच्छाइट्ठीणं ओघालावे भण्णमाणे अत्थि एयगुणट्ठाणं ××× दव्व-भावेहिं छलेस्साओ। ×××।

—षट्० खं० १, १। पृ० ४२३-२४। पु २

अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीवों के ओघालाप कहने पर—द्रव्य और भाव की अपेक्षा छहों लेश्याएं होती हैं। पर्याप्त तथा अपर्याप्त—दोनों अवस्थाओं में मिथ्यादृष्टि के छहों भावलेश्याएं होती हैं, अतः मिथ्यादृष्टि मनुष्य में भी द्रव्यतः तथा भावतः छहों लेश्याएं होती हैं।

पंचसंग्रह में चन्द्रर्षि महत्तर ने कहा—

XXX । छल्लेसा जाव सम्मोत्ति ।

—पंचसंग्रह भाग १, पृ ११

टीका—'सम्मोत्ति' अविरतसम्यग्दृष्टिस्तावत् षडपिलेश्या भवंति ।

अर्थात् प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान तक लेश्या छहों होती है अतः मिथ्यदृष्टि मे छहों लेश्या होती है । षट्खंडागम मे अणाहारिक मिथ्यादृष्टि में भी छहों भाव लेश्या का उल्लेख मिलता है—

"अणाहारि—मिच्छाइट्ठीणं भण्णमाणेअत्थि XXX । दव्वेण सुक्क-लेस्सा, भावेण छलेस्साओ ।

—षट्० पु २ । पृ० ५२

अर्थात् अनाहारिक मिथ्यादृष्टि में द्रव्य की अपेक्षा शुक्ललेश्या तथा भाव की अपेक्षा छहों लेश्यायें होती है ।

फिर षट्खडागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन ने कहा है—

तेसिं चेव मिच्छाइट्ठीणं पज्जत्तोघे भण्णमाणे अत्थि XXX दव्व-भावेहि छल्लेस्साओ XXX । तेसिं चेव अपज्जत्तोघे भण्णमाणेअत्थिXXX दव्वेण काउ सुक्कलेस्साओ, भावेण छलेस्साओ XXX

—षट्खंडागम १,१। पु० २ । पृ० ४२४,२५

अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीवों के अपर्याप्तकाल मे द्रव्य और भाव से छहों लेश्याएँ होती है तथा अपर्याप्तकाल मे द्रव्य की अपेक्षा कापोत और शुक्ल, भाव की अपेक्षा छहों लेश्याएँ होती है । आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि ने कहा है—

लेस्साणुवादेण किण्हलेस्सिय—णीललेस्सिय-काउलेस्सिएसु मिच्छा-इट्ठिप्पहुडिजाव असजदसम्माइट्ठि त्ति ओघ ॥ १६२ ॥

तेउलेस्सिएसु मिच्छाइट्ठि दव्वपमाणेण केवडिया, जोइसियदेवहि सादिरेयं ॥ १६३ ॥ XXX ।

पम्मलेस्सिएसु मिच्छाइट्ठि दव्वपमाणेण केवडिया, सण्णिपचे-दियतिरिक्खजोणिणीणं संखेज्जदिभागो ॥ १६६ ॥ XXX ।

सुक्कलेस्सिएसु मिच्छाइट्ठिप्पहुडिजाव संजदासंजदा त्ति दव्वप-माणेण केवडिया, पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागो ॥ १६६ ॥

—षट्खंडागम १,२। सू १६२,१६३,१६६,१६९। पु ३

अर्थात् लेश्या मार्गणा के अनुवाद से प्रथम तीन अप्रशस्त लेश्या मिथ्या-दृष्टि जीव ओघ-प्ररुपणा की तरह अनन्त है, तेजोलेशी मिथ्यादृष्टि जीव ज्योतिषी देवों से कुछ अधिक है, पद्मलेशी मिथ्यादृष्टि जीव सज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यंच योनिमती जीवो के संख्यातवें भाग प्रमाण है तथा शुक्ललेशी मिथ्यादृष्टि जीव पल्योपम के असख्यातवें भाग प्रमाण है।

अस्तु मिथ्यात्वी का प्रथम गुणस्थान है। प्रथम गुणस्थान मे कृष्णादि छहों लेश्यायें होती है। सर्वार्थसिद्धि मे आचार्य पूज्यपाद ने कहा है—

लेश्यानुवादेन कृष्णनीलकापोतलेश्यानां मिथ्यादृष्ट्याद्यसयत-सम्यग्दृष्ट्यान्तानां सामान्योक्तं क्षेत्रम्। तेजःपद्मलेश्यानां मिथ्या-दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्तानां लोकस्यासख्येयभाग। शुक्ललेश्याना मिथ्या-दृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तानां लोकस्यासंख्येयभाग।

—तत्त्व० अ १। सू ८

अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे कृष्ण, नील और कापोतलेश्या—क्षेत्र की अपेक्षा सामान्योक्त क्षेत्र अर्थात् सर्वलोक मे है। तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या—क्षेत्र की अपेक्षा लोक के असख्यातवें भाग मे है। षट्खंडागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन ने कहा है—

"सुक्कलेस्सिएसु मिच्छादिट्ठिप्पहुडि जाव संजदासजदेहि केवडियं खेत्तं पोसिद, लोगस्स असखेज्जदिभागो।

—षट्० ख० १। भा० ४। सू० १६२। पु० ४। पृ० २६६

अर्थात् शुक्ललेशी मिथ्यादृष्टि जीवों ने भूतकाल की अपेक्षा लोक के असख्यातवें भाग का स्पर्शन किया है।

अत उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि मिथ्यात्वी के छहों भाव लेश्यायें होती है।

## २ : मिथ्यात्वी और योग

मन, वचन, काय के व्यापार को योग कहते हैं—मिथ्यात्वी के तीनों ही प्रकार के योग का व्यापार-कार्य होता है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय, क्षयोपशम से, शरीरनामकर्मोदय से योग की प्रवृत्ति होती है। शुभ योग और अशुभ योग के भेद से योग के दो भेद भी किये जा सकते हैं। मिथ्यात्वी के दोनों प्रकार का योग व्यापार होता है।

प्रज्ञापना सूत्र में योग ( प्रयोग ) के पन्द्रह प्रकार किये हैं।[१] वस्तुतः वे मन-वचन-काययोग के ही उपभेद है—

यथा—१. सत्यमनः प्रयोग, २. असत्यमनः प्रयोग, ३. सत्यमृषामनः प्रयोग, ४. असत्यामृषामनः प्रयोग, ५. सत्यवचन प्रयोग, ६. असत्यवचन प्रयोग, ७. सत्यमृषावचन प्रयोग ८. असत्यामृषावचन प्रयोग ९. औदारिक शरीरकाय प्रयोग, १०. औदारिकमिश्रशरीरकाय प्रयोग, ११. वैक्रियशरीरकाय प्रयोग, १२. वैक्रियमिश्रशरीरकाय प्रयोग, १३. आहारकशरीरकाय प्रयोग, १४. आहारकमिश्रशरीरकाय प्रयोग और १५. कार्मणशरीरकाय प्रयोग।

उपर्युक्त १५ योगों में से मिथ्यात्वी के तेरह योग ( आहारकशरीरकाय प्रयोग, आहारकमिश्रशरीरकाय प्रयोग को छोड़कर ) होते हैं।

मिथ्यात्वी के भी वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है तथा शरीरनामकर्म का उदय है ही। अतः मिथ्यात्वी के मन, वचन, काय तीनों योग का व्यापार हो सकता है।

अस्तु योग—वीर्यान्तराय कर्म के क्षय, क्षयोपशम से तथा शरीरनाम कर्म के उदय से होता है। चूंकि मिथ्यात्वी का प्रथम गुणस्थान है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में आहारिक और आहारिकमिश्र को बाद देकर अवशेष तेरह योग होते हैं। षट्खंडागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन ने कहा है—

"संपहि मिच्छाइट्ठीणं ओघालावे भण्णमाणे अत्थि ××× । आहार—दुग्गेण विणा तेरह जोग।

—षट्० ख० १, १। टीका। पु० २। पृ० ४१५

---

१—प्रज्ञापना पद १६। सू० १०१८

अर्थात् ओघतः मिथ्यादृष्टि के आहारक काययोग, आहारक मिश्रकाय योग को बाद देकर तेरह योग होते हैं। गति की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि में योग-मार्गणा इस प्रकार है—

१—नरकगति तथा देवगति में—ग्यारह योग होते हैं—चारमन के योग, चार वचन के योग तथा तीन काय योग ( वैक्रिय शरीरकाय प्रयोग, वैक्रिय मिश्र शरीरकाय प्रयोग, कार्मणशरीरकाय प्रयोग )।

२—तिर्यंच गति तथा मनुष्यगति में—औघिक मिथ्यादृष्टि की तरह तेरह योग मिलते हैं।

तत्वार्थ सूत्र में कहा है—

कायवाङ्मनः कर्मयोगः

तत्वार्थ सूत्र अ० ६। सू १

भाष्य—कायिक कर्म वाचिक कर्म मानस कर्म इत्येष त्रिविधो योगो भवति। स एकशो द्विविधः। शुभाश्चाशुभश्च। तत्राशुभो हिंसास्तेयाब्रह्मादीनि कायिकः, सावद्यानृतपरुषपिशुनादीनि वाचिकः, अभिध्याव्यापादेर्ष्यासूयादीनि मानस। अतोविपरीत शुभ इति।

अर्थात् शरीर, वचन और मन के द्वारा जो कर्म क्रिया होती है, उसको योग कहते हैं। अतएव योग तीन प्रकार का होता है—कायिकक्रियारूप, वाचिकक्रियारूप और मानसक्रियारूप। तीनों योगों के दो-दो भेद हैं—शुभयोग और अशुभयोग।

हिंसादि में प्रवृत्ति करना आदि अशुभकायिक कर्म—अशुभ योग है। पापमय या पापोत्पादक वचन बोलना, मिथ्या भाषण करना, मर्मभेदी आदि कठोर वचन बोलना, किसी की चुगली खाना आदि अशुभ वाचिक कर्म—अशुभ वचन योग है। दुर्ध्यान या खोटा चिंतन, किसी के मरने मारने का विचार, किसी को लाभ आदि होता हुआ देखकर मन में ईर्ष्या करना, किसी के महान् और उत्तम गुणों में भी दोष प्रकट करने का विचार करना आदि अशुभ मानसकर्म—अशुभ मनोयोग है।

अस्तु इनसे विपरीत जो क्रिया होती है वह शुभ कही जाती है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि के नियम की प्रतिपालना।

मिथ्यात्वी के दोनों प्रकार के शुभ और अशुभ योग होते हैं। शुभयोग से मिथ्यात्वी के पुण्य का आस्रव होता है। कहा है—

शुभो योगः पुण्यास्वास्रवो भवति।

तत्त्वार्थ० अ ६।सू ३—भाष्य

अर्थात् शुभयोग पुण्य का आस्रव है। मिथ्यात्वी उस पुण्यबन्ध के कारण मनुष्यगति या देवगति में उत्पन्न होता है। इसके विपरीत पापबन्ध के कारण नरक गति और तिर्यंचगति में उत्पन्न होता है।

### ३ : मिथ्यात्वी और अध्यवसाय

अध्यवसाय -आत्मा का एक सूक्ष्म परिणाम है जो प्रशस्त—अप्रशस्त दोनों का प्रकार होता है।[1] प्रत्येक के असंख्यात असंख्यात प्रकार होते हैं चौबीस ही दंडकों में—प्रत्येक दंडक में दोनो प्रकार के अध्यवसाय होते हैं। उदाहरणत.—असज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय में तीन अप्रशस्त लेश्या होती है, लेकिन अध्यवसाय—प्रशस्त—अप्रशस्त दोनों प्रकार के होते है।[2] अत कहा जा सकता है कि मिथ्यादृष्टि के प्रशस्त अध्यवसाय से कर्म निर्जरा होती है।

कहा है—

सूक्ष्मेषु आत्मनः परिणामविशेषेषु।

—अभिधान० भाग १। पृ० २१२

अर्थात् अध्यवसाय आत्मा का सूक्ष्म परिणाम है। पृथ्वीकायिक आदि चौबीस ही दंडकों में प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के अध्यवसाय होते है। कहा है—

नेरइयाणं भन्ते! केवइया अज्झवसाणा पन्नत्ता? गोयमा! असंखेज्जा अज्झवसाणा पन्नत्ता। ते ण भन्ते! किंपसत्था, अप्पसत्था? गोयमा! पसत्थावि अप्पसत्थावि। एवजाव वेमाणिया।

—प्रज्ञापना पद ३४।सू० २०४७,४८

---

(१) आया० श्रु २।अ ११। उ २

(२) भग० श २४

टीका—मलयगिरि—अध्यवसायचिंतायां प्रत्येक नैरयिकादीनाम-सख्येयान्यध्यवसानानि ।

अर्थात् नेरयिकों के असख्यात अध्यवसाय होते हैं क्योंकि उनके प्रतिसमय भिन्न-भिन्न अध्यवसाय होते है। इसी प्रकार यावत् वैमानिक देवों के असंख्यात अध्यवासाय होते हैं। एकेन्द्रियजीव नियमतः मिथ्यादृष्टि ही होते हैं उनके भी प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के अध्यवसाय होते हैं। यद्यपि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीवों मे सास्वादान सम्यक्त्व होती है लेकिन वे मिथ्यात्व के सम्मुख होने से आगम में अपेक्षा भेद से उन्हें मिथ्यात्व को प्राप्त करने वाले कहे हैं लेकिन सम्यग्‌मिथ्यात्व व सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले नहीं कहे है।

नेरइयाणं भते ! किं सम्मत्ताभिगमी, मिच्छत्ताभिगमी, सम्मा-मिच्छत्ताभिगमी ? गोयमा ! सम्मत्ताभिगमी वि मिच्छत्ताभिगमी वि सम्मामिच्छत्ताभिगमी वि, एव जाव वेमाणिआ। नवर एगिंदियविग-लिंदिया णो सम्मत्ताभिगमी, मिच्छत्ताभिगमी, नो सम्मामिच्छत्ताभि-गमी।

—प्रज्ञापना पद १४।सू २०४६ ५०

टीका - ××× नवरमेकेन्द्रियाणां विकलेन्द्रियाणां केषांचित् सासादनसम्यक्त्वमपि लभ्यते तथापि ते मिथ्यात्वाभिमुखा इति सदपि तन्न न विवक्षित।

अर्थात् एकेन्द्रियों तथा विकलेन्द्रियों का बाद होकर नैरयिकों से वैमानिक देवोंतक के दडक—सम्यक्त्वाधिगामी ( सम्यक्त्वको प्राप्तिवाले ) भी होते हैं, मिथ्यात्वाधिगामी भी होते हैं, सम्यग्‌मिथ्यात्वाधिगामी भी होते हैं। एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रिय जीव मिथ्यात्वाधिगामी होते हैं लेकिन सम्यक्त्वाधिगामी तथा सम्यग्‌मिथ्यात्वाधिगामी नहीं होते हैं। लेकिन अध्यवसाय—एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय मे प्रशस्त भी होते हैं।[1]

जब मिथ्यात्वी को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से विभंग ज्ञान उत्पन्न

(१) भग० श २४

होता है उस समय शुभ परिणाम, विशुद्ध लेश्या के साथ प्रशस्त—शुभ अध्यवसाय भी होते हैं। कहा है —

( असोच्चाणं भंते ! ) ××× अण्णया कयावि सुभेणं, अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं ××× विब्भंगे नामं अण्णाणे समुप्पज्जइ।

—भग० श ९। उ ३१। प्र ३३

अर्थात् बालतपस्वी को (मिथ्यात्वी का तप) किसी दिन शुभ अध्यवसाय, शुभपरिणाम और विशुद्ध लेश्या आदि के कारण विभंग अज्ञान उत्पन्न होता है।

मिथ्यात्वी जब सम्यक्त्वको प्राप्त करता है तब उसे विशुद्ध लेश्या और शुभ-परिणाम के साथ शुभ अध्यवसाय भी होते हैं।—

अस्तु मिथ्यात्वी के प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के अध्यवसाय होते हैं।[1] सभी दंडकों के जीवों मे सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव अधिक होते होते है। सम्यग्दृष्टि जीवों को जब अवधिज्ञान या मनः पर्यव ज्ञान उत्पन्न होता हैं उस समय शुभपरिणाम और विशुद्ध लेश्या के साथ शुभ अध्यवसाय भी होते हैं। भगवान महावीर को छद्मस्थावस्था के पाँचवें चतुर्मास मे भद्दिलपुर-नगर मे शुभअध्यवसाय आदि से लोकप्रमाण अवधिज्ञान समुत्पन्न हुआ।[2]

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों के भी प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के अध्यवसाय होते हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि मिथ्यात्वी, सम्यक्त्वी और सम्यग्-मिथ्यात्वी मे प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के अध्यवसाय होते हैं।

यह ध्यानमें रहे कि मिथ्यात्वी के लेश्या-अशुभ होते हुए भी अध्यवसाय प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं। चूंकि लेश्या से अध्यवसाय सूक्ष्म है—उदाहरणतः—पर्याप्त असंज्ञी पचेन्द्रिय जीवों में तीन अशुभ लेश्या होती हैं लेकिन अध्यवसाय-प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के हो सकते हैं —

---

(१) भगवती श २४।उ १ से २४

(२) शुभैरध्यवसायैर्विशुद्ध्यमानस्य लोकप्रमाणोऽवधिरभूत्।

आव० निगा ४८६। टीका

"पज्जत्ताअसण्णिपंचिदियतिरिक्खजोणिए ××× । तेसि णं भंते ! जीवा णं कइ लेस्साओ पण्णत्ताओ गोयमा ! तिण्णि लेस्साओ पण्णत्ताओ, तंजहा—कण्हलेस्सा, नीललेस्सा, काउलेस्सा । तेणं भते ! जीवा किं समदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी ? गोयमा ! णो सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, णो सम्मामिच्छादिट्ठी ।

तेसिणं भते ! जीवाणं केवइया अज्झवसाणा पण्णत्ता ! गोयमा ! असखेज्जा अज्झवसाणा पन्नत्ता ! तेण भन्ते ! किं पसत्था, अप्पसत्था ? गोयमा ! पसत्था वि, अप्पसत्था वि ।

—भग० श २४। उ १।प्र १२ १३,२४, २५

अर्थात् पर्याप्त असज्ञो पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिक जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं, मिथ्यादृष्टि होते हैं तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं होते हैं, कृष्णलेश्या, नील लेश्या और कापोतलेश्या (तीन अशुभलेश्या) होती है । उनके अध्यवसाय स्थान असंख्यात हैं वे अध्यवसाय प्रशस्त भी होते हैं, अप्रशस्त भी ।

अस्तु मिथ्यात्वी के प्रशस्त अध्यवसाय भी होते हैं तथा अप्रशस्त अध्यवसाय भी ।

## ४ · मिथ्यात्वी और भावना ( अनुप्रेक्षा )

मोक्षाभिलाषी व्यक्ति के लिये आवश्यक है कि वह भावना के द्वारा ज्ञान, दर्शन-चारित्र की वृद्धि करे । अनित्यादि अनुप्रेक्षाओं मे जब बार बार चिन्तन धारा चालू रहती है तब वे ज्ञान रूप है, पर जब उनमें एकाग्र चिंता होकर चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती तब उसे धर्म ध्यान कहते हैं । कहा है—

अनित्यादिविषयचिंतन यदा ज्ञानं तदा अनुप्रेक्षा व्यपदेशो भवति, यदा तत्रैकाग्रचिंतानिरोधस्तदा धर्मध्यानम् ।

—राजवार्तिक अ ९।३७

अर्थात् अनित्यादि भावनाओं मे जब विषय का चिन्तन रहता है तब वे ज्ञान रूप है तथा जब एकाग्र चित्त हो जाता है तब उसे धर्म ध्यान कहते हैं । अनुप्रेक्षा—भावना के निम्नलिखित बारह प्रकार हैं[1]—

---

१ अनित्याशरणससारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्म-स्वाख्यात तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा।—तत्त्वार्थ ९।७

(१) अनित्य भावना, (२) अशरणभावना, (३) संसार भावना (४) एकत्व भावना, (६) अशुचि भावना, (७) आश्रव भावना, (८) संवर भावना, (९) निर्जरा भावना, (१०) लोक भावना, (११) बोधिदुर्लभ भावना और (१२) धर्म भावना।

अस्तु मिथ्यात्वी मोक्ष की अभिलाषा रखता हुआ उपर्युक्त बारह भावना का चिन्तन करे। भावनाएँ मनुष्य के जीवन पर कैसा असर करती है यह बात भरत चक्रवर्ती, अनाथी, नमि राजर्षि आदि महापुरुषों के जीवन का अध्ययन करने से अच्छी प्रकार मालूम हो जाता है। भरत चक्रवर्ती ने अनित्य भावना के द्वारा आरिसा भवन मे केवल ज्ञान उत्पन्न किया। मिथ्यात्वी भावनाओं के द्वारा बहिरात्मा से अन्तरात्मा बन सकता है। चित्त की शुद्धि के लिए एव आध्यात्मिक विकास की ओर उन्मुख करने के लिए भावनाएँ परम सहायक सिद्ध हुई है। मोक्षाभिलाषी आत्मा इसका बार-बार चिन्तन करते है अतः इसका नाम भावना है।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं, यथा—

धम्मस्स ण झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—एगाणुप्पेहा, अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, ससाराणुप्पेहा।

—ठाणांग ४। उ १। सू ६८

अर्थात् धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ भावनाएँ हैं,—एकत्व भावना, अनित्यत्व भावना, अशरण भावना, संसार भावना।

बारह भावनाओं मे भी इन चारों भावनाओं का उल्लेख है। मिथ्यात्वी इन चारों भावनाओं के द्वारा धर्मध्यान मे अग्रसर हो।

राजवार्तिक मे अकलंकदेव ने कहा है—

अनुप्रेक्षा हि भावयन् उत्तमक्षमादींश्च परिपालयति।

—राजवार्तिक अ ९। सू ७। पृ० ६०७

अर्थात् अनुप्रेक्षाओं को भावना करनेवाला उत्तम क्षमादि धर्मों का पालन करता है।

अतः सिद्ध हो जाता है कि मिथ्यात्वी के अनित्यादि बारह हो भावना हो सकती है।

उत्तराध्ययन में कहा है—

लद्धूण वि आरियत्तणं, अहीण पंचिंदियया हु दुलहा।
विगलिंदियया हु दीसई, समयं गोयमा! मापमायए॥

—उत्तरा० अ० १०।१७

अर्थात् मनुष्य भव और आर्य देश में जन्म प्राप्त करके भी पाँचों इन्द्रियों का पूर्ण होना, निश्चय ही दुर्लभ है क्योंकि बहुत से मनुष्यों में भी इन्द्रियों की विकलता देखी जाती है अत: वे धर्माचरण करने में असमर्थ रहते हैं अतः हे गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

उत्तम धर्म का श्रवण प्राप्त करके भी उस पर श्रद्धा और भी कठिन है क्योंकि अनादि कालीन अभ्यास वश मिथ्यात्व का- सेवन करने वाले बहुत से मनुष्य दिखाई देते हैं।[1]

अत· मिथ्यात्वी अनित्यादि भावना के द्वारा अन्तर्जगत का द्वार खोले। अथवा मिथ्यात्वी को सत्व-प्राणी मात्र के विषय मे मैत्री भावना, गुणाधिकों के विषय में प्रमोद भावना, क्लिश्यमानों के विषय मे कारुण्य भावना और अविनेय (तीव्रमोही, गुणशून्य दुष्ट परिणाम वाले) जीवों के विषय मे माध्यस्थ भावना रखनी चाहिये।

भावना के द्वारा मिथ्यात्वी भवग्रन्थि को छेद कर जल्द ही सम्यग्दर्शनी हो जाता है। बाल तपस्वी तामली तापस ने—अनित्य जागरणा—अनित्य भावना द्वारा कर्मग्रन्थि का भेदन किया।[2]

## ५ · मिथ्यात्वी और ध्यान

मिथ्यात्वी के चार ध्यान—( आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान ) में से प्रथम तीन ध्यान का विवेचन कई स्थल पर मिलता है। धर्मध्यान की भावना मे 'अनित्यचिंतन' भी एक भावना है—

---

(१) लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुलहा।
मिच्छत्तणिसेवए जणे ×××।

—उत्त० १०।१९

(२) भगवती श ३। उ १। प्र १७।

धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पन्नत्ताओ, तंजहा—अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, एगत्ताणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा।

—उववाई सूत्र ४३

अर्थात् धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षा-भावना कही गई है—यथा, १. अनित्यानुप्रेक्षा—संसार की अनित्यता का विचार करना, २. अशरणानुप्रेक्षा—संसार में धर्म को छोड़कर कोई शरण देने वाला नहीं है, ऐसा चिंतन करना ३. एकत्वानुप्रेक्षा—जीव अकेला आता है, अकेला जाता है—ऐसा चिंतन करना और ४. संसारानुप्रेक्षा—जीव संसार में कर्मों के द्वारा परिभ्रमण करता है—ऐसा चिंतन करना।

भगवती सूत्र में तामलीतापस ने प्रथम गुण स्थान की अवस्था में अनित्यचिन्तवना—अनित्य भावना का चिंतन किया।

"तए णं तस्स तामलिस्स बालतवस्सिस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकाल समयंसि अणिच्चजागरियं जागरमाणस्स इमेया रूवे अज्झत्थिए चिन्तिए जाव समुप्पज्जित्था।

—भगवती श० ३। उ० १। प्र ३६

तामली तापस ( बालतपस्वी ) ने ६० हजार वर्ष तक बेले-बेले ( छट्ठ-छट्ठ भत्त तप ) की तपस्या की—उससे उसके बहुत कर्मों की निर्जरा हुई। इस पाठ में कहा गया कि तामली तापस—बालतपस्वी ने एक समय मध्य रात्रि में अनित्य जागरण—अनित्य चिंतवना ( धर्मध्यान का एक भेद ) का चिंतन किया—इस प्रकार का अध्यात्म उत्पन्न हुआ। अनित्य चिंतन करना अर्थात् संसार अनित्य है—ऐसा चिंतन करना निरवद्यानुष्ठान से कर्मों का क्षय कर, अंत में सम्यक्त्व को प्राप्त कर दूसरे देवलोक में—वैमानिक देव में इन्द्र (ईशानेन्द्र) रूप में उत्पन्न हुआ। इसके बाद वह एक मनुष्य के भव में उत्पन्न होकर सर्व कर्मों का क्षय करेगा। यदि वह बाल तपस्वी अवस्था में निरवद्यानुष्ठान—तपस्यादि का अवलंबन नहीं लेता तो उसके कर्म-क्षय नहीं होते—कर्मों की निर्जरा के बिना सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर पाता।

प्रथम गुणस्थान में ग्रन्थों में भी धर्म-ध्यान का उल्लेख मिलता है। आगमों में तो अनेक स्थल पर धर्मध्यान का उल्लेख मिलता है। उत्तराध्यन अ० १४

गा० ३१, ३२ मे शुक्ललेश्या के लक्षण मे धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान—दोनों ध्यानों का उल्लेख मिलता है—

**अट्टारूद्दाणि वज्जित्ता, धम्मसुक्काणि झायए × × × सुक्कलेस तु परिणामे।**

अर्थात् आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्मध्यान या शुक्लध्यान को ध्यावित करना—शुक्ललेश्या का लक्षण हैं। यह निर्विवाद है कि शुक्लध्यान—संयती मुनि मे ही होता है। जैसा कि युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी ने जैन सिद्धांत दीपिका मे कहा है—

**"धर्मध्यानम् एतच्च आद्वादशगुणस्थानात्।**

**× × × शुक्लध्यानम्—आद्यद्वय सप्तमगुणस्थानाद् द्वादशान्त भवति। शेषद्वयं च केवलिनो योनिरोधावसरे।"**

—प्रकाश ५

अर्थात् धर्मध्यान बारहवें गुणस्थान तक—पहले से बारहवें गुणस्थान तक होता है। शुक्लध्यान के चार भेद है। उनमे से प्रथम के दो भेद सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होते हैं और शेष दो केवलज्ञानी के योगनिरोध के समय—तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान मे होते हैं। अत: मिथ्यात्वी के प्रशस्त अध्यवसाय, शुभयोग, विशुद्धलेश्या और धर्मध्यान भी होता है। धर्मध्यान—तप-निर्जरा का भेद हैं।

आगमों मे कहा है कि कतिपय मिथ्यात्वी शुभ ध्यानादि के द्वारा इसी भव मे सम्यक्त्व को प्राप्त कर, भाव संयम को ग्रहणकर केवलज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

**शुभध्यान हि कामधुक्**

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व १०।सर्ग ३। श्लो ४६९ उत्त०

अर्थात् शुभध्यान कामधेनू की तरह सर्व मनोरथों की पूर्ति करने वाला है। अत: मिथ्यात्वी शुभध्यान करने का प्रयास करे।

यह लोक ध्यान के आलम्बनों से भरा हुआ है। ध्यान मे मन लगाने वाला मिथ्यात्वी मन से जिस वस्तु को देखता है वह वस्तु ध्यान का आलम्बन होती

है। बारह अनुप्रेक्षाएँ आदि ध्यान करने योग्य हैं।[1] अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन करने से मिथ्यात्वी धर्मध्यान में सुभावित चित्त वाला होता है। ध्यान के द्वारा वह 'भावितात्मा अणगार' के पद को प्राप्त कर सकता है। धर्मध्यान में विशुद्ध लेश्या होती है। कहा है—

एदम्हि धम्मज्झाणे पीय-पउम सुक्कलेस्साओ तिण्णि चेव होंति, मद-मंदयर-मदतमकसाएसु एदस्स झाणस्स संभवूलंभादो। एत्थ गाहा—

होंति कमविसुद्धाओ लेस्साओ पीय-पउम-सुक्काओ।
धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्व-मदादिभेयाओ।

—षट्खंडागम ५,४,२६। पु १३। पृ० ७६

अर्थात् धर्मध्यान को प्राप्त हुए जीव के तीव्र-मदादि भेदों को लिए हुए क्रम से विशुद्धि को प्राप्त हुई पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होती है। धर्मध्यान मोक्ष का हेतु है। कहा है—

परे मोक्ष हेतू —तत्त्वार्थ ६।३०

भाष्य —धर्मशुक्ले मोक्षहेतू भवतः।

अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण है।

आचार्य शुभचद्र ने ज्ञानार्णव मे धर्मध्यान के चार भेदों का कथन किया है—

पिण्डस्थ च पदस्थ च रूपस्थ रूपवर्जितम्।
चतुर्द्धा ध्यानमाम्नात भव्यराजीवभास्करैः॥

— ज्ञानार्णव प्रकरण ३७।श्लोक १

अर्थात् ध्यान (धर्मध्यान) के चार प्रकार है—यथा—

(१) पिण्डस्थ—पार्थिव आग्नेयी आदि पाँच धारणाओं का एकाग्रता से चिंतन करना।

(२) पदस्थ—किसी पद के आश्रित होकर मन को एकाग्र करना।

(३) रूपस्थ—अरिहत भगवान की शांत दशा को स्थापित करके स्थिर चित्त से उनका ध्यान करना।

(४) रूपातीत—रूपरहित निरंजन निर्मल सिद्ध भगवान का आलंबन लेकर उसके साथ आत्मा की एकता का चिंतन करना।

---

(१) षट्खंडागम ५, ४। २६। पु १३। पृ० ७०

मिथ्यात्वी उपर्युक्त चार ध्यानों को संयति—साधु के पास समझ कर ध्यान का अभ्यास करे।

भगवान महावीर ने छद्मस्थावस्था मे गोशालक के साथ छह वर्ष रहे तथा अनित्यचिन्तवना भी की। कहा है —

तएणं अहं गोयमा ! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं पणियभूमीए छव्वासाइं लाभं, अलाभं, सुहं, दुक्खं सक्कारमसक्कारं पच्चणुब्भवमाणे अणिच्चजागरियं विहरित्था।

—भगवती श १५, सू ५६

अर्थात् भगवान महावीर मखलिपुत्र गोशालक के साथ प्रणीतभूमि (मनोज्ञ भूमि—भांड विश्राम स्थान) मे लाभ, अलाभ सुख-दुःख, सत्कार-असत्कार का अनुभव करते हुए और अनित्य चिंतन (अनित्य भावना) करते हुए छः वर्ष तक विचरे।

अस्तु भगवान छद्मस्थावस्था में अनित्य भावना द्वारा भावित रहे। अनित्य भावना -छद्मस्थावस्था मे ही हो सकती है, केवली अवस्था मे नहीं। चूंकि अनित्य भावना -धर्म ध्यान की चार भावनाओं मे से एक भावना है। केवली के योगनिरोध के समय शुक्ल ध्यान होता है, धर्मध्यान नही ; अनित्य भावना प्रथम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक होती है।

वैश्यायन बालतपस्वी ने धर्मध्यान द्वारा आत्म-चिंतन किया -कहा है —

वेशिकासूनुरित्यासीत्स नाम्ना वैशिकायन ।
तदैवविषयोद्विग्न आददे तापस व्रतम् ॥
स्वशास्त्राध्ययनपर स्वधर्मकुशलः क्रमात् ।
कूर्मग्रामे स आगच्छच्छ्रीवीरागमनाग्रतः ॥
तद्बहिश्चोर्ध्वदोर्दंडः सूर्यमण्डलदत्तदृक् ।
लम्बमानजटाभारो न्यग्रोधद्रुरिवस्थिरः ॥
निसर्गतो विनीतात्मा दयादाक्षिण्यवान् शमी ।
आतापनां स मध्याह्ने धर्मध्यानस्थितोऽकरोत् ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०। सर्ग ४। श्लोक १०६ से ११२

अर्थात् वेशिका का पुत्र वेशिकायन नाम प्रसिद्ध हुआ। उसने अपनी माता को भी धर्ममार्ग मे स्थापित किया। कालान्तर मे विषय से उद्विग्न होकर तापस व्रत ग्रहण किया। स्वयं शास्त्र के अध्ययन मे तत्पर और स्वधर्म मे कुशल विहरण करता हुआ—भगवान महावीर के आगमन के पूर्व कूर्मग्राम मे आया। उस ग्राम के बाहर मध्याह्न समय मे ऊँचे हाथ कर, सूर्यमण्डल के सम्मुख दृष्टि रखकर, लंबमान जटा रखकर स्थिर था। स्वभाव से विनीत, दया दाक्षिण्य से युक्त और समतावान् वेशिकायन धर्मध्यान मे तत्पर मध्याह्न समय में आतापना लेता था।[1]

अतः प्रथम गुणस्थान मे धर्मध्यान होता है।

## ६ : मिथ्यात्वी और गुणस्थान

आत्मा के क्रमिक विकास की अवस्था का नाम—गुणस्थान है। गुणस्थान का निरूपण जीवों के गुण की अपेक्षा किया गया है। समवायांग सूत्र में कहा है—

कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पन्नत्ता, तंजहा—मिच्छादिट्ठी सासायणसम्मदिट्ठी × × ×।

—समवायांग समवाय १४, सू ५

टीका—'कम्मविसोही' त्यादि कर्मविशोधीमार्गणां प्रतीत्य—ज्ञानावरणादिकर्मविशुद्धिगवेषणामाश्रित्य चतुर्दशजीवस्थानानि—जीवभेदाः प्रज्ञप्ता:, तद्यथा—मिथ्या-विपरीता दृष्टिर्यस्यासौ मिथ्यादृष्टिः—उदितमिथ्यात्वमोहनीयविशेष।

अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि कर्म विशुद्धि की अपेक्षा जीवस्थान (गुणस्थान) चतुर्दश कहे गये हैं।[2] जिसमे मिथ्यादृष्टि का प्रथम गुणस्थान है। मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के उदय विशेष से जीव विपरीत श्रद्धा करता है। मिथ्यात्वी मे ज्ञानावरणीयादि कर्मो का क्षयोपशम पाया जाता है उस अपेक्षा से उसका गुणस्थान है।

सूयगडांग सूत्र के टीकाकार आचार्य शीलांक ने कहा—

मिथ्याविपरीता दृष्टिर्येषान्ते मिथ्यादृष्टयः।

—सूय० १।२।२।गा ३२। टीका

---

१—भगवती श १५  २—षट्० ख ३। सू३।पु१। पृ० २

अर्थात् जिसकी विपरीत दृष्टि है वह मिथ्यादृष्टि है। प्रवचनसारोद्धार में कहा है—

तत्र मिथ्या—विपर्यस्ता दृष्टिः—अर्हत्प्रणीततत्त्वप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितधत्तूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टि, गुणाः—ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषा, तिष्ठन्ति गुण अस्मिन्निति स्थानं—ज्ञानादिगुणानामेवं शुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृत स्वरूपभेदः, गुणानां स्थानं गुणस्थान। —सूय० २।२।२ गा० ३२। टीका

अर्थात् जिसकी विपरीत दृष्टि है उसका प्रथम गुणस्थान है, उस प्रथम गुणस्थान मे ज्ञानादि जो गुण पाये जाते हैं उस अपेक्षा से प्रथम गुणस्थान है। यदि प्रथम गुणस्थान मे ज्ञानादि गुण का सर्वथा अभाव होता तो मिथ्यादृष्टि को प्रथम गुणस्थान मे सम्मिलित नहीं किया जाता है। जैसे कि कहा है—

मिथ्यादृष्टेर्गुणस्थानं सासादनाद्यपेक्षया ज्ञानादिगुणानां शुद्ध्यपकर्षकृतः स्वरूपभेदो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं। ननु यदि मिथ्यादृष्टिरसौ कथ तस्य गुणस्थानसभवः? गुणा हि ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा, तत्कथं ते दृष्टौ ज्ञानादिविपर्यस्तायां भवेयु? उच्यते, इह यद्यपि तत्त्वार्थश्रद्धानल क्षणात्मगुणसर्वघातिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयविपाकोदयवशाद्वस्तु प्रतिपत्तिरूपा दृष्टिरसुमतो विपर्यस्ताभवति तथापि काचिन्मनुष्य पश्वादिप्रतिपत्तिरन्ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्ताऽपि भवति, तथाऽतिबहलघनपटलसमाच्छादितायामपि चन्द्रार्कप्रभायां काचित्प्रभा, तथाहि समुन्नतनूतनघनाघनघनपटलेनरवि रजनिकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि नैकान्तेन तत्प्रभाविनाश सपद्यते, प्रतिप्राणीप्रसिद्ध दिनरजनिविभागाभावप्रसगात्, उक्तं च—

"सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पहा चदसुराण" मिति, एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदयेऽपि काचिद् विपर्यस्तापि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसभवः, यद्येव ततः कथमसौ मिथ्यादृष्टिरेव मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्त्यपेक्षया अततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्त्यपेक्षया वा सम्यग्दृष्टित्वादपि? नैष दोषः, यतो भगवदर्हत्प्रणीत सकलपि प्रचनार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि

तद्गतमेकमप्यक्षरं न रोचयति तदानीमप्येष मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते, तस्य भगवति सर्वज्ञे प्रत्यनाशात्, उक्तं च—

सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरः।
मिथ्यादृष्टि सूत्रं हि न प्रमाण जिनाभिहितम्।

—प्रवचनसारोद्धार गा १३०२। टीका

अर्थात् गुणस्थान का प्रतिपादन —गुणों की अपेक्षा से किया गया है। सब जीवों मे आत्मा की उज्ज्वलता प्राप्त होती है, चाहे वह आंशिक रूप मे भी क्यों न हो। यद्यपि मिथ्यादृष्टि मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण विपरीत दृष्टि रखता है फिर भी वह जिन तत्त्व, तत्त्वांशों पर अविपरीत दृष्टि रखता है उस अपेक्षा से वह सम्यग्दृष्टि की बानगी रूप है तथापि अर्हत् प्ररूपित आगमों मे पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ भी यदि उस मे एक भी अक्षर को विपरीत श्रद्धता है तो भगवान ने उसे मिथ्यादृष्टि कहा है—

जैन दर्शन के महान् चिंतक मुनिश्री नथमलजी ने 'जीव-अजीव' मे कहा है—

मिथ्यादृष्टि अर्थात् तत्त्व श्रद्धान से विपरीत है जिसकी दृष्टि वह है मिथ्यादृष्टि, उसका गुणस्थान है—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।

मिथ्यात्वी की क्षायोपशमिक दृष्टि का नाम भी मिथ्यादृष्टि है उसका गुणस्थान भी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

ये दोनों मिथ्यादृष्टि गुणस्थान की परिभाषाएँ हैं। पहली परिभाषा मे गुणी ( व्यक्ति ) को लक्ष्य कर, उसमे पाये जाने वाले गुण को गुणस्थान कहा है और दूसरी परिभाषा में व्यक्ति को गौण मानकर केवल क्षायोपशमिक दृष्टि को ही गुणस्थान कहा है। इन दोनों का अर्थ एक है, निरूपण के प्रकार दो हैं—पहली परिभाषा के अनुसार विपरीत दृष्टि वाले पुरुष मे जो क्षायोपशमिक गुण है वह गुणस्थान है और दूसरी परिभाषा के अनुसार दृष्टि-श्रद्धा क्षायोपशमिक गुण है, वह मिथ्यात्वयुक्त पुरुष मे होने के कारण मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहलाता है। कर्मग्रन्थ मे देवेन्द्रसूरि ने कहा है :—

ननु यदि मिथ्यादृष्टि तत कथं तस्य गुणस्थानसंभव ? गुणा हि ज्ञानादिरूपा, तत् कथ ते दृष्टौ विपर्यस्तायां भवेयुः ? इति, उच्यते—इह

यद्यपि सर्वथाऽतिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयोदयात् अर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिरूपा दृष्टिरसुमतोविपर्यस्ता भवति तथापि काचिद् मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिरविपर्यस्ता, ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताऽव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिरविपर्यस्ताऽपि भवति, अन्यथाऽजीवत्वप्रसंगात्।

सुट्ठु वि मेहसमुदए होइ पहा चंदसूराणं। ( नन्दी पत्र० १९५-२ ) इति। एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदयेऽपि काचिदविपर्यस्ताऽपिदृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसंभव।

—कर्मग्रंथ भाग २। पृ० ६८

अर्थात् मिथ्यादृष्टि अति प्रबल मोहनीय कर्म के उदय से अर्हत् प्रणीत जीवादि तत्वों पर विपरीत दृष्टि रखता है, फिर भी वह जिन तत्व-तत्वांशों पर अविपरीत दृष्टि रखता है, उस अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि का प्रथम गुणस्थान है—यथा, मेघ के आवरण होने पर भी सूर्य-चन्द्र की प्रभा का अस्तित्व कुछ न कुछ रहता ही है, उसी प्रकार ( अभव्य निगोद आदि जीवों के भी ) मिथ्यादृष्टि के कुछ न कुछ मोहनीय आदि कर्मों का क्षयोपशम रहता ही है। आगे कर्मग्रन्थ मे देवेन्द्रसूरि ने कहा है —

यद्येवं तत कथमसौ मिथ्यादृष्टिरेव? मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्त्यपेक्षया अन्ततोनिगोदावस्थायामपि तथाभूताऽव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्त्यपेक्षया वा सम्यग्दृष्टित्वादपि, नैव दोष, यतो भगवदर्हत्प्रणीत सकलमपि द्वादशांगार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तद् गदितमेकमप्यक्षर न रोचयति तदानीमप्येष मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते।

—कर्मग्रन्थ भाग २। पृ० ६८

अर्थात् यह कहना असगत नहीं है कि मिथ्यादृष्टि मे मनुष्य, पशु आदि को जानने की अविपरीत दृष्टि होती है। यहाँ तक कि निगोद अवस्था में भी अव्यक्त स्पर्शमात्र अविपरीत दृष्टि होती है। उस अपेक्षा से वह सम्यग्दृष्टि है, तथापि भगवद्-अर्हत् प्रणीत सकल द्वादशांगी अर्थ के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ—यदि उसमें से एक भी अक्षर को सम्यग् नहीं श्रद्धता है तब भी उसे मिथ्यादृष्टि कहा गया है।

लोकप्रकाश में कहा है—

तत्र मिथ्या विपर्यस्ता, जिनप्रणीतवस्तुषु ।
दृष्टिर्यस्य प्रतिपत्तिः, स मिथ्यादृष्टिरुच्यते ॥
यस्तु तस्य गुणस्थान, सम्यग्दृष्टिमबिभ्रत ।
मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं, तदुक्तं पूर्वसुरिभिः ॥
ननु मिथ्यादृशां दृष्टेर्विपर्यासात्कुतोभवेत् ।
ज्ञानादिगुणसद्भावो, यद्गुणस्थानतोच्यते ॥
अत्र ब्रूमः ॥
भवद्यद्यपि मिथ्यात्ववतामसुमतामिह ।
प्रतिपत्तिर्विपर्यस्ता, जिनप्रणीतवस्तुषु ॥
तथापि काचिन्मनुजपश्वादिवस्तुगोचरा ।
तेषामप्यविपर्यस्ता, प्रतिपत्तिर्भवेद् एवम् ॥
आस्तामन्ये मनुष्याद्या, निगोददेहिनामपि ।
अस्त्यव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्तिर्यथास्थिता ॥
यथा घनघनच्छन्नेऽर्केऽपि स्यात्काऽपि तत्प्रभा ।
अनावृत्ता न चेद्रात्रिदिना भेदः प्रसज्यते ॥

—लोकप्रकाश-द्रव्यलोक पृ० ४८१,८२

अर्थात् मिथ्या अर्थात् सर्वज्ञ देव के द्वारा कथित पदार्थों मे विपरीत जिसकी दृष्टि होती है उसे मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं । सम्यग्दृष्टि को नही धारण करने वाले उन मिथ्यादृष्टि जीवों का पूर्वाचार्यों ने मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहा है । प्रश्न हो सकता है कि मिथ्यादृष्टि जीवों की विपरीत दृष्टि होने के कारण उनमे ज्ञानादि गुणों का सद्भाव कैसे हो सकता है जिससे कि उनका गुणस्थान कहा जाय । इसका समाधान यह है कि यहाँ सर्वज्ञ प्रभु द्वारा कथित पदार्थों मे मिथ्यात्वी जीवों को विपरीत श्रद्धा होती है फिरभी मनुष्य, पशु आदि पदार्थों मे उन्हें किंचित् अविपरीत श्रद्धा ( मनुष्य को मनुष्य रूप, पशु को पशुरूप मानने रूप ) भी निश्चित रूप से होती है मनुष्यादि को छोड़कर निगोद जीवों मे भी अविपरीत ऐसा अव्यक्त स्पर्शमात्र का ज्ञान होता है—

जैसे गाढ़ मेघ से आच्छादित सूर्य और चंद्र की किंचित् प्रभा रहती ही है, यदि ऐसा नही होता तो रात्रि और दिन का अभेद होता।

प्रथम गुणस्थान में भी शुद्धि-अशुद्धि की तरमता के कारण अनेक भेद होते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव में भी साधुओं को नमस्कार करने की, शुद्ध दान देने की प्रवृत्ति देखी जाती है।

चूँकि मिथ्यात्वी का गुणस्थान प्रथम है। प्रथम गुणस्थान में निम्नलिखित आलाप होते हैं।

चोदह जीव समास, छह पर्याप्तियाँ, दस प्राण, चार संज्ञा, चार गति, एकेन्द्रिय आदि पाँच जाति, पृथ्वीकाय आदि छह काय, तीन वेद, चार कषाय, तीन अज्ञान, चक्षुआदि तीन दर्शन, तेरह योग, द्रव्य और भाव की अपेक्षा छह लेश्या, भव्यसिद्धिक-अभव्यसिद्धिक, मिथ्यात्व, संज्ञिक-असंज्ञिक, आहारक-अनाहारक, साकारोपयोगी और अनाकारोपयोगी।[1]

## ७. मिथ्यात्वी और धर्म के द्वार

धर्म के चार द्वार है—यथा क्षांति, मुक्ति-निर्लोभता, आर्जव और मार्दव।[2] मिथ्यात्वी इन चारों धर्म द्वारों की आराधना देशत. कर सकता है। क्रोध का प्रतिपक्ष क्षांति धर्म है, मान का प्रतिपक्ष मार्दव धर्म है, माया का प्रतिपक्ष आर्जव धर्म है और लोभ कषाय का प्रतिपक्ष धर्म मुक्ति-निर्लोभता है। क्षांति आदि दस धर्मों मे भी इन सबका नाम आया है।—ठाणांग सूत्र में कहा है—

दसविधे समणधम्मे पन्नत्ते, तजहा - खती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संयमे, तवे, चियाते, बभचेरवासे।

—ठाणांग ठाणा १०, सू १६

अर्थात् श्रमणधर्म दस प्रकार का है, यथा —क्षांति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्यवास।

---

१ —षट्खण्डागम १, १, पु २। पृ० ४२३ से ४२५

२—चत्तारि धम्म द्वारा पन्नत्ता, तजहा—खंती, मुत्ती, अज्जवे मद्दवे। —ठाणांग ४।४। सू ३२७

उपर्युक्त दस धर्मों मे से मिथ्यात्वी आंशिक धर्म की आराधना कर सकता है। धर्म के द्वार सबके लिए खुले हुए हैं। उत्तराध्ययन में कहा है—

धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

—उत्त० अ० ३।१२

अर्थात् धर्म पवित्र आत्मा में ठहरता है। अब क्यों नहीं मिथ्यात्वी शुभ अध्यवसाय से धर्मरूप द्वारों की आराधना कर सकते हैं। प्रकृति की भद्रता, विनीतता आदि गुण निरवद्य है तथा इन अवस्थाओं में मिथ्यात्वी मनुष्य या देव-गति के आयुष्य का बंधन करता है अतः मिथ्यात्वी भी क्षांति, आर्जव, मार्दव और मुक्ति-निर्लोभता आदि धर्म द्वारों की देशतः आराधना कर सकते हैं। निरवद्य कार्य में भगवान् ने धर्म कहा है। 'आणाए धम्माए[1]' भगवान की आज्ञा मे धर्म है।

योगशास्त्र मे आचार्य हेमचन्द्रने कहा है—

पूर्वमप्राप्तधर्माऽपि परमानन्दनन्दिता।
योगप्रभावतः प्राप्ता मरुदेवी परं पदम्॥

—प्रकाश १।११

टीका—मरुदेवा हि स्वामिनी आसंसारं त्रसत्वमात्रमपि नानुभूतवती किं पुनर्मानुषत्व तथापि योगबलसमृद्धेन शुक्लध्यानाग्निना चिरसंचितानि कर्मेन्धनानि भस्मसात्कृतवती।

यदाह—जह एगा मरुदेवा अच्चंत थावरा सिद्धा, ××× ननु जन्मान्तरेऽपि अकृतकुशलकर्मणां मरुदेवादीनां योगबलेन युक्तः कर्मक्षयः।

अर्थात् पहले किसी भी जन्म में धर्मसंपत्ति प्राप्त न करने पर भी योग के प्रभाव से मुदित (प्रसन्न) मरुदेवी माता ने परमपद-मोक्ष प्राप्त किया है। मरुदेवी माता ने पूर्व किसी भी जन्म मे सद्धर्म प्राप्त नहीं किया था और न त्रसयोनि प्राप्त की थी और न मनुष्यत्व का ही अनुभव किया था। केवल मरुदेवी के भव मे योगबल से मिथ्यात्व से सम्यक्त्व को प्राप्तकर, फिर समृद्ध शुक्लध्यानरूपी

१—आचारांग

महानल से दीर्घकाल संचित कर्मरूपी ईंधन को जलाकर भस्म कर दिया था। कहा है।

"जह एगा मरुदेवी अच्चंत थावरा सिद्धा" अर्थात् अकेली मरुदेवी ने दूसरी किसी गति में गए बिना व संसार—परिभ्रमण किये बिना सीधे वनस्पति पर्याय से निकल कर (अनादिनिगोद से प्रत्येक वनस्पतिकाय का भव ग्रहण किया, प्रत्येक वनस्पतिकाय से मरुदेवी बनी) मोक्ष प्राप्त कर लिया।"

तत्वतः मरुदेवी ने क्षमा, निर्लोभता, आर्जव और मार्दव का चारों धर्म द्वारों की आराधना कर मिथ्यात्व से सम्यक्त्व को प्राप्त किया।

आजीविक सम्प्रदाय अर्थात् गोशालक के साधु चार प्रकार का तप करते थे। कहा है—

आजीवियाणं चउव्विहे तवे पन्नत्ते, तंजहा—उग्गतवे, घोरतवे, रसनिज्जुहणया, जिब्भिंदियपडिसलीणया।

—ठाणांग ठाणा ४, उ २ सू ३५०

अर्थात् गोशालक के शिष्य चार प्रकार का तप करते थे -उग्रतप, घोर-तप, रसपरित्याग तथा जिह्वा-प्रतिसंलीनता।

यद्यपि आजीविक सम्प्रदाय के साधु-जैनमतानुयायी नहीं थे लेकिन उपर्युक्त चारों प्रकार का वे तप करते थे। उनका तप करना निरवद्य कार्य था। निर्जरा के बारह भेदों में प्रतिसंलीनता तप भी आया है फिर उसके चार भेदों में इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता भी है।

यदि मिथ्यात्वी सत्य वचन को ग्रहण कर असत्य का आचरण नहीं करता है वह निरवद्य है, जितने अंश में वह असत्य को छोड़ता है वह निरवद्य है। कहा है—

अणेगपासंड-परिग्गहियं, जं तं लोकम्मि सारभूयं।
गंभीरतरं महासमुद्दाओ, थिरतरगं मेरुपव्वयाओ।

—प्रश्नव्याकरण संवर द्वार २, सू १०

अर्थात् जैनेतर-अन्यतीर्थियों ने सत्य को ग्रहण किया है। सत्य लोक में

सारभूत है, महासमुद्र से भी गम्भीर है, मेरुपर्वत की तरह स्थिर है। उस सत्य के व्यापार को सावद्य कैसे कहा जा सकता है। निरवद्य सत्य की प्रशंसा वीतरागदेव ने की है उस सत्य के आचरण करने के अधिकारी मिथ्यात्वी—सम्यक्त्वी दोनों हो सकते हैं। सत्य की क्रिया निरवद्य है। जंबुद्वीप प्रज्ञप्ति तथा जीवाभिगम सूत्र में कहा है कि मिथ्यात्वी शुभ अध्यवसाय, शुद्धपराक्रमादि से वाणव्यंतर देवों में उत्पन्न होता है।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन रहित परन्तु शील क्रिया सहित बालतपस्वी को भगवान् ने देश आराधक कहा है। बालतपस्वी को संवर रूप व्रत नहीं होता है परन्तु निर्जरा होती है। कहा है—

"तामली तापस ६० हजार वर्ष तांई बेले २ तपस्या कीधी तेहथी घणा कर्मक्षय किया। पछे सम्यग्दृष्टि पाप मुक्तिगामी एकावतारी थयो।" × × ×। वली पूरण तापस १२ वर्ष बेले-बेले तप करी "घणा कर्म खपाया चमरेन्द्र थयो सम्यग्दृष्टि पामी एकावतरी थयो। इत्यादिक घणाजीव मिथ्याती थका शुद्ध[1] करणी थकी कर्म खपाया तेकरणी शुद्ध छे। मोक्षनो मार्ग छे।"

अस्तु एकांत अनार्य मिथ्यादृष्टि (आचार—श्रुतादिरहित) को सर्वविराधक कहा है।[2]

अस्तु मिथ्यात्वी धर्म की अंशतः आराधना कर सकते हैं।

---

(१) भ्रमविध्वंसनम् पृष्ठ ४

(२) भगवती श ८ उ १०

## तृतीय अध्याय

### १ : मिथ्यात्वी और करण—अकरण

मिथ्यात्वी अकरण (केवल अंतकरण) से भी सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं, जिसका विवेचन आगे किया जायगा।

मिथ्यात्वी करण से भी सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं। आत्मा के परिणाम विशेष को करण कहते हैं।[1] आचार्य हेमचन्द्र ने विशेषावश्यक भाष्य की वृत्ति मे कहा है:—

क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करणं सर्वत्र जीवपरिणाम एवोच्यते।

—विशेषावश्यक भाष्य गा० १२०२ टीका

अर्थात् कर्मक्षय करने का—जीव का परिणाम विशेष करण कहलाता है। करण के तीन भेद होते हैं—यथा—यथाप्रवृत्तिकरण (अधःप्रवृत्त), अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण।[2] अनादिकाल के पश्चात् मिथ्यादृष्टि जीव की कर्मक्षपण की प्रवृत्ति-प्रचेष्टा रूप अध्यवसाय विशेष को अधःप्रवृत्ति करण कहते हैं। षट्खण्डागम मे कहा है—

पढमसम्मत्तं संजम च अक्कमेण गेण्हमाणो मिच्छाइट्ठी अधापवत्तकरण-अपुव्वकरणं-अणियट्टिकरणाणि कादूण चेव गेण्हदि। तत्थ अधापवत्तकरणे णत्थि गुणसेडीए कम्मणिज्जरा गुणसकमो च। किन्तु अणतगुणाए विसोहीए विसुज्झमाणो चेव गच्छदि। तेण तत्थ कम्मसचओ चेव ण णिज्जरा।

—षट्० ४, २, ४, ६०।पु १०।पृ० २८०

प्रथम सम्यक्त्व और सयम को एक साथ ग्रहण करने वाला मिथ्यादृष्टि अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करण करके ही ग्रहण करता है। उनमें से अधःप्रवृत्तकरण मे गुणश्रेणि कर्मनिर्जरा और गुणसंक्रमण नहीं होता है, किन्तु

---

१—परिणामविशेष. करणम्—जैनसिद्धांत दीपिका ५।७

२—यथाप्रवृत्त्यपूर्वानिवृत्तिभेदात् त्रिधा—जैन सिद्धांत दीपिका ५।८

अनंतगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता ही जाता है । अतः अधःप्रवृत्त करण में कर्मसंचय ही है, निर्जरा नहीं है । विशेषावश्यक भाष्य में जिनभद्र क्षमाश्रमण ने कहा है —

करणं अहापवत्तं अपुव्वमनियट्टियमेव ।
इयरेसिं पढमं चिय भन्नइ करणं ति परिणामो ॥

टीका—इह भव्यानां त्रीणि करणानिभवन्ति, तद्यथा—यथाप्रवृत्तकरणम्, अपूर्वकरणम्, अनिवर्तिकरण चेति । तत्र येऽनादि-संसिद्धप्रकारेण प्रवृत्तं यथाप्रवृत्तं, क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करणं सर्वत्र जीवपरिणाम, एवोच्यते, यथाप्रवृत्तं च तत्करण च यथा-प्रवृत्तकरणम् एवमुत्तरत्रापि करणशब्देन कर्मधारयः, अनादिकालात् कर्मक्षपणप्रवृत्तोऽध्यवसायविशेषो यथाप्रवृत्तकरणमित्यर्थः । अप्राप्त-पूर्वम् स्थितिघात-रसघाताद्यपूर्वार्थ निर्वर्तक वाऽपूर्वम् । निवर्तन-शील निवर्ति, न निवर्ति-अनिवर्ति —आ सम्यग्दर्शनलाभाद् न निवर्तत इत्यर्थ । एतानि त्रीण्यपि यथोत्तरं विशुद्ध-विशुद्धतर-विशुद्धतमाध्यव-सायरूपाणि भव्यानां करणानि भवन्ति । इतरेषां त्वभव्यानां प्रथममेव यथाप्रवृत्तकरण भवति, नेतरे द्वे इति ।

—विशेषावश्यक भाष्य गा १२०२

अर्थात् अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करने वाले—मिथ्यात्वी जीव की जब आयुष्य कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मों की स्थिति कुछ कम एक कोड़ा-कोड़ सागर परिमित होती है तब वह जिस परिणाम से दुर्भेद्य रागद्वेषात्मक ग्रन्थि के पास पहुँचता है, उसको यथाप्रवृतिकरण कहते हैं । अनादिकाल से कर्मों का क्षय करने का अध्यवसायविशेष यथाप्रवृतिकरण है । इस करण को भव्य तथा अभव्य दोनों प्राप्त करते है । शेष के दो परिणाम अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण भव्य जीव ही प्राप्त करते हैं, परन्तु अभव्य जीव प्राप्त नहीं कर सकते हैं ।

यथाप्रवृत्तिकरण मे मिथ्यात्वी ग्रन्थि के समीप पहुँचता है । यथावृत्तिकरण पानी की तरह है । इस करण में मोह के स्थूल परत हट जाते हैं, परन्तु राग-द्वेष की ग्रन्थि नहीं टूटती । इस करण मे मिथ्यात्वी के प्रत्येक समय उत्तरोतर अनन्त

गुण विशुद्धि होती जाती है। इसका कालमान अन्तर्मुहूर्त का है। कर्म प्रकृति में शिवशर्मसूरि ने कहा है—

ठिइंघसकम्म अंतो कोडी-कोडी करेत्तु सत्तण्हं।
दुट्ठाण चउट्ठाणं असुभसुभाणं च अणुभागं॥

—कर्म प्रकृति भाग १। गा ५

अर्थात् स्थितिघात आदि क्रियाओं के लिए कोई स्थान न होते हुए भी बन्धन द्विस्थानक रस से होता है और प्रतिसमय अनन्त गुण न्यून होता चला जाता है। अध्यात्म विकास के क्षेत्र मे यह करण अत्यन्त महत्व का है। कहीं-कहीं यथा-प्रवृत्तिकरण को पूर्वप्रवृत्तिकरण भी कहा गया है क्योंकि यह करण सबसे पहला करण है। इसके बाद का करण अपूर्व करण है जो कि यथाप्रवृतकरण को प्राप्त किये बिना प्राप्त नहीं होता। यह करण स्वभाव से कर्मों के हल्केपन से प्राप्त होता है—जैसा कि युगप्रधान आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में कहा है—

तत्रऽनाद्यनन्तससारपरिवर्ती प्राणी गिरिसरिद् ग्रावघोलनान्यायेन आयुर्वर्जसप्तकर्मस्थितौ किञ्चिन्न्यूनककोटाकोटिसागरोपममितायां जातायां येनाध्यवसायेन दुर्भेद्यरागद्वेषात्मकग्रन्थिसमीपं गच्छति स यथाप्रवृत्तिकरणम्। एतद्धि भव्यानामभव्याना चानेकशोभवति।

—प्रकाश ५। सू ८ टीका

अर्थात् अनादि अनन्त ससार मे परिभ्रमण करने वाले प्राणी के गिरि सरित् ग्राव घोलना न्याय ( अर्थात् पर्वत सरिताओं की चट्टानें जल के आवर्तन से घिसघिस कर चिकनी हो जाती हैं, उसको गिरिसरित् ग्राव घोलना न्याय' कहते हैं ) के अनुसार आयुष्यवर्जित सात कर्मों की स्थिति कुछ कम एक कोड़ाकोड़ सागर परिमित होती है तब वह जिस परिणाम से दुर्भेद्य रागद्वेषात्मक ग्रन्थि के पास पहुँचता है, उसको यथावृत्तिकरण कहते हैं। वह करण भव्य एवं अभव्य दोनों को अनेक बार आता है।

अस्तु मिथ्यात्वी के यथाप्रवृत्तिकरण असंख्येय लोकाकाश-प्रदेश जितने परिणाम हैं। उन परिणामों मे क्रमशः विशुद्धि होती जाती है। यथाप्रवृत्तिकरण में विचारों की शक्तियाँ बिखरी हुई होती हैं, अतः ग्रन्थि भेद का कार्य चालु नहीं

होता है। ग्रन्थि भेद करना कोई आसान बात नहीं है, एक महान् संग्राम की तरह ग्रन्थि का ( रागद्वेषात्मक ग्रन्थि ) भेद करना एक दुरूह कार्य है। अभव्य जीव ग्रन्थि का भेदन नहीं कर सकते हैं, केवल भव्य ही ग्रन्थि के भेदन का कार्य कर सकते हैं, उनमें भी बहुत कम प्राणी सफलता को प्राप्त होते हैं, चूंकि ग्रन्थि के भेदन का कार्य अपूर्वकरण मे प्रारम्भ हो जाता है।

दिगम्बर ग्रन्थों में यथाप्रवृत्तिकरण के स्थान पर अधःप्रवृत्तकरण का उल्लेख मिलता है। विशेषावश्यक भाष्य मे कहा है—

जो पल्लेऽतिमहल्ले धण्णं पक्खिवइ थोवथोवयरं।
सोहेइ बहुबहुतर झिज्जइ थोवेण कालेण॥
तह कम्मधन्नपल्ले जीवोऽणाभोगओ बहुतरागं।
सोहंतो थोवतर गिण्हंतो पावए गंठि॥

टीका—यथा कश्चित् कुटुम्बिकोऽतिमहति धान्यभृतपल्ये कदाचित् कथमपि स्तोकस्तोकतरमन्यद् धान्यं प्रक्षिपति बहुतर तु शोधयति—गृहव्ययाद्यर्थं ततस्तत् समाकर्षति। एव च सति क्रमशो गच्छता कालेन तस्य धान्य क्षीयते। प्रस्तुते योजयति 'तह' इत्यादि तथा तेनैव प्रकारेण कर्मैव धान्यभृतपल्य कर्मधान्यपल्यः, तत्र कर्मधान्यपल्ये, चिरसंचित-प्रचुरकर्मणीत्यर्थ, कुटुम्बिकस्थानीयो जीव कदाचित् कथमप्येवमेवाऽनाभोगतो बहुतरं चिरबद्ध कर्म शोधयन् क्षपयन्, स्तोकतरं तु नूतन गृह्णानो बध्नन् ग्रन्थि यावत् प्राप्नोति—देशोनकोटीकोटिशेषाण्यायुर्वर्जसप्तकर्माणि धृत्वा शेषं तत् कर्म क्षपयतीत्यर्थ. एष यथाप्रवृत्तकरणस्य व्यापार इति।

—विशेभा० गा १२०५-६

जिस प्रकार कोई कुटुम्बिक धान्य से भरी हुई कोठी मे से थोड़ा-थोड़ा धान्य गिराता है तथा बहु-बहुतर धान्य गृहव्यवहारार्थ उसमें से बाहर निकलता है। ऐसा करने से भरी हुई कोठी उत्तरोत्तर धान्य से क्षीणता को प्राप्त होती है, उसी प्रकार चिर संचित कर्म धान्य के पल्य से आत्मा—जीव—किसी प्रकार से—अनाभोग से बहुत-सी कर्मों का क्षय करने से तथा नवीन थोड़ा कर्म के

ग्रहण करने से ग्रन्थि देश को प्राप्त होता है अर्थात् आत्मा रागद्वेषात्मक ग्रन्थि के समीप पहुँच जाता है। उस समय आयुष्यकर्म को बाद देकर शेष सात कर्मों की स्थिति देशोन एक कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण रखकर अवशेष कर्मों का क्षय जीव ( मिथ्यात्वी ) कर डालता है। इस प्रकार जीव ( मिथ्यात्वी ) यथा-प्रवृत्तिकरण को प्राप्त होता है।

एकान्त रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि सभी मिथ्यात्वी को बहु-कर्मों का बन्ध होता है तथा अल्प कर्म की निर्जरा होती है। यदि सभी मिथ्यात्वी के बहुकर्मो का बन्ध होता रहे, अल्प कर्मों की निर्जरा होती रहे तो वे मिथ्यात्वी कभी भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। परन्तु ऐसा 'नियम हो नहीं सकता, क्योंकि मिथ्यात्वी को सम्यक्त्व प्राप्त होने के पहले बहु कर्मों का क्षय होने से सम्यक्त्व प्राप्त होता है। अतः मिथ्यात्वी में निम्नलिखित तीन विकल्प मिल सकते हैं। यथा—

१—कोई एक मिथ्यात्वी के बहुकर्म का बन्ध होता है तथा अल्प कर्म की निर्जरा होती है, २—कोई एक मिथ्यात्वी के कर्म बन्ध की हेतुभूत क्रिया एक समान होती है तथा ३—कोई एक मिथ्यात्वी के बन्ध हेतु की न्यूनता होने से तथा कर्मक्षय की हेतु की उत्कृष्टता होने से कर्म बन्ध अल्प होता है तथा निर्जरा अधिक होती है। इन तीनों विकल्पों में से तीसरे विकल्प में वर्तता हुआ मिथ्यादृष्टि ग्रन्थि देश को प्राप्त होता है। अस्तु अनाभोगपन से—बहुकर्मों का क्षय होता है। इस प्रकार कतिपय मिथ्यात्वी यथाप्रवृत्तिकरण से अनाभोग से कर्म स्थिति का क्षय होने से ग्रन्थि में प्रवेश होता है।

कर्मग्रन्थि में देवेन्द्रसूरि ने कहा है —

"इह गभीरापारससारसागरमध्यमध्यासीनो जंतुर्मिथ्यात्व प्रत्ययमनन्तान् पुद्गलपरावर्तानननन्तदुःखलक्षाण्यनुभूय कथमपि तथा-भव्यत्वपरिपाकवशतो गिरिसरितुपलघोलनाकल्पेनाऽनाभोगनिर्वर्ति-यथाप्रवृत्तकरणेन 'करणं परिणामोऽत्र' इति वचनाद् अध्यवसाय-विशेषरूपेणाऽऽयुर्वर्जानि ज्ञानावरणीयादिककर्माणि सर्वाण्यपि पल्योपमासंख्येभागन्यूनैक सागरोपमकोटाकोटीस्थितिकानि करोति।

अत्र चान्तरे जीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणामः कर्कशनिबिड-चिरप्ररूढ़गुपिलवक्रग्रंथिवद् दुर्भेद्योऽभिन्नपूर्वो ग्रंथिर्भवति।

—कर्म० अ २। गा २। टीका

अर्थात् इस गंभीर-अपार संसार सागर के मध्य में अनन्त पुद्गल परावर्तन से परिभ्रमण करते हुए किसी समय मिथ्यात्वी ( भव्य तथा अभव्य ) उसी प्रकार कर्मों की स्थिति को घटाता है जिस प्रकार नदी मे पड़ा हुआ पत्थर घिसते-घिसते गोल हो जाता है। इस प्रकार आयुष्य कर्म के सिवाय ज्ञाना-वरणीयादि कर्मों की स्थिति को अन्तः कोटा-कोटि सागरोपम परिमाण रखकर बाकी की स्थिति क्षय कर देता है। अर्थात् एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम में से पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून स्थिति कर देता है तब जीव यथाप्रवृत्ति करण को प्राप्त होता है। यथाप्रवृत्ति करने वाला मिथ्यात्वी ग्रंथिदेश—राग-द्वेष की तीव्रतम गांठ के निकट आ जाता है, पर उस राग-द्वेषात्मक गांठ का परिच्छेदन नहीं कर सकता है।

जिस प्रकार घुणाक्षर न्याय से अर्थात् घुण कीट से कुतरते-कुतरते काठ से अक्षर बन जाते हैं, उसी प्रकार अनादि-कालीन मिथ्यात्वी जीव कर्मों की स्थिति को यथाप्रवृत्तिकरण में न्यून कर देता है।

आवश्यकसूत्र के टीकाकार की मान्यता है कि यथाप्रवृत्तिकरण से अभव्य—मिथ्यात्वी भी श्रुतलाभ ले सकते हैं।

"अभव्यस्यापि कस्यचिद्यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रंथिमासाद्यार्हदादि-विभूतिसन्दर्शनतः प्रयोजनान्तरतो वा प्रवर्त्तमानस्य श्रुतसामायिक-लाभो भवति, न शेष सामायिकलाभ।"

—आव० नि गा १०७। मलयगिरि टीका

अर्थात् यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रंथि के समीप पहुँच कर अभव्य अर्हत् प्रणीत श्रुत रूप सामायिक का लाभ ले सकता है, परन्तु अन्य सामायिक का लाभ नहीं ले सकता है। विशेषावश्यक भाष्य मे कहा है—

आ गंठी ता पढमं

—विशेभा० गा १२०३ पूर्वार्ध

टीका—अनादिकालादारभ्य यावद् ग्रन्थिस्थानं तावत् प्रथमं यथाप्रवृत्तिकरणं भवति, कर्मक्षपणनिबन्धनस्याऽध्यवसायमात्रस्य सर्वदैव भावात्, अष्टानां कर्मप्रकृतीनामुदयप्राप्तानां सर्वदैव क्षपणादिति।

अर्थात् अनादि काल से आरंभ होकर जब तक तीव्र राग-द्वेष के परिणाम रूप ग्रंथि स्थान को प्राप्त होता है तब तक यथाप्रवृत्तिकरण होता है क्योंकि उस अवस्था में मिथ्यात्वी के कर्मक्षय करने का कारण भूत अध्यवसाय मात्र होता है, परन्तु कर्मक्षय करने की बुद्धि नहीं होती है, अतः इसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। इस करण में मात्र उदय प्राप्त अष्टकर्मप्रकृति का सर्वदा क्षय होता है।

जैसे कोई एक मनुष्य अटवी में इधर-उधर परिभ्रमण करता हुआ स्वयं योग्यमार्ग (राजमार्ग) को प्राप्त कर लेता है, कोई एक दूसरे के कहने के अनुसार योग्यमार्ग को प्राप्त करता है और कोई एक योगमार्ग को नहीं प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार कोई एक मिथ्यात्वी संसार रूपी अटवी में परिभ्रमण करते हुए ग्रन्थि देश को प्राप्त कर स्वयं सम्यक्त्वादि सन्मार्ग को प्राप्त होते हैं, कोई एक परोपदेश से प्राप्त होते हैं तथा कोई एक दुर्भव्य सम्यक्त्वादि सन्मार्ग को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं। अर्थात् ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर वापस नीचे गिर जाते हैं। विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

भेसज्जेण सयं वा नस्सइ जरओ न नस्सइ कोइ।
भव्वस्स गंठि देसे मिच्छत्तमहाजरो चेवं॥

—विशेषभा० गा १२१६

टीका—यथा ज्वरगृहीतस्य कस्यापि कथमपि ज्वरः स्वयमेवापैती, कस्यचित्तु भेषजोपयोगात्, अपरस्य तु नापगच्छति। एव मिथ्यात्व-महाज्वरोऽपि कस्यापि ग्रन्थिभेदादिक्रमेण स्वयमेवापगच्छति, कस्यचित्त गुरुवचनभेषजोपयोगात् अन्यस्तु नापैती। तदेवमेतास्तिस्त्रोऽपि गतयो, भव्यस्य भवति, अभव्यस्य त्वेकैव तृतीया गतिरिति।

अर्थात् जैसे ज्वर से जकड़ित मनुष्य का ज्वर कभी औषधि के उपचार बिना दूर हो जाता है, कोई का ज्वर औषधि के उपचार से दूर नहीं होता वैसे ही मिथ्यात्व रूप महा ज्वर भी किसी भव्यात्मक का स्वाभाविक रूप से नाश

को प्राप्त होता है तथा किसी का गुरुवचन या औषधोपचार से नाश को प्राप्त होता है और किसी का ज्वर नाश को प्राप्त नहीं होता है। अस्तु, भव्यात्मा में उपर्युक्त तीनों प्रकार लागू होते हैं। परन्तु अभव्य में केवल तीसरा प्रकार लागू होता है। अस्तु आत्मा को जिन विशेष अध्यवसायों से ग्रन्थि का सामीप्य प्राप्त होता है, उसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। मोह की उत्कृष्ट स्थिति में अनंतानुबंधी चतुष्क से निर्मित राग-द्वेष की ग्रन्थि अत्यन्त कर्कश होती है, सघन, गूढ़ और दुर्भेद्य होती है। वह राग-द्वेषात्मक ग्रन्थि ही सम्यग्दर्शन में बाधक है। जैसा कि योगशास्त्र वृत्ति में कहा है—

रागद्वेषपरिणामो, दुर्भेद्या ग्रन्थि रुच्यते।
दुरुच्छेदो दृढ़तरः काष्ठादेरिव सर्वदा॥ ५॥

अर्थात् ग्रन्थि के निकट आने पर भी अनेक आत्माओं में ग्रन्थि भेद का सामर्थ्य नहीं उभरता। यथाप्रवृत्तिकरण के बाद अपूर्व करण आता है।

अपूर्वकरण में प्रविष्ट जीव नियमतः शुक्लपाक्षिक होते हैं अर्थात् देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्त में प्रविष्ट मिथ्यात्वी ही इस कारण में कदम रख सकते हैं। इसमें आत्मदर्शन की भावना तीव्र होती है। इस करण में राग-द्वेषात्मक ग्रन्थि के भेदन करने का कार्य प्रारम्भ हो जाता है जैसा कि युगप्रधान आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में कहा है :—

येनाप्राप्तपूर्वाध्यवसायेन ग्रन्थिभेदनाय उद्युक्ते, सोऽपूर्वकरणम्।
—जैन० प्रकाश ५।६

अर्थात् आत्मा—जीव जिस पूर्व परिणाम से उस रागद्वेषात्मक ग्रन्थि को तोड़ने की चेष्टा करती है, उसको अपूर्वकरण कहते हैं। भव्य जीव यथाप्रवृत्तिकरण से अधिक विशुद्ध परिणाम को प्राप्त होता है और उन विशुद्ध परिणामों से रागद्वेष की तीव्रतम गांठ को छिन्न-भिन्न कर सकता है। इस करण को समझने के लिए तीव्रधार पर्शु का दृष्टांत पर्याप्त है—जैसा कि लोक प्रकाश में कहा है—

तीव्रधारपर्शुकल्पाऽपूर्वाख्यकरणेन हि।
आविष्यकृत्य परं वीर्यं ग्रन्थिं भिन्दन्ति केचन॥
—लोक० सर्ग ३।६१८

अर्थात् तीव्रधार पर्शु की तरह यह करण अपनी प्रबल शक्ति से ग्रन्थि को छिन्न-भिन्न कर देता है।

इस करण में ऐसे परिणामों की उपलब्धि होती है, जिनका पूर्व में अनुभव नहीं किया गया हो। कहा जा सकता है कि यथाप्रवृत्तिकरण की अपेक्षा अपूर्व-करण में परिणामों में नवीनता विशुद्धता आती है। अपूर्वकरण में परिणामों की विशुद्धि प्रतिसमय—उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। गोम्मटसार मे सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचन्द्राचार्य ने कहा है—

अंतोमुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं त।
पडिसमयं सुज्झंतो अपूव्वकरण समुल्लियइ॥

—गोम्मट० जीवकांड, गाथा ५०

अर्थात् गुण की अपेक्षा प्रतिसमय यथाप्रवृत्तिकरण से अपूर्वकरण मे मिथ्यात्वी के अधिक निर्मलता आती है। यद्यपि सख्या की अपेक्षा—यथा-प्रवृत्तिकरण की अपेक्षा अपूर्वकरण के परिणामों की संख्या न्यून है अर्थात् यथाप्रवृत्तिकरण मे परिणामों की सख्या मे वृद्धि होती जाती है। इसके विपरीत अपूर्वकरण मे प्रति समय परिणाम घटते जाते हैं। अतः यथाप्रवृत्तिकरण की अपेक्षा अपूर्वकरण मे विशुद्धत्तर के विवेचन मे कहा है—

इत्थं करणकालात् पूर्वमन्तर्मुहूर्त्तं काल यावदवस्थाय ततो यथाक्रमं त्रीणि करणानि प्रत्येकमान्तर्मौहूर्तिकानि करोति। ××× अस्मिंश्चापूर्व-करणे प्रथमसमये एव स्थितिघातो रसघातो गुणश्रेणिर्गुणसङ्क्रमोऽन्यश्च स्थितिबन्ध इति पंच पदार्था युगपत् प्रवर्तन्ते।

—कर्म० भाग ६। गा० ६२। टीका

अर्थात् अपूर्वकरण का स्थितिकाल भी अन्तर्मुहूर्त मात्र का कहा गया है। स्थितिघात, रसघातगुण, श्रेणिगुण, संक्रम और अभिनव स्थिति बंध की प्रक्रिया इस करण में युगपत् प्रथम समय मे ही प्रारम्भ होती है। पूर्व मे कभी भी प्राप्त नही हुआ—ऐसा अपूर्व स्थितिघात, रसघात आदि को करनेवाले अध्यव-

साथ विशेष से अपूर्वकरण कहते हैं।[1] विशेषावश्यक भाष्य के टीकाकार श्रीमद् आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

ग्रन्थिं तु समतिक्रामतो भिन्दानस्याऽपूर्वकरणं भवति, प्राकनाद् विशुद्धतराध्यवसायरूपेण तेनैव ग्रन्थेर्भेदादिति।

—विशेभा० गा १२०३ टीका

अर्थात् रागद्वेषात्मक ग्रन्थि के भेदन करने से मिथ्यात्वी अपूर्वकरण को प्राप्त होता है अर्थात् अपूर्वकरण में छेदन-भेदन का कार्य प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि पूर्व अध्यवसाय की अपेक्षा शुद्ध अध्यवसाय से ग्रन्थि का भेदन होता है अतः कहा जा सकता है कि यथा प्रवृत्तिकरण में विचारों मे शक्तियां बिखरी हुई होती हैं, इसलिए ग्रन्थि के छेदन-भेदन का दुरुह कार्य इस करण मे नहीं हो सकता है। जबकि अपूर्वकरण मे विचारो की नाना प्रकार की विचार धारा घटती जाती है और शक्ति केन्द्रित हो जाती है। अस्तु, विशुद्धता-निर्मलता की अपेक्षा से भी परिणामों मे तीव्रता आती जाती है, अतः इस रागद्वेषात्मक ग्रन्थि के छेदन-भेदन रूप दुरुह कार्य करने मे यह करण सफल हो जाता है। ग्रन्थि भेद के काल के विषय मे विभिन्न आचार्यों का विभिन्न प्रकार का मत है। कतिपय आचार्य अपूर्वकरण मे ग्रन्थि का भेदन मानते हैं और कतिपय आचार्य अनिवृत्तिकरण मे ग्रन्थि का भेदन मानते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी आचार्यों की परम्परागत मान्यता रही है कि अपूर्वकरण मे ग्रन्थि भेदन के कार्य का आरम्भ होता है और अनिवृत्तिकरण मे ग्रन्थि के भेदन के कार्य की परिसमाप्ति हो जाती है। अपूर्वकरण की पुनरावृत्ति कतिपय आचार्य मानते हैं, कतिपय नहीं। अस्तु, कतिपय आचार्य मानते हैं कि अपूर्वकरण मे मिथ्यात्व दलिकों का शोधन होते समय क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है जैसा कि पचध्यायी में कहा है—

---

१ —अप्राप्तपूर्वमपूर्वम् स्थितिघात-रसघाताद्यपूर्वार्थनिर्वर्तकं वाऽपूर्वम्

—विशेषावश्यक भाष्य गा १२०२ टीका

यो भाव सर्वतोघाती स्पर्द्धकानुदयोद्भवः ।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयोद्दशा घातिनाम् ।
—पंच० अ० २

अर्थात् मिथ्यात्व मोह और मिश्र मोह सर्वघाती स्पर्धक हैं । इनका आवरण विशुद्ध सम्यग् दर्शन को प्रकट नहीं होने देता । सम्यक् मोह देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने पर आत्मा की जो अवस्था बनती है, वह क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शन है । विशेषावश्यक भाष्य के टीकाकार श्रीमद् आचार्य हेमचंद्र ने कहा है—

सैद्धान्तिकानां तावदेतत् मतं यदुत—अनादिमिथ्यादृष्टि कोऽपि तथाविधसामग्रीसद्भावेऽपूर्वकरणेन पुंजत्रयं कृत्वा शुद्धपुञ्जपुद्गलान् वेदयनौपशमिकं सम्यक्त्वमलब्ध्यैव प्रथमत एव क्षायोपशमिक-सम्यग्दृष्टिर्भवति ।

—विशेभा० गा ५३०। टीका

अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टि तत्प्रकार की सामग्री उपलब्ध होने पर अपूर्वकरण के द्वारा मिथ्यात्व के तीन पुंज कर ( शुद्ध-अशुद्ध-अर्धशुद्ध ) उनमें शुद्ध पुंज का वेदन करता हुआ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है । अस्तु, कोई जीव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त किये बिना ही अपूर्वकरण से मिथ्यात्व दलिकों के तीन पुंज ( शुद्ध-अर्द्धशुद्ध-अशुद्ध ) बनाकर शुद्ध पुद्गलों का अनुभव करता हुआ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है ।[1] चूँकि दर्शन मोह के तीन पुंज होते हैं—१. मिथ्यापुंज—अशुद्धपुंज, २. मिश्रपुंज —अर्द्धशुद्धपुंज, ३. सम्यग्पुंज—शुद्धपुंज । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे शुद्धपुंज का प्रदेशोदय रहता है, वह सम्यक्त्व मे बाधक नहीं बनता है । इसलिए कहा गया है कि मिथ्यापुंज अशुद्धपुंज की उदयकालीन अवस्था मे मिथ्यादर्शन, मिश्रपुंज—अर्द्धशुद्धि की उदयकालीन अवस्था में सम्यग्मिथ्यादर्शन और सम्यग् पुंज की उदयकालीन अवस्था मे क्षायोपशमिक सम्यग् दर्शन

१—कश्चित् पुनः अपूर्वकरणेन मिथ्यात्वस्य पुंजत्रयं कृत्वा शुद्ध पुंजपुद्गलान् वेदयन् प्रथमत एवं क्षायोपशमिकं सम्यक्त्व लभते ।

—जैन सिद्धान्त दीपिका ५।८

प्रकट होता है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि अपूर्वकरण में केवल क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्ति हो सकती है। यहाँ जैन परम्परागत मानी हुई मान्यता का निदर्शन करना उचित होगा। कर्मग्रन्थकार की यह मान्यता है कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सबसे पहले औपशमिक सम्यग् दर्शन को प्राप्त करता है तथा अन्यान्य ग्रन्थकारों की ( सिद्धान्त पक्ष ) यह मान्यता है कि पहले-पहल अमुक सम्यग् दर्शन की हो प्राप्त होती है—यह कोई नियम नहीं है। अस्तु, तीन[1] सम्यक्त्व मे से किसी भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है। सास्वादन तथा वेदक सम्यक्त्व का ग्रहण क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में हो जाता है।

अपूर्वकरण के बाद मिथ्यात्वी के विकास क्रम में अनिवृत्तिकरण तृतीय चरण है। मिथ्यात्वी जीव निर्विवाद इस अनिवृत्तिकरण मे सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त किये बिना यह वापस नहीं लौटता। इसलिये इसे अनिवृत्तिकरण कहा जाता है। अपूर्वकरण परिणाम से जब राग-द्वेष की गांठ टूट जाती है तब उस अपूर्वकरण की अपेक्षा से अधिक विशुद्ध परिणाम होता है। उस विशुद्ध परिणाम को अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अर्थात् इस करण के परिणाम अपूर्वकरण की अपेक्षा अत्यन्त निर्मल होते हैं। इसका समय भी अन्तर्मूहूर्त्त परिमाण होता है। सिद्धांतचक्रवर्तिनेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार जीवकांड में कहा है—

होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्क परिणामा।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढ कम्मवणा ॥ ५७॥

—गोम्मटसार, जीवकांड गा ५७

अनिवृत्तिकरण का जितना काल है उतने ही उसके परिणाम हैं अर्थात् अनिवृत्तिकरण का अन्तर्मुहूर्त्त के जितने समय होते हैं, उतने ही उसके परिणाम है। इसलिए अनिवृत्तिकरण की स्थापना मुक्तावली को तरह होती है। युगप्रधान आचार्य तुलसी ने जैनसिद्धांत दीपिका में कहा है—

अपूर्वकरणेन भिन्ने ग्रन्थौ येनाध्यवसायेन उदीयमानाया मिथ्यात्व-स्थितेरन्तर्मुहूर्त्तं अतिक्रम्य उपरितनीं चान्तर्मुहूर्तपरिमाणामवरुध्य

---

१ —तीन सम्यक्त्व—क्षायोपशमिक—औपशमिक—क्षायिक।

दलिकानां प्रदेशवेद्याभाव क्रियते सोऽनिवृत्तिकरणम् ×××। कश्चिच्च मिथ्यात्वं निर्मूलं क्षपयित्वा क्षायिकं प्राप्नोति।

—जैन० प्रकाश ५।८

अर्थात् अपूर्वकरण के द्वारा ग्रन्थि का भेद होने पर जिस परिणाम से उदय मे आये हुए अन्तर्मुहूर्त तक उदय में आने वाले मिथ्यात्वी दलिकों को खपाकर एवं उसके बाद अन्तर्मुहूर्त तक उदय मे आने वाले मिथ्यादलिकों को दबाकर उपशमदलिकों का अनुभव किया जाता है अर्थात् उनका (अनंतानुबन्धी चतुष्क तथा तीन दर्शन मोहनीय की प्रकृति) प्रदेशोदय भी नहीं रहता है—पूर्ण उपशम किया जाता है उसको अनिवृत्तिकरण कहते हैं तथा कोई जीव मिथ्यात्व का निर्मूल-संपूर्ण क्षय कर क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। षट्खण्डागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन ने कहा है।

पढमसम्मत्तं संजमं च अक्कमेण गेण्हमाणो मिच्छाइट्ठी अधापवत्तकरण अपुव्वकरण अणियट्टिकरणाणि कादूण चेव गेण्हदि × × ×। अपुव्वकरणपढमसमए आउअवज्जाण सव्वकम्माणं उदयावलियबाहिरे × × ×। पुणो तदियसमय बिदियसमओकड्डिदव्वादो असंखेज्जगुणं दव्वमोकड्डियं पुव्वं व उदयावलियबाहिराट्ठिदिमादिं कादूण गलिदसेसं गुणसेढिं करेदि। एवं सव्वसमएसु असंखेज्जगुणमसंखेज्जगुणं दव्वमोकड्डिदूणं सव्वकम्माणं गलिदसेसं गुणसेढिं करेदि जाव अणियट्टिकरणद्धाए चरिमसमओ त्ति। जेणेव सम्मत्त-संजमाभिमुहमिच्छाइट्ठी असंखेज्जगुणाए सेढीए बादरेइंदिएसु पुव्वकोडाउअमणुसेसु दसवाससहस्सियदेवेसु च संचिददव्वादो असंखेज्जगुणं दव्वं णिज्जरेइ।

—षट्० ४,२,४,६०।पु १०।पृ० २८० से २८२

अर्थात् प्रथम सम्यक्त्व और संयम को एक साथ ग्रहण करने वाला मिथ्यादृष्टि अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण को ग्रहण करके ही ग्रहण करता है। अधःप्रवृत्तकरण के पश्चात् अपूर्वकरण के प्रथम समय मे आयुकर्म को बाद देकर शेष ज्ञानवरणीयादि सातकर्मों को उदयावलि के बाहर लेकर अपकर्षण करता है। इस प्रकार मिथ्यात्वी अपूर्वकरण मे प्रथम समय में गुण श्रेणि

करता है। इसके बाद अपूर्वकरण के द्वितीय समय में प्रथम समय में अपकृष्ट द्रव्य से असंख्यातगुने द्रव्य का अपकर्षण कर उदयावलि के बाहर प्रथम स्थिति दृश्यमान द्रव्य से असंख्यातगुने मात्र समय प्रबद्धों को देता है। पश्चात् तृतीय समय में द्वितीय समय मे अपकृष्ट द्रव्य से असंख्यात गुणे द्रव्य का अपकर्षण कर पूर्व की तरह उदयावली के बाहर प्रथम स्थिति से लेकर गलितशेष गुणश्रेणि करता है। इस प्रकार अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय के प्राप्त होने तक सब समय में क्रमशः असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे द्रव्य का अपकर्षण कर आयुष्य बाद देकर शेष सब कर्मों की गलितशेष गुणश्रेणि करता है। इस प्रकार सम्यक्त्व और संयम के अभिमुख हुआ मिथ्यादृष्टि जीव—बादर एकेन्द्रियों, पूर्व कोटि की आयु वाले मनुष्यों और दस हजार वर्ष की आयु वाले देवों मे संचित किये गये द्रव्यों से असंख्यात गुणे द्रव्य की निर्जरा करता है!

चूंकि हम पहले कह चुके हैं कि तीनों करणों के द्वारा जीव जब सम्यक्त्व और संयम को एक साथ ग्रहण करता है तब उत्तरोतर कर्मनिर्जरा की मात्रा में भी वृद्धि होती जाती है। जैन परम्परागत यह मान्यता रही है कि त्रस और स्थावर कायिकों में संचित हुए द्रव्य से असंख्यातगुण कर्म निर्जीर्ण कर संयम को प्राप्त होता है अर्थात् अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के द्वारा निर्जरा को प्राप्त हुआ द्रव्य त्रस और स्थावरकायिकों में संचित किये हुए द्रव्य से असंख्यातगुण है।[1] इस प्रकार मिथ्यात्वी जीव करणों के माध्यम से सम्यक्त्व और संयम का लाभ ले सकता है। शुभ परिणामादि के द्वारा मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यग्दृष्टि हो जाता है तब भवनपति, वाणव्यंतर—ज्योतिषी देवों के आयुष्य का बंधन नहीं करता है। जैसा कि षट्खंडागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन ने कहा है—

ण, सम्माइट्ठिस्स भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिएसु उप्पत्तीए अभावादो।

—षट्खंडागम ४,२,४,६१।पु०।१० पृष्ठ २८४

---

१ दोहि वि करणेहि णिज्जरिददव्वं ××× तेण तसथावरकाइएसु संचिद-दव्वादो असंखेज्जगुणं दव्वं णिज्जरियं संजमं पडिवण्णो त्ति घेत्तव्वं।

—षट्० ४,२,४,६०। पु १०।पृ०२८२-२८३।

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव की भवनवासी, वाणव्यंतर और ज्योतिषी देवों में उत्पत्ति सम्भव नहीं है अर्थात् सब सम्यग्दृष्टि जीव उपर्युक्त देवों मे से किसी भी देवों का आयुष्य नहीं बांधते हैं, अतः उत्पन्न नहीं होते हैं—ऐसा कहा गया है। परन्तु सम्यग्दृष्टि के पहले अर्थात् मिथ्यात्व अवस्था मे आयुष्य का बन्धन हो गया हो तो वह भवनपति, वाणव्यंतर और ज्योतिषी देवों में भी उत्पन्न हो सकता है।[1]

विशेषावश्यकभाष्य के टीकाकार आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—

निवर्तनशीलं निवर्ति, न निवर्ति अनिवर्ति-आसम्यग्दर्शनलाभाद् न निवर्तत इत्यर्थः। × × ×। अनिवर्तिकरणं पुनः सम्यक्त्व पुरस्कृतम-भिमुखं यस्याऽसौ सम्यक्त्वपुरस्कृतोऽभिमुखसम्यक्त्व इत्यर्थः; तत्रैवंभूते जीवे भवति। तत एव विशुद्धतमाध्यवसायरूपादनन्तर सम्यक्त्व-लाभात्।

—विशेभा० गा० १२०२,३

अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने तक जिस परिणाम से निवृत्ति नहीं होता है अर्थात् वापस नहीं गिरता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस अनिवृत्तिकरण मे मिथ्यात्वी सम्यक्त्व के सम्मुख होता है अथवा इस करण मे जल्द ही सम्यक्त्व प्राप्त होता है। अतिविशुद्ध परिणाम होने के अनन्तर ही सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। अनिवृत्तिकरण को किसी आचार्य ने यह भी व्याख्या की है—"समान समयवर्ती जीवों की विशुद्धि समान होती है, इसलिए भी इसे अनिवृत्ति-करण की संज्ञा प्राप्त है।" जैन परम्परागत यह भी एक मान्यता रही है कि अनिवृत्तिकरण मे मिथ्यात्व परिणामों को दो भागों मे विभक्त कर उसमे अन्त-र्मुहूर्त वेद्य प्रथमपुंज को वेदनापूर्वक नष्ट कर देने तक अनिवृत्तिकरण का कार्य सम्पन्न हो जाता है।

अनिवृत्तिकरण विशेष मे जीव के तीनों पुंजों मे सम्भवतः केवल सम्यक्त्व पुंज का प्रदेशोदय रह सकता है जबकि अपूर्वकरण मे तीनों पुंज का उदय माना गया है। हाँ, अन्त मे अपूर्वकरण मे केवल सम्यक्त्व पुंज का उदय रहता है ऐसी कतिपय आचार्यों की मान्यता है। जिस सम्यक्त्व से पतित होकर पुनः

१ —गतागत का थोकड़ा।

सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उस समय भी अपूर्वकरण से तीन पुंज करके अनिवृत्तिकरण से सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

अस्तु, यथाप्रवृत्तिकरण आदि तीनों करणों का मिथ्यात्वी के अध्यात्म विकास के उपक्रम में एक विशिष्ट स्थान है। विशेषावश्यक भाष्य में जिनभद्रक्षमाश्रमण ने तीनों करणों को चींटी, यात्री आदि के दृष्टांत से घटित किया है—

खितिसाहावियगमणं थाणूसरणं तओ समुप्पयणं।
ठाणं थाणुसिरे वा ओरुहणं वा मुइंगाणं॥
खिइगमणं पिव पढमं थाणूसरणं व करणमप्पुव्वं।
उप्पयणं पिव तत्तो जीवाणं करणमनियट्टिं॥
थाणू व्व गंठिदेसे गंठियसत्तस्स तत्थवत्थाणं।
ओयरणं पिव तत्तो पुणो वि कम्मट्ठिइविवुड्ढी॥

—विशेषभा०गा० १२०८ से १२१०

अर्थात् चींटी ( तेइन्द्रियजीव ) स्वाभाविक रूप से पृथ्वी पर अपनी चाल चलती हैं। कितनी एक चीटियाँ स्तम्भ पर चढ़ने का प्रयास करती हैं। स्तम्भ पर चढ़ने में चींटी की गति ऊर्ध्वमुखी होती है—यह निर्विवाद कहा जा सकता है। अपने इस प्रयास में चींटी कदाचित् सफलता को भी प्राप्त होती है। तथा कदाचित् असफलता भी मिलती है। इस प्रकार स्तम्भ पर चढ़ी हुई चींटी कभी गिरती है, कभी चढ़ती है। अस्तु, सफल-असफल होते-होते वह भी स्तम्भ के अग्रभाग पर चढ़ता है और पंख आ जाने से वहाँ से उड़ भी जाती है।

उपर्युक्त दृष्टांत का उपनय करते हुए कहा गया है कि धरती पर स्वाभाविक रूप से गमन करने वाली चींटी की तरह पहला यथाप्रवृत्तिकरण है अर्थात् वह करण मिथ्यात्वी ( भव्य-अभव्य ) को स्वाभाविक रूप से प्राप्त होता है।[१]

---

१—दर्शनमोहनीयमशुद्धं कर्म त्रिधा भवति—अशुद्धमर्धविशुद्धं विशुद्धं चेति, त्रयाणां तेषां पुंजानां मध्ये यदाऽर्द्धशुद्धः पुंज उदेति तदा तदुदयवशादर्धविशुद्धमर्हद्दृष्टतत्त्वश्रद्धानं भवति जीवस्य, तेन तदाऽसौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्भवति अन्तमुहूर्तं यावत् तत ऊर्द्ध्वं सम्यक्त्वपुंज मिथ्यापुंज वा गच्छतीति।

—ठाणांग, ठाणा १, उ १, सू १७० से १७२ टीका

स्तम्भ पर चींटी के चढ़ने का प्रयास और चढ़ने के समान अपूर्वकरण नामक द्वितीय करण समझना चाहिए। चींटी में उड़ने की क्षमता होना अथवा स्तम्भ के अग्रभाग से उड़ने की क्षमता के समान अनिवृत्तिकरण नामक तृतीय-करण जानना चाहिए। अस्तु, इस अनिवृत्तिकरण में गमन करने वाला जीव नियम से मिथ्यात्व भाव को छोड़कर सम्यक्त्व को ग्रहण करता है। यदि कोई मिथ्यात्वी जीव ग्रन्थि का भेदन नहीं कर सकता है, वह स्थाणु की तरह ग्रन्थि देश से आगे अवस्थान करता है। और वहाँ से पुनः कर्मों का संचय करता है अर्थात् कर्म स्थिति की वृद्धि करता है। अतः मिथ्यात्वी तत्त्वज्ञ पुरुषों से कर्मबन्धनों के कारणों की जानकारी प्राप्त करके करण के द्वारा इस सम्यक्त्व प्राप्ति का प्रयास करे।

आगे देखिये, जिनभद्र क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में क्या कहा है—

जह वा तिन्नि मणूसा जंतऽडविपहं सहावगमणेणं।
वेलाइक्कमभीया तुरंति पत्ता य दो चोरा ।।
दट्ठुं मग्गतडत्थे ते एगो मग्गओ पडिनियत्तो।
बितिओ गहिओ तइओ समइक्कंतो पुरं पत्तो ।।
अडवी भवो मणूसा जीवा कम्मट्ठिई पहो दीहो ।।
गंठी य भयट्ठाणं रागद्दोसा य दो चोरा।
भग्गो ठिइ परिवड्ढी गहिओ पुण गंठिओ गओ
तइओ ।।
सम्मत्तपुरं एवं जोएज्जा तिण्णि करणाणि ।।

—विशेषभा० गाथा १२११ से १२१४

जैसे कोई तीन मनुष्यों ने स्वाभाविक रूप से अटवी में गमन करते हुए अधिकतर मार्ग को उल्लंघन किया। तदनन्तर काल का अतिक्रम होने से वे तीनों भयभीत हुए। इतने में वहाँ भयस्थान में उन्हें दो चोर मिले। अकस्मात् मार्ग में दो चोरों के मिलने से उन तीनों मनुष्यों में से एक मनुष्य मार्ग से वापस फिर गया, दूसरे मनुष्य को चोरों ने पकड़ लिया तथा तीसरा मनुष्य चोरों

का तिरस्कार कर इष्ट नगर में—गंतव्य स्थान पर पहुँच गया। इस दृष्टांत का उपनय तीन करण पर इस प्रकार घटित किया गया है। अटवी के समान संसार जानना चाहिए तथा तीन मनुष्य—एक ग्रन्थिदेश से वापस लौटा हुआ, दूसरा ग्रन्थिदेश में और तीसरा ग्रन्थि का भेदन किया हुआ जानना चाहिये। दीर्घपथ रूप कर्म स्थिति जाननी चाहिए, भयस्थान रूप ग्रन्थि जाननी चाहिए तथा दो चोरों के समान राग-द्वेष जानने चाहिये। तत्र स्थित यात्री जो दो चोरों को देखकर भाग गया था उसके समान अभिन्नग्रन्थि—पुनः स्थिति को वृद्धि करने वाला मिथ्यात्वी जानना चाहिए। जिस यात्री को मार्ग में बीच में दो चोरों ने पकड़ लिया—उसके समान ग्रन्थि देश मे स्थित जीव अर्थात् राग-द्वेष रूप ग्रन्थि का भेदन करता हुआ जीव जानना चाहिए। जो मार्ग का तय करते हुए गंतव्य नगर मे चला गया, उनके समान सम्यक्त्व रूप नगर मे पहुँचा हुआ जीव जानना चाहिए। इस प्रकार तीन करण पर यह दृष्टांत घटित किया गया है। जैसा कि विशेषावश्यक भाष्य के टीकाकार आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—

अथ करणत्रयं योज्यते—पुरुषत्रयस्य स्वाभाविकगमन ग्रंथिदेशप्रापकं यथाप्रवृत्तिकरणम्, शीघ्रगमनेन तस्करातिक्रमणमपूर्वकरणम्, इष्टसम्यक्त्वादिपुरप्रापकमनिवर्तिकरणमिति।

—विशेभा० गा० १२१४ टीका

अर्थात् तीन पुरुषों के स्वाभाविक गमन के समान ग्रन्थि देश प्रापक यथा-प्रवृत्तिकरण जानना चाहिये अर्थात् इस करण मे मिथ्यात्वी रागद्वेषात्मक ग्रन्थि के समीप पहुँच जाता है। शीघ्रगमन के द्वारा चोरों के तिरस्कार के समान अपूर्वकरण जानना चाहिए अर्थात् इस करण मे ग्रन्थि के भेदन की प्रक्रिया चालू हो जाती है। इष्ट नगर मे पहुँच जाना—इसके समान सम्यक्त्व प्राप्ति रूप—अनिवृत्तिकरण जानना चाहिए। आगे देखिये विशेषावश्यक भाष्य मे क्या कहा है—

अपुव्वेण तिपुंज मिच्छत्तं कुणइ कोद्दवोवमया।
अनियट्टीकरणेण उ सो सम्मद्दंसणं लहइ॥

—विशेभा० गा १२१८

टीका—इह यथा कस्यचिद् गोमयादिप्रयोगेण शोधयतस्त्रिधा कोद्रवा भवन्ति; तद्यथा-शुद्धः अर्धविशुद्धा, अविशुद्धाश्चैति; तथाऽपूर्व-करणेन मिथ्यात्वं शोधयित्वा जीवः शुद्धादिभेदेन त्रिभिः पुंजैर्व्यञ्य स्थापयति। तत्र सम्यक्त्वावारककर्मरसं क्षपयित्वा विशोधिता ये मिथ्यात्वपुद्गलास्तेषा पुंजः सम्यग् जिनवचनरुचेरनावारकत्वादुप-चारतः सम्यक्त्वमुच्यते ××× । अर्धशुद्धपुद्गलपुंजस्तु सम्यग्मिथ्या-त्वम् । अविशुद्धपुद्गलपुंजः पुनर्मिथ्यात्वमिति। तदेवं पुंजत्रये सत्यप्यनिवर्तिकरणविशेषात् सम्यक्त्वपुंजमेव गच्छति जीव, नेतरौ द्वौ । यदापि प्रतिपतितसम्यक्त्वः पुनरपि सम्यक्त्वं लभते, तदाऽप्यपूर्वकरणेन पुंजत्रय कृत्वाऽनिवर्तिकरणेन तल्लाभादेष एव क्रमो द्रष्टव्य ।

अर्थात् मिथ्यात्वी कोद्रव की तरह मिथ्यात्व को अपूर्वकरण के द्वारा तीन पुंज करता है, परन्तु सम्यग् दर्शन की प्राप्ति अनिवृत्तिकरण के द्वारा ही होती है। जैसे कोई मनुष्य गोमय आदि प्रयोग से कोद्रव को शुद्ध करता है, कोई कोद्रव को सर्वथा शुद्ध होता है, कोई अर्द्धशुद्ध होता है तथा कोई किंचित् भी शुद्ध नहीं होता है—उसी प्रकार जीव (मिथ्यात्वी) अपूर्वकरण के द्वारा मिथ्यात्व का शोधन कर—शुद्धादि भेद से तीन पुंज करता है—शुद्ध-अर्द्धशुद्ध-अशुद्ध। परन्तु अनिवृत्ति-करण विशेष से जीव केवल सम्यक्त्वपुंज में ही आता है, परन्तु बाकी के दो पुंज (अशुद्ध-मिथ्यात्व, अर्द्धशुद्ध-सम्यग्मिथ्यात्व) में गमन नहीं करता है। जिस समय जीव सम्यक्त्व से पतित होकर पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करता है उस समय भी अपूर्वकरण से ही तीन पुंज कर अनिवृत्तिकरण से ही सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

अनिवृत्तिकरण से जीव फिर कभी अपूर्वकरण में प्रवेश करता है, उस समय अपूर्वकरण में बहुत कम अन्तर्मुहूर्त ठहरकर फिर अनिवृत्तिकरण में प्रवेश कर फिर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। इसके विपरीत कर्मग्रन्थ[1] की यह मान्यता रही

---

१—मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति, तत्प्रविष्टश्चौपशमिकं सम्यक्त्व लभते, तेन च मिथ्यात्वस्यपुंजत्रय करोति, ततः क्षायोपशमिकपुंजोदयात् क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं लभते! —कर्मग्रन्थ

है कि मिथ्यात्व का अन्तरकरण करता है तथा उस अन्तरकरण में स्थित जीव औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है और उसके द्वारा मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है।

उसके क्षायोपशमिक पुञ्ज के उदय से ( सम्यक्त्व पुञ्ज के प्रदेशोदय से ) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है अर्थात् अपूर्वकरण के द्वारा तीन पुञ्ज नहीं करते हुए मिथ्यात्वी औपशमिक सम्यक्त्व के बाद फिर शुद्ध पुञ्ज के उदय से फिर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

जैन परंपरागत कतिपय आचार्यों की यह मान्यता रही है कि मिथ्यात्वी औपशमिक सम्यक्त्व के प्रगट होने के पूर्व प्रथम स्थिति में अंतिम समय में, द्वितीय स्थिति में वर्तमान मिथ्यात्व दलिकों का शोधन होता है।[1] शुद्ध-अशुद्ध-शुद्धाशुद्ध भेद से तीन प्रकार की शोधनप्रक्रिया होती है। कर्मप्रकृति में शिवशर्म सूरि ने कहा है—

तं कालं बीयठिइं, तिहाणुभागेण देसघाइत्थ।
सम्मत्तं सम्मिस्सं, मिच्छत्तं सव्वघाईओ॥

—कर्मप्रकृति भाग १, गा १६

मलयगिरि—टीका —त त्ति—तं कालं तस्मिन् काले यतोऽनन्तर-समये औपशमिक सम्यग्दृष्टिर्भविष्यति, तस्मिन् प्रथमस्थितौ चरम-समये इत्यर्थः। मिथ्यादृष्टिः सन् द्वितीय द्वितीयस्थितिगतं दलिकमनु-भागेनानुभागभेदेन त्रिधा करोति। तद्यथा—शुद्धमर्धविशुद्धमविशुद्धं च। तत्र शुद्धं सम्यक्त्व, तच्च देशघाति, देशघातिरसोपेतत्वात्। अर्द्ध-विशुद्ध सम्यग्मिथ्यात्व, तच्च सर्वघाति, सर्वघातिरसोपेतत्वात्। अशुद्ध मिथ्यात्व तदपि सर्वघाति। तथा चाह—समिश्र मिश्रसहित मिथ्यात्व सर्वघाति।

अर्थात् जिन दलिकों में सर्वगुणघाती रस विद्यमान है, वह अशुद्धपुञ्ज है। जिसमें थोड़ा-सा शोधन हुआ है, वह अर्द्धशुद्धपुञ्ज है। यह पुञ्ज अर्द्धशुद्ध होने पर भी सर्वघाती रस सहित है जिसका सर्वगुणघाती रस खत्म हो जाता है,

१—पंचसंग्रह उ१० गा २३

केवल देशघाती रस जिसमे विद्यमान है वह शुद्ध पुञ्ज है। औपशमिक सम्यक्त्व के पूर्व यह सब शोधन प्रक्रिया मिथ्यात्वी करता है। उस समय द्वितीय स्थिति मे स्थित पुञ्जदलिकों का परिणाम विशेष से आकर्षण होता है। द्वितीय समय मे यह प्रक्रिया न्यून से न्यूनतम होती चली जाती है।

अस्तु—मिथ्यात्वी के जब शुभ अध्यवसायों में तीव्रता होती है तब शुद्धपुञ्ज का प्रदेशोदय होता है। और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है। अध्यवसायों मे जब मन्दता होती है तो मिश्र दलिकों का उदय होता है तब सम्यग्मिथ्यादर्शन की उपलब्धि होती है। झीणी चर्चा मे श्री मज्जयाचार्य ने कहा है कि सम्यक्त्व पुञ्ज के प्रदेशोदय रहने से औपशमिक तथा क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है, परन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है, मिश्र मोहनीय कर्म के उदय रहने से जीव को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय रहने से जीव तीसरा गुणस्थान भी नहीं प्राप्त कर सकता है। शतकचूर्णिका मे कहा है—

पढमं सम्मत्तं उप्पाडितो तिन्नि करणाणि करेउं। उवसमसम्मत्तं पडिवन्नो मिच्छत्त दलियं तिपुंजो करेइ, सुद्धमीस असुद्ध चेत्ति।

—शतक चूर्णिका

अर्थात् मिथ्यात्वी जब अतरकरण के माध्यम से औपशमिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त हो जाता है तब उसके बाद पुंज रचना होती है अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के तुरन्त ही साथ साथ तीन पुंजों की रचना होती है।

परन्तु कल्पभाष्य मे विशेषावश्यक भाष्य की तरह औपशमिक सम्यक्त्व की उपलब्धि के क्रम मे पुंज रचना नहीं मानता है।

जैन परम्परागत यह मान्यता रही है कि ग्रन्थि भेदन करने के पूर्व मिथ्यात्वी अपुनर्बंधक की अवस्था का निर्माण करते हैं। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का पुनर्बंधन होना अपुनर्बंधक कहलाता है (दर्शन मोहनीय कर्म तथा चारित्र मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की, चालीस कोटाकोटि सागरोपम की होती है)। उसका एक बार बंध होना सकृद्बंध तथा दो बार बन्ध होना द्विबंध कहलाता है। चूंकि अपुनर्बंध की

अपेक्षा सकृद्बन्ध और सकृद्बन्ध की अपेक्षा द्विबंध में संसार भ्रमण का समय अधिक होता है। यह ध्यान में रहे कि अभव्य प्राणियों में ग्रन्थिभेदन की प्रक्रिया नहीं होती है। अतः उनमें अपुनर्बंधक का प्रश्न ही नहीं उठता है। यहाँ पर प्रासंगिक रूप से यह भी चिंतन में ला देना आवश्यक होगा कि कतिपय आचार्य अपुनर्बन्धक के पूर्व मार्गाभिमुख तथा मार्गपतित—इन दोनों अवस्थाओं को मानते आ रहे हैं तथा कतिपय आचार्य इन दोनों को अपुनर्बंधक ने बाद में। जो कुछ भी हो, इन दोनों अवस्थाओं को ग्रन्थिभेदन मे सहायक माना है। जो मिथ्यात्वी ग्रन्थिभेदन के सम्मुख होता है, वह मार्गाभिमुख अवस्था है तथा जो मिथ्यात्वी इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है, वह मार्गपतित अवस्था है। अस्तु, कतिपय आचार्यों की जैन परम्परागत यह मान्यता रही है कि मिथ्यात्वी इन दोनों अवस्थाओं को शुभलेश्या शुभपरिणाम, शुभ अध्यवसाय से पार करता हुआ ग्रन्थि-भेदन करने के लिए प्रस्तुत होता है।

सम्यक्त्व प्राप्ति का एक साधन करण के विपरीत अकरण भी माना गया है अर्थात् मिथ्यात्वी करण के बिना भी सम्यक्त्व का लाभ ले सकते हैं। कर्मप्रकृति मे शिवशर्माचार्य ने कहा है —

करण कया अकरणा, विय दुविहा उवसामण त्थ बिइयाए।
अकरणअणुइन्नाए, अणुओगधरे पणिवयामि॥

—कर्मप्रकृति ५।१

टीका—मलयगिरि—करणकयत्ति-इह द्विविधा उपशामना करण-कृताऽकरणकृता च। तत्र करण क्रिया यथाप्रवृत्तापूर्वानिवृत्तिकरणसाध्य क्रियाविशेष तेन कृता करणकृता। तद्विपरीताऽकरणकृता। यां संसारिणां जीवानां गिरिनदीपाषाणवृत्ततादिसम्भववद्यथाप्रवृत्तादिकरणंक्रियाविशेषमन्तरेणापि वेदनानुभवनादिभिः कारणैरूपशमनोपजायते, साऽकरणकृतेत्यर्थः। इदं च करणकृताकरणकृतत्वरूपं द्वैविध्यं देशोपशमनाया एव द्रष्टव्य, न सर्वोपशमनायाः, तस्याः करणेभ्य एव भावात् उक्तं च पंचसंग्रहमूलटीकायां—"देशोपशमना करणकृता करणरहिता च। सर्वोपशमना तु करणकृतैवेति।" अस्याश्चाकरणकृतोपशामनायनामधेयद्वयं, तद्यथा—अकरणोपशमना अनुदीर्णोपशमना च।

अर्थात् उपशामना दो प्रकार की होती है—१. जिन कर्मों की उपशामना यथाप्रवृत्त-अपूर्व-अनिवृत्तिकरण से होती है, उसे करणोपशामना कहते हैं। २. इसके विपरीत अर्थात् यथाप्रवृत्त-अपूर्व-अनिवृत्ति करणों के बिना—नदी, पर्वतादि के पाषाण जिस प्रकार बिना किसी करण विशेष से चिकने, गोल आकार धारण कर लेते हैं, उसी प्रकार बिना करण विशेष के वेदन के अनुभवादि से होनेवाली कर्मों की उपशामना को अकरणोपशामना कहते है।

उपशामना के दो प्रकार होते हैं—यथादेशोपशामना तथा सर्वोपशामना। अकरणोपशामना देशोपशामना रूप होती है तथा करणोपशामना देशोपशामना व सर्वोपशामना—दोनों प्रकार की होती है।

कर्म प्रकृति में करण की प्राप्ति के पूर्व भी मिथ्यात्वी के तेजो पद्म-शुद्ध लेश्या का उल्लेख मिलता है।

करणकालात् पूर्वमपि ××× तिसृणां विशुद्धाना लेश्यानामन्यतमस्या लेश्याया वर्तमानो, जघन्येन तेजोलेश्यायां, मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायां, उत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायां×××।

—कर्मप्रकृति भाग ५, गा ४। टीका

यद्यपि अन्तरकरण की प्राप्ति के विषय मे भी विभिन्न आचार्यों का विभिन्न मत है, परन्तु अन्तरकरण से औपशमिक सम्यक्त्व की ही प्राप्ति होती है—ऐसी जैन परम्परा से मान्यता है। जैसे वन मे दावानल ईंधन के दग्ध हो जाने पर बुझ जाता है वैसे ही मिथ्यात्व का दावानल अन्तकरण मे सामग्री के अभाव के कारण शान्त हो जाता है। मिथ्यात्वी शुभ अध्यवसाय-शुभपरिणाम-शुभलेश्या से तथा मोहनीयकर्म के उपशम से, ईहा-अपोह-मग्गण-गवेसण करते हुए अन्तकरण मे औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं। जैन सिद्धान्त दीपिका मे युगप्रधान आचार्य तुलसी ने कहा है—

×××। तद् वेद्याभावश्चान्तरकरणम्। (उपशमसम्यक्त्वात् प्राग्वेद्योत्तरवेद्यमिथ्यात्वपुंजयोरन्तरकारित्वात् अन्तरकरणम्)। तत् प्रथमे क्षणे आन्तर्मौहूर्त्तिकमौपशमिकसम्यक्त्वं भवति।

—जैन० प्रकाश ५।८। टीका

अर्थात् जिस स्थान पर मिथ्यात्व दलिकों के प्रदेश वेदन का व विपाकोदय —दोनों का अभाव होता है—पूर्ण उपशम होता है, उसे अन्तरकरण कहा जाता है। उस अन्तरकरण के पहले क्षण में अन्तर्मुहूर्त स्थिति वाले औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। कर्म प्रकृति की मान्यतानुसार अनिवृत्तिकरण में प्रवेश होने के बाद जब उसमे प्रवेश होने का संख्यात भाग व्यतीत हो जाता है तथा संख्यात भाग अवशेष रहता है तब मिथ्यात्वी अन्तरकरण को प्राप्त करते हैं—जैसा कि शिवशर्माचार्य ने कहा है—

संखिज्जइमे सेसे भिन्न मुहुत्त अहो मुच्चा।

—कर्म प्रकृति ५।१७

टीका —'संखिज्जेत्यादि' अनिवृत्तिकरणाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिश्च भागे संख्येयतमे शेषे तिष्ठति अन्तर्मुहूर्त्तमात्र-मधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति।

योगशास्त्र वृत्ति मे आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

ग्रन्थिभेदस्तु संप्राप्ता, रागादि प्रेरिता पुनः उत्कृष्ट बन्धयोग्यास्यु-श्चतुर्गति जुषोऽपि च ॥६॥

अर्थात् ग्रन्थि-भेदन का कार्य दुरूह है। ग्रन्थि-भेदन से सप्राप्त हुए कतिपय मिथ्यात्वी राग-द्वेष से पुनः प्रेरित होकर पुनः मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट बन्ध चक्र मे उलझ जाते हैं। अतः मिथ्यात्वी बड़ी सावधानता से शुभ परिणामादि से राग-द्वेष की ग्रन्थि के तोड़ने का प्रयास करें।

जैन परम्परागत आचार्यों की यह मानता रही है कि मिथ्यात्वी शुभ परिणाम-शुभ अध्यवसाय-शुभलेश्या के द्वारा आध्यात्मिक विकास करते हुए—अनिवृत्तिकरण में उदीरणा के माध्यम से कर्म को भोग कर बहुत शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं (अल्पस्थितिक भाग) और उदय आने वाले कर्मों को उपशम कर दिया जाता है। (दीर्घस्थितिक भाग) अस्तु, अल्पस्थितिक भाग और दीर्घस्थितिक भाग में जो अन्तर पड़ता है, उसे 'अन्तकरण' कहते हैं।[1]

---

१ —लोकप्रकाश सर्ग ३।गा ६२७ से ६३०

भगवती टीकाकार अभयदेवसूरि ने कहा है—

इह च गंभीरभवोदधिमध्यविपरिवर्त्ती जन्तुरनाभोगनिर्वर्त्तितेन गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेन यथाप्रवृत्तिकरणेन संपादितान्तःसागरोपमकोटाकोटीस्थितिकस्य मिथ्यात्ववेदनीयस्य कर्मणः स्थितेरन्तर्मुहूर्त्त-मुदयक्षणादुपर्यतिक्रम्यापूर्वकरणानिवृत्तिकरणसंज्ञिताभ्यां विशुद्धि-विशेषाभ्यामन्तर्मुहूर्त्तकालप्रमाणमन्तरकरणं करोति, तस्मिन् कृते तस्य कर्म्मणः स्थितिद्वय भवति, अन्तरकरणादधस्तनी प्रथमस्थितिरन्तर्मुहूर्त्त-मात्रा, तस्मादेवोपरितनी शेषा, तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदना-दसौ मिथ्यादृष्टि', अन्तर्मुहूर्त्तेन तु तस्यामपगतायामन्तरकरणप्रथम-समय एवौपशमिकसम्यक्त्वमाप्नोति मिथ्यात्वदलिकवेदनाऽभावात्, यथा हि दवानलः पूर्वदग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्यायति तथा मिथ्यात्ववेदनाग्निरन्तरकरणमवाप्य विध्यायतीति, तदेवं सम्यक्त्व-मौषधविशेषकल्पमासाद्यमदनकोद्रव स्थानीय दर्शनमोहनीयमशुद्धं कर्म त्रिधा भवति-अशुद्धमर्धविशुध विशुद्ध चेति, त्रयाणां तेषां पुंजानां मध्ये यदाऽर्द्धविशुद्ध पुंज उदेति तदा तदुदयवशादर्द्धविशुद्धमर्हद्-दृष्टतत्त्वश्रद्धान भवति जीवस्य, तेन तदाऽसौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिर्भवति अन्तर्मुहूर्त्तं यावत्, तत ऊर्ध्वं सम्यक्त्वपुंज मिथ्यात्वपुज वा गच्छतीति ।

— ठाणांग ठाणा १। सू ५१। टीका

अर्थात् इस गम्भीर संसार रूप समुद्र के मध्य मे परिभ्रमण करने वाले जीव ( मिथ्यात्वी ) अनाभोग-स्वभावगत हुए 'गिरि सरित् ग्राव घोलणा, न्याय से—(नदी के प्रवाह में चट्टानें जिस प्रकार प्रवाह के घर्षण से कालान्तर में चिकनी और गोल हो जाती हैं । उसी प्रकार यथाप्रवृत्तिकरण से प्राप्त हुए अन्तः कोटाकोटी सागरोपम स्थिति विशिष्ट वेदने योग्य मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की स्थिति मे से उदयकाल के क्षण से आरम्भ कर अन्तर्मुहूर्त (भोगने योग्य स्थिति को) में पार कर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण की सज्ञा वाले विशुद्धिविशेष से अन्तर्मुहूर्त्त काल-प्रमाण अन्तरकरण करता है तथा उस अन्तरकरण के करने पर मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की दो स्थिति होती है —(१) अन्तरकरण से नीचे की अन्तर्मुहूर्त्त

मात्र स्थिति—प्रथम स्थिति जाननी चाहिए। और (२) अन्तरकरण से ऊपर की बाकी जो स्थिति होती है उसे दूसरी स्थिति जाननी चाहिए। उस प्रथम स्थिति में मिथ्यात्व के दलिकों का वेदन करने से जीव मिथ्यादृष्टि होता है तथा वह जीव अन्तर्मुहूर्त्त से उस प्रथम स्थिति के शेष हो जाने पर औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, क्योंकि अन्तरकरण के प्रथम समय में ही मिथ्यात्व दलिकों के वेदन का अभाव हो जाता है। जैसे दावानल पूर्वदग्ध ईंधनवाले स्थल को अथवा ऊसर (खारी) जमीन को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के वेदन रूप अग्नि अन्तरकरण को प्राप्त कर नष्ट हो जाती है अर्थात् उपशम हो जाती है।

उस औपशमिक सम्यक्त्व रूप औषध विशेष को प्राप्त कर मदन कोद्रव के समान दर्शन मोहनीय रूप अशुद्ध कर्म तीन प्रकार का होता है यथा—(१) अशुद्ध, (२) अर्द्धविशुद्ध और (३) विशुद्ध। उन तीन पुञ्जों के मध्य में जब अर्धविशुद्धपुञ्ज का उदय होता है उस समय मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से (औपशमिक सम्यक्त्व से पतित होकर) जीव अरिहंत प्ररूपित तत्त्वों पर जो अर्द्धविशुद्ध श्रद्धान—मिश्रभाव से प्राप्त करता है। उस समय मिश्र श्रद्धान से अन्तर्मुहूर्त कालप्रमाण सम्यग्मिथ्यादृष्टि होती है। (सन्दिहान: सम्यग्मिथ्यादृष्टिः—जैन सिद्धांत दीपिका ) अर्थात् अन्तरकरण का काल पूर्ण होने पर औपशमिक सम्यक्त्व का काल भी पूर्ण हो जाता है; तत्पश्चात् जिस समय जिस पुञ्ज का उदय होता है उस समय वैसी ही दृष्टिवाला बन जाता है।) उसके बाद वह जीव अवश्यमेव सम्यक्त्वपुञ्ज को अथवा मिथ्यात्वपुञ्ज को प्राप्त करता है।

कतिपय आचार्यों की यह मान्यता है कि यथाप्रवृत्ति आदि तीन करण से—अन्तरकरण में मिथ्यात्वी औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है,[1] परन्तु वह त्रयपुञ्ज नहीं करता है अर्थात् सर्व अनादि मिथ्यादृष्टि विशुद्ध परिणाम से प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करते समय यथाप्रवृत्तिकरण आदि तीन करण पूर्वक अन्तरकरण करता है तथा औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। यहाँ पर

---

१—यो मिथ्यादृष्टिस्तत्प्रथमतया सम्यक्त्वमौपशमिकमवाप्नोति, स तावत्तद्भावमापन्नः सन् कालं न करोत्येव।

प्रासंगिक रूप से स्पष्ट कर देना उचित है कि जो आचार्य तीन पुंज के बिना औपशमिक सम्यक्त्व की मान्यता स्वीकार करते हैं वे यह मानते हैं कि औपशमिक सम्यक्त्व से पतन होने पर मिथ्यात्व मे जाता है। इसके विपरीत जो आचार्य तीनपुंज से औपशमिक सम्यक्त्व की मान्यता स्वीकार करते हैं वे यह मानते हैं कि औपशमिक सम्यक्त्व से पतित जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को भी प्राप्त होता है, सम्यग् मिथ्यादृष्टि व मिथ्यादृष्टि को भी प्राप्त होता है।

कषायपाहुड की यह मान्यता रही है कि अनादिमिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व उत्पन्न करता हुआ नियम से तीनों ही करणों के द्वारा सर्वोपशम रूप से ही परिणत होकर सम्यक्त्व को शुभलेश्यादि से उत्पन्न करता है तथा सादि मिथ्या दृष्टि जीव भी विप्रकृष्ट अंतर (बहुत लंबे काल से) से सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है, वह भी सर्वोपशम द्वारा ही सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। उससे अन्य जीव देशोपशम और सर्वोपशम रूप से सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं—कहा है—

सम्मत्तपढमलभो सव्वोवसमेण तह वियट्ठेण।
भजियव्वो य अभिक्खं सव्वोवसमेण देसेण॥

—कषायपाहुडं गा १०४। भाग १२। पृष्ठ ३१६

अर्थात् सम्यक्त्व का प्रथम लाभ सर्वोपशम मे ही होता है तथा विप्रकृष्ट-जीव के द्वारा भी सम्यक्त्व का लाभ सर्वोपशम से ही होता है। किन्तु शीघ्र ही पुनः पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला जीव सर्वोपशम और देशोपशम से भजनीय है। अर्थात् जो सम्यक्त्व से पतित होता हुआ शीघ्र ही पुनः-पुनः सम्यक्त्व के ग्रहण के अभिमुख होता है वह सर्वोपशम से या देशोपशम से सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। कहा है—

अंतोमुहुत्तमद्धं सव्वोवसमेण होइ उवसंतो।
ततो परमुदयो खलु तिण्णेक्कदरस्स कम्मस्स॥

—कषायपाहुड गा १०३। भाग १२। पृ० ३१४

टीका—×××। एवं तिण्हमण्णदरस्स कम्मस्स उदयपरिणामेण मिच्छाइट्ठी सम्मामिच्छाइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी वा होदि त्ति।

अर्थात् सभी दर्शनमोहनीय कर्मों का उदय भाव रूप उपशम होने से वे अन्तर्मुहूर्त काल तक उपशान्त रहते हैं। उसके बाद तीनों में से किसी एक का उदयपरिणाम होने से मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि होता है।

सप्तमनरकपृथ्वी में नारकियों को यथाप्रवृत्ति आदि तीनों करणों के बिना ओपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है। पंच संग्रह में कहा है।

"सप्तमपृथिवीवर्त्तीनो नैरयिकस्यौपशमिकसम्यक्त्वमुत्पादयतोऽन्तरकरणं कृत्वा मिथ्यात्वस्य प्रथमस्थितावनुभवतः ××× ।

—पंचसंग्रह भाग २। गा ६४। टीका

अर्थात् सप्तम नरक के नारकी अन्तरकरण के द्वारा औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। उस ओपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति-अन्तर्मुहूर्त मात्र है। उसके बाद वह अन्तरकरण से पतित होकर मिथ्यात्वभाव को प्राप्त करता है। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ग्रन्थों मे ऐसा उल्लेख मिलता है कि सप्तम नारकी मे उत्पत्ति के समय तथा मरण काल के समय सम्यक्त्व नहीं होती है परन्तु अन्तरकाल मे ओपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति अन्तरकरण के द्वारा हो सकती है लेकिन क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होनी असभव है।

विशेषावश्यक भाष्य मे जिनभद्रक्षमाश्रमण ने कहा है—

तित्थंकराइपूय दट्ठूणण्णेण वा वि कज्जेण।
सुयसामाइयलाहो होज्ज अभव्वस्स गंठिम्मि।

—विशेषभा० गा १२१६

टीका —अर्हदादिविभूतिमतिशयवतीं दृष्ट्वा धर्मादेवंविधः सत्कारः देवत्वराज्यादयो वा प्राप्यन्ते' इत्येवमुत्पन्नबुद्धे रभव्यस्यापि ग्रंथिस्थान प्राप्तस्य, 'तद्विभूतिनिमित्तम्' इति शेषः, देवत्व-नरेन्द्रत्व-सौभाग्य-रूप-बलादिलक्षणेनाऽन्येन वा प्रयोजनेन सर्वथा निर्वाणश्रद्धानरहितस्याऽभव्यस्यापि कष्टानुष्ठान किंचिदणी कुर्वतोऽज्ञानरूपस्य श्रुतसामायिक-

मात्रस्य लाभो भवेत्, तस्याऽप्येकादशांगपाठानुज्ञानात्। सम्यक्त्वादि-लाभस्तु तस्य न भवत्येव।

—विशेषभा० गा० १२१६

अर्थात् तीर्थंकरादि की विभूति को देखकर तथा सत्कार-सम्मान, राज्यादि की कामना से सर्वथा मोक्ष की अभिलाषा के बिना भी वे अभव्यात्माएँ किंचित् भी यदि इष्टकारी अनुष्ठान करती है तो उन्हें अज्ञान रूप श्रुतसामयिक मात्र का लाभ होता है। क्योंकि अभव्यात्मा भी ग्यारह अंग का अध्ययन कर सकती है।

अस्तु, मिथ्यात्वी करण अर्थात् यथाप्रवृत्ति आदि तीन करण से तथा अकरण अर्थात् केवल अंतरकरण से सम्यक्त्व से प्राप्त करते हैं।

---

# चतुर्थ अध्याय

## १ : मिथ्यात्वी के कर्मों के क्षयोपशम का सद्भाव

मिथ्यात्वी में कर्मों के क्षयोपशम का सद्भाव नियम से होता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय—इन चार घातिक कर्मों का क्षयोपशम होता है। यद्यपि ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम में परस्पर तारतम्य रहता है। कहा है—

"सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ (चिट्ठइ)। जइ पुण सोऽवि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा"—"सुट्ठुवि मेहसमुदए, होइ पभाचंदसूराणं।"

—नंदी सू ७७

अर्थात् अक्षर का अनन्तवांभाग सर्वजीवों मे होता है। मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान का अनन्तवां भाग सदा अनावृत्त रहता है। अगर वह अनंतवां भाग भी आवृत्त हो जाय तो जीव-अजीव रूप मे परिणत हो जाता क्योंकि चेतन्य जीव का लक्षण है। बहुत सघन बादल के पटल से आच्छादित होने पर भी चंद्र-सूर्य की प्रभा का अस्तित्व रहता ही है अर्थात् कुछ न कुछ प्रकाश होता ही है। इसी प्रकार अनतानंत ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय के कर्म परमाणुओं से आत्म-प्रदेश के आवेष्टित होने पर भी मिथ्यात्वी के सर्वजघन्य आदि मात्रा रहती ही है, वह ज्ञान मात्रा मतिश्रुतात्मक-अचक्षुदर्शनात्मक है। मिथ्यात्वी के कुछ अधिक क्षयोपशम होने से विभंग अज्ञान-अवधि दर्शन भी उत्पन्न हो जाते हैं।

ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षयोपशम प्रत्येक जीव मे मिलता है उसी क्षयोपशम से आत्मा का विकास होता है। जैसे-जैसे क्षयोपशम से मिथ्यात्वी के आत्मा की उज्ज्वलता होती है वैसे-वैसे उसकी आत्मा का विकास होता जाता है। इस प्रकार उनके विकास होते-होते सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं। यदि प्रारंभ मे मिथ्यात्वी के आत्म उज्ज्वलता किंचित् भी नहीं होती तो वे किस प्रकार क्षयोपशम से आत्मा का क्रमशः विकास कर सकते हैं? मिथ्यात्वी

जिन-जिन वस्तुओं को सम्यग् जानता है, सम्यग् श्रद्धता है, वह उन वस्तुओं को क्षयोपशम से सम्यग् जानता है, सम्यग् श्रद्धता है।

बालवीर्यान्तराय कर्म तथा मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से मिथ्यात्वी के निर्जरा होती है तथा उसके द्वारा उसकी आत्मा अंशतः उज्ज्वल होती जाती है। वस्तुतस्या मिथ्यात्वी के कर्मों का क्षयोपशम नहीं होता तो उनके कर्मों की निर्जरा भी नहीं होती। बिना कर्मों की निर्जरा किये, वे किस प्रकार सम्यक्त्व को प्राप्त करते।[1]

घातिक कर्म आत्मा के मूल गुणों—ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि की घात करते हैं। आचार्य भिक्षु ने तेरह द्वार में ज्ञानावरणीय आदि कर्म के क्षयोपशमसे उत्पन्न होने वाले बोलों की संख्या ३२ गिनाई है उनमें से मिथ्यात्वी के निम्न-लिखित १९ बोल मिलते हैं—

"मति अज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगअज्ञान, भनना-गुनना, चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच भावेन्द्रिय, मिथ्या-दृष्टि, बालवीर्य तथा दानादि पाँच लब्धियाँ।"

जैन सिद्धान्त दीपिका के रचयिता युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी ने (प्रकाश ८।३ में) प्रत्येक मिथ्यात्वी के, यहाँ तक कि अभव्य और निगोद के जीवों में भी आत्मा की आंशिक उज्ज्वलता स्वीकार की है। नन्दी सूत्र में कहा है—

अविसेसिया मई, मइनाण च मई अन्नाणं च।
विसेसिया समदिट्ठिस्स मई मइनाणं।
मिच्छादिट्ठिस्स मई मइअन्नाणं।
—नन्दी० सू ४५

अर्थात् साधारणतया मति ही मतिज्ञान एवं मतिअज्ञान है और उसके पीछे विशेषण जोड़ देने से उसके दो भेद होते हैं, जैसे सम्यग्दृष्टि की मति को मतिज्ञान और मिथ्यादृष्टि की मति को मतिअज्ञान कहा जाता है।

---

१—नव पदार्थ की चौपई, निर्जरा पदार्थ की ढाल, गाथा २६ से २६, ३१, ३५, ४०

अस्तु, मिथ्यात्वी का प्रथमगुणस्थान क्षायोपशमिक भाव है—आत्मा की पवित्र अवस्था है। क्षायोपशमिक भाव उपादेय है, हेय नहीं है। क्षायोपशमिक भाव के कारण सम्यग्दर्शन की विविध दृष्टियाँ मिथ्यात्वी में विकसित हैं। वह अनेक-अनेक पदार्थों को यथार्थ रूप से पहचानता है। यह उसकी क्षायोपशमिक मिथ्यादृष्टि का ही परिणाम है। सम्यग्दृष्टि की तरह मिथ्यादृष्टि के भी मोक्ष के द्वार खुले हुए हैं, यदि विविध प्रकार की सद्अनुष्ठानिक क्रिया करते हैं तो। आचार्य भिक्षु ने मिथ्याती री निर्णय की पहली ढाल में कहा है—

केई परकत रा भद्रीक मिथ्याती,
वले विनेवंत साधां रा ताहि।
दया तणा परिणाम छें चोखा,
वले मच्छर नहीं तिणरा घट मांहि॥
इण निरवद करणी रो निरणो कीजों ॥१॥
पेहलें गुणठाणें दांन साधां नें देइ नें।
परत ससार कीधों छें जीव अनंत॥
तिण दांन रा गुण देवतां पिण कीधां।
ठांम-ठांम सूतर में कह्यों भगवंत ॥२४॥
निरवद करणी करें समदिष्टी।
तेहीज करणी करें मिथ्याती तांम॥
यां दोयां रा फल आछा लागें।
ते सूतर में जोवों ठांम-ठांम ॥३६॥

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर—खण्ड १, पृ० २५५, २५७,२५८

अर्थात् अनंत मिथ्यात्वी निरवद्य क्रिया के द्वारा संसार परत किया है। मिथ्यात्वी जीव सुसंगति में रहकर उत्कृष्ट देशोन दस पूर्व-विद्या का पाठी हो सकता है। वे सुसंस्कारित मिथ्यात्वी कतिपय व्यक्तियों को सद् अनुष्ठानिक क्रियाओं का उपदेश देकर सही मार्ग को पकड़ा देते हैं। श्रद्धा के अर्थ में दर्शनका प्रयोग जैन दर्शन को जिस प्रकार से मान्य रहा है, उस प्रकार से अन्यत्र कम मिलता है। यह गौरव का विषय है कि विभिन्न भारतीय धर्मो में श्रद्धा का का स्थान सर्वोपरि

स्थान प्राप्त रहता है। मनुस्मृति, गीता, वेद, त्रिपिटिक आदि सभी धर्म श्रद्धा का गौरव गा रहे हैं। जैन दर्शन में सम्यगदर्शन पर बहुत बल दिया है। समग्र साधना का श्रेय जैन दृष्टि में सम्यग्दर्शन को ही है। सभी मिथ्यात्वी के दर्शन मोहनीय कर्म का क्षयोपशम निष्पन्न होता है—हाँ, उस क्षयोपशम में मिथ्यात्वी के परस्पर तारतम्य रहता है, जिससे धर्म के प्रति श्रद्धा होती है। वह श्रद्धा व्यक्त रूप में भी होती है, अव्यक्त रूप में भी होती है। अनुयोगद्वार सूत्र में कहा है—

से किं तं खओवसमे ? खओवसमे चउण्ह घाइकम्माण खओवसमेणं, तंजहा—णाणावरणिज्जस्स १ दंसणावरणिज्जस्स २ मोहणिज्जस्स ३ अंतरायस्स ४। सेतं खओवसमे। से किं खओवसमनिप्फण्णे ? खओवसमनिप्फण्णे अणेगविहे पन्नत्ते। तजहा—खओवसमियाभिणीबोहियणाणलद्धी जाव खओवसमिया मणपवज्जवणाणलद्धी, खओवसमिया मइअण्णाणलद्धी खओवसमिया सुयअण्णालद्धी, खओवसमिया विभगणाणलद्धी, खओवसमिया चक्खुदंसणलद्धी, खओवसमिया अचक्खुदसणलद्धी, खओसमिया ओहिदसणलद्धी, एवं सम्मद्दंसणालद्धी, मिच्छादसणलद्धी, सम्मामिच्छादसणलद्धी, सामाइयचरित्तलद्धी एव छेदोवट्ठाणलद्धी, परिहारविशुद्धियलद्धी, सुहुमसंपरायचरित्तलद्धी, एव चरिताचरित्तलद्धी, खओवसमिया दाणलद्धी एवं लाभलद्धी भोगलद्धी उवभोगलद्धी खओवसमिया वीरियलद्धी एवं पडितवीरियलद्धी, बालविरियलद्धी बालपडितवीरियलद्धी, खओवसमिया सोइंदियलद्धी जाव फासिंदियलद्धी ××× । खओसमिए णवपुव्वी जाव चउदसपुव्वी ।

—अणुओगद्दाराइं सूत्र

अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय—इन चार घातिक कर्मों का क्षयोपशम होता है—इन चार घाती कर्मों के क्षयोपशम से निष्पन्न भाव को क्षयोपशम निष्पन्न भाव कहा जाता है। वह क्षयोपशम-निष्पन्न भाव अनेक प्रकार का है—यथा, आभिणिबोधिक ज्ञान, (मतिज्ञान), श्रुतज्ञान, अवधि

ज्ञान, मनःपर्यव ज्ञान, मति अज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगअज्ञान, चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, सामायिक चारित्र, छेदोपस्थानीय चारित्र, परिहारविशुद्धि चारित्र, सूक्ष्मसंपराय चारित्र, चारित्राचारित्र ( संयमासंयम ), दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, वीर्यलब्धि, पंडितवीर्य, बालपंडितवीर्य, बाल वीर्य श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय, नवपूर्व का ज्ञान यावत् चतुर्दश पूर्व का ज्ञान।

उपरोक्त क्षयोपशमिक भाव में से निम्नलिखित क्षायोपशमिक भाव पाये जाते हैं, यथा—

"मतिअज्ञानलब्धि, श्रुत अज्ञानलब्धि, विभंगज्ञान लब्धि, चक्षुदर्शन लब्धि, अचक्षुदर्शनलब्धि अवधिदर्शन लब्धि, मिथ्यादृष्टि, दान आदि पाँच लब्धि, बालवीर्य लब्धि, नवपूर्व लब्धि, श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच इन्द्रिय लब्धि आदि।"

अस्तु मिथ्यात्वी के ज्ञानावरणीय आदि चारों प्रकार के कर्मों का क्षयोपशम निष्पन्न होता है। उदय भाव के भेदों में भी मिथ्यादृष्टि[1] का समावेश है। जिन तत्त्व या तत्त्वांशों पर मिथ्यात्वी विपरीत श्रद्धा करता है वह उदयभाव रूप मिथ्यादृष्टि है[2] ( दर्शन मोहनीय कर्म का उदय है। ) तथा जिन तत्त्व या तत्त्वांशों पर मिथ्यात्वी सम्यग् श्रद्धा करता है वह दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम निष्पन्न है। जैसे पीतज्वर से युक्त जीव को मधुर रस भी अच्छा नहीं लगता वैसे ही दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से मिथ्या प्रकृतियों का वेदन करता हुआ जीव—मिथ्यात्वी को सत्य अच्छा नहीं लगता। यह उदयभाव रूप मिथ्यादृष्टि है।[3]

---

१—अणुओगद्दाराइं सूत्र २४१

२—तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः।

—राजवार्तिक ९, १, १२

३—तेषु मिथ्यादर्शनकर्मोदयेन वशीकृतो जीवो मिथ्यादृष्टिरित्यभिधीते। यत्कृतं तत्त्वार्थानाम् अश्रद्धानम्।

—राजवार्तिक ९, १, १२

## २ : मिथ्यात्वी और निर्जरा

तपस्या के द्वारा आत्मा से कर्मों के विच्छेद होने को निर्जरा कहते हैं। निर्जरा सकाम भी होती है और अकाम भी।

मिथ्यात्वी के सकाम निर्जरा भी होती है। सकाम निर्जरा में महान् फल बतलाया गया है—जैसा कि योग शास्त्र मे आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

सकामनिर्ज्जरा सारं तप एव महत्फलम्।

—योगशास्त्र प्र० १

मिथ्यात्वी के सकाम निर्जरा नहीं होती है—ऐसा सिद्धान्त में किसी भी स्थल पर उल्लेख नहीं किया गया है। जिस प्रकार सम्यक्त्वी के सकाम और अकाम—दोनों प्रकार की निर्जरा मानी गई है उसी प्रकार मिथ्यात्वी के भी सकाम तथा अकाम—दोनों प्रकार की निर्जरा मानी गई है। कई मिथ्यात्वी भी आत्म-उज्ज्वलता—मोक्ष की अभिलाषा से तपस्या आदि सद् अनुष्ठानिक क्रियाएँ करते हैं उनके द्वारा उन मिथ्यात्वी जीवों के सकाम निर्जरा होती है। यह ध्यान में रहे कि असंज्ञी मिथ्यात्वी जीव तथा अभव्य जीवों (चाहे संज्ञी अभव्य भी क्यों न हो) के सकाम निर्जरा नहीं होती।[1] जिस निरवद्य क्रिया मे आत्म-उज्ज्वलता का लक्ष्य नहीं है वहाँ अकाम निर्जरा ही होगी चाहे उस क्रिया को करने वाला सम्यक्त्वी जीव क्यों न हो। यदि वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम किसी भी जीव को नहीं होता तो अकाम निर्जरा भी नहीं होती। अभव्यजीव अकाम निर्जरा के द्वारा उत्कृष्टतः २१ वें देवलोक (नववें ग्रैवेयक मे) मे उत्पन्न हो सकते हैं।

ग्रंथों मे[2] कहा जाता है कि नाभी राजा की पत्नि मरुदेवी माता (भगवान ऋषभदेव की माता) को अपने जीवन काल में दुःख नहीं देखना पड़ा—६५५३६ संतान परम्परा (पीढियों) को देखा। इसका कारण था कि अपने पूर्व भव—निगोद के भवों मे अकाम निर्जरा बहु मात्रा में हुई। अनादि

---

१—अभव्य जीव स्थिति की अपेक्षा अनादि अनन्त है अतः वे कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। उनमे केवल प्रथम गुणस्थान हैं।

२—प्रज्ञापना टीका, योगशास्त्र आदि।

निगोद से मरण को प्राप्त कर केले के रूप में उत्पन्न हुई फिर वहाँ से अनन्तर भव मे 'मरुदेवी, के रूप में उत्पन्न हुई। यदि मरुदेवी माता ने अपने पूर्व भव मे की गई अकाम निर्जरा से आत्मा की उज्ज्वलता नहीं होती तो उनके कैसे इतने गाढ़ पुण्य का बंध होता।

अस्तु लक्ष्य के शुद्ध होने पर अर्थात् निर्जरा के लिए यदि मिथ्यात्वी सद्-अनुष्ठानिक क्रियाएँ करते हैं तो उसका लाभ बहुत ऊँचा होता है। इसके विपरीत लक्ष्य के सम्यग् नहीं होने पर अर्थात् परलोक के लिए, इहलोक के लिए, कीर्ति-यशादि के लिए सद् अनुष्ठानिक क्रियाएँ करते हैं तो वहाँ अकाम निर्जरा ही होगी तथा लाभ भी उसके अपेक्षा बहुत कम होगा लेकिन संपूर्ण रूप से उस क्रिया का लाभ ही नहीं मिले—यह हो नहीं सकता। निरवद्य क्रिया करने की भगवान की आज्ञा है। जैसा कि आचार्य भिक्षु ने कहा है—

"आग्या में जिण धर्म जिनराजरो, आगना बारें कहें ते मूढरे।
विवेक विकल शुध बुध विनां ते बुडेछें कर कर रुढरे॥
ग्यान दर्शण चारित्र ने तप, एतो मोखरा मारग च्यार रे।
या च्यारा मे जिणजीरी आगना, यां विना नहीं धर्म लिगाररे॥

—जिनग्या री चौपई—ढाल १, गा २, ३

अर्थात् जिनेश्वर देव का धर्म-आज्ञा मे है उपर्युक्त मोक्ष के चार मार्गों मे से मिथ्यात्वी केवल 'तप' धर्म का अधिकारी माना गया है—यदि वह तप धर्म की आराधना करे तो—ऐसा सिद्धांत मे कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है—

"खवेत्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो।

—उत्त० २८। गा ३६

अर्थात् संयम और तप से पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है। दसवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन में धर्म के तीन विभागों का उल्लेख मिलता है—अहिंसा, संयम और तप। इन तीन प्रकार के धर्मों में मिथ्यात्वी यथाशक्ति

अहिंसा और तप धर्म की आराधना कर सकता है। यहाँ संयम का प्रसंग संवर से जुड़ जाता है, मिथ्यात्वी के संवर व्रत की प्राप्ति नहीं होती। कारण को कार्य मान कर उपचार से तप को निर्जरा भी कहते हैं।[1] ठाणां के टीकाकार ने कहा है—

"एगा निज्जरा' निर्ज्जरणं निर्जरा विशरणं परिशाटनमित्यर्थः, सा चाष्टविधकर्म्मापेक्षयाऽष्टविधाऽपि द्वादशविधतपोजन्यत्वेन द्वादशविधाऽपि अकामक्षुत्पिपासाशीतातपदंशमशकमलसहनब्रह्मचर्य-धारणाद्यनेकविधकारणजनितत्वेनानेकविधाऽपि। ××× । इत्थिम जीवो विशिष्टनिर्ज्जराभाजनप्रत्येकशरीरावस्थायामेव भवति न साधारणशरीरावस्थायामतः।

—ठाण० स्था १। उ १। सू १६। टीका

अर्थात् निर्जरा के द्वारा विशेष कर्मों का परिशाटन होता है। आठ प्रकार के कर्मों के क्षय होने की अपेक्षा निर्जरा के आठ प्रकार हैं तथा अनशनादि बारह प्रकार के तपों से उत्पन्न होने से निर्जरा के बारह भेद हैं। इच्छा के बिना क्षुधा, तृषा, शीत, ताप, दंशमशक (मच्छर) मलका सहन करना ब्रह्मचर्यादि का पालन करना आदि अनेकविध कारण होने से निर्जरा अनेक प्रकार की है। अथवा द्रव्यतः वस्त्रादि का नाश होना और भावतः कर्मों का नष्ट होना—ये दो प्रकार भी निर्जरा के हैं तो भी सामान्यतः निर्जरा एक ही है। विशिष्ट निर्जरा का भाजन प्रत्येक शरीरी जीव ही हो सकता है लेकिन साधारण शरीरी नहीं।

अस्तु जैन दर्शन यह नहीं कहता है कि तुम इहलोक व परलोकादि के लिए तपस्या करो, परन्तु यदि कोई व्यक्ति चाहे सम्यक्त्वी हो, चाहे मिथ्यात्वी हो, इहलोकादि के लिए—भौतिक सुखों के लिए तपस्या करता है तो तपस्या को जिन आज्ञा के बाहर नहीं कहा जा सकता। यह मानना पड़ेगा कि उसका दृष्टिकोण गलत है, दृष्टिकोण के गलत होने पर क्या तपस्या का कुछ भी

---

१—कारणे कार्योपचारात्तपोऽपि निर्जरा शब्दवाच्यं भवति

—जैनसिद्धांतदीपिका प्रकाश ५

लाभ नहीं होता ? यदि इस दृष्टिकोण की तपस्या एक मात्र जिन आज्ञा के बाहर होती तब तो उस तपस्या को भी एकमात्र सावद्य गिना जाता। यहाँ तक कि उस तपस्या को अकाम-निर्जरा के अन्तर्गत भी नहीं गिना जाता है। परन्तु आचार्य भिक्षु ने इस श्रेणी की तपस्या को अकाम-निर्जरा में सम्मिलित किया है। अकाम-निर्जरा को आचार्य भिक्षु ने निरवद्य क्रिया में स्वीकृत किया है— जैसा कि आपने नव पदार्थ की चौपई मे—पुण्य पदार्थ की ढाल --२ मे कहा है —

पाले सराग पणें साधूपणो रे लाल,
वले श्रावक रा वरत बारै हो।
बाल तपसाने अकाम निरजरा रे लाल,
यां सूं पामे सुर अवतार हो।
ते करणी निरवद् जांण हो ॥ २६ ॥

—पुण्य पदार्थ की ढाल २, गा २६

अर्थात् सराग सयम का पालन करने से, श्रावक के बारह व्रतों का पालन करने से, बालतप से तथा अकाम निर्जरा से जीव देवगति मे उत्पन्न होता है। उपर्युक्त चारों कारण ( जिसमे अकामनिर्जरा भी समाविष्ट है ) निरवद्य हैं। मिथ्यात्वियों के तप को बालतप कहा जाता है। आगे देखिये आचार्य भिक्षु ने मिथ्यात्वी को निरवद्य क्रिया की अपेक्षा से मिथ्याती री करणी री चौपई ढाल—३ मे कहा है—

शील पालें मिथ्याती वैराग्यसू रे,
तपस्या करै वैराग्यस्यूं ताय रे
हरियादिक त्यागै वैराग्यस्यूं,
तिणरें कहे दुर्गति नो उपाय रे ॥२६॥
इत्यादिक 'निरवद करणी करें रे
वैराग मन में आण रे
तिणरी करणी दुर्गति नो कारण कहे रे लाल
ते जिण मारग रा अजाण रे ॥३०॥

—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर भाग १, पृ० २६५

अर्थात् जो मिथ्यात्वी की निरवद्य करणी—(शील पालन करना, हरी साग-सब्जी का प्रत्याख्यान करना आदि) को दुर्गति का कारण कहता है, वह जिन-आज्ञा का अजानकार है। अर्थात् वह जिन आज्ञा के मर्म को नहीं जानता है। जो जिनेश्वरदेव की आज्ञा के कार्य में एकांत रूप से अधर्म कहता है; वह मन्दबाल अज्ञानी है तथा वह अपने तीव्र कर्मों के कारण दक्षिणगामी नारकियों में उत्पन्न हो सकता है तथा उसे बोधि की प्राप्ति होनी दुर्लभ है।

सम्यक्त्व के बिना संवर नहीं होता है—ऐसा आगम के अनेक स्थल पर उल्लेख है, परन्तु सम्यक्त्व के बिना निर्जरा नहीं होती है ऐसा आगम में कहीं भी उल्लेख नहीं है। अतः मिथ्यात्वी के सद्-अनुष्ठान से निर्जरा अवश्यमेव होती है। श्रीमज्जयाचार्य ने भ्रमविध्वंसनम् में कहा है—

"अकाम शील तप उपशांत पणो ए करणी ना धणी ने परलोक ना आराधक न थी, इम कह्या। ते पिण सर्व थकी आराधक न थी। पर निर्जरा आश्री देश आराधक तो ते छें।"

—मिथ्यात्वी क्रियाधिकार, पृ० २५

अर्थात् यदि मिथ्यात्वी—अकामनिर्जरा, शील, तप आदि सद्‌क्रिया का आचरण करता है तो उसे सम्पूर्ण आराधना की दृष्टि से अनाराधक कहा है, लेकिन निर्जरा की अपेक्षा से देशाराधक कहा है। आगे फिर देखिये कि श्रीमज्जयाचार्य ने भ्रमविध्वंसनम् में क्या कहा है—

"जे बालतप, अकामनिर्जरा ने आज्ञा बाहिरे कहे तेहने लेखे सरागसंयम, संयमासंयम, पिण आज्ञा बाहिरे कहणा। अनें जो सरागसंयम, संयमासंयम ने आज्ञा में कहे तो बालतप, अकामनिर्जरा ने जिण आज्ञा में कहणा। ए बालतप, अकामनिर्जरा, शुद्ध आज्ञा मांहि छे ते सरागसंयम संयमासयम रे भेला कह्या (देवगति के बंधन के कारणों में) ते अशुद्ध होवे तो भेला न कहिता।"

—मिथ्यात्वी क्रियाधिकार पृष्ठ ४३

सेन प्रश्नोत्तर के चतुर्थ उल्लास में कहा है—

ये चरकपरिव्राजकादिमिथ्यादृष्टयोऽस्माक कर्म्मक्षयो भवत्विति धिया तपश्चरणाद्यज्ञानकष्टं कुर्वन्ति तेषां तत्त्वार्थभाष्यवृत्तिप्रमय-

सारसूत्रवृत्तियोगशास्त्रवृत्त्यादि ग्रंथानुसारेण सकाम-निर्जरा भवतीति संभाव्यते, यतो योगशास्त्रचतुर्थप्रकाशवृत्तौ सकामनिर्ज्जराया हेतुबाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं तपः प्रोक्तम्, तत्र षट्प्रकारं बाह्य तपो, बाह्यत्वं च बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वात्कुतीर्थिकैर्गृहस्थैश्च कार्यत्वाच्चेति, तथा—लोकप्रतीतत्वात्कुतीर्थिकैश्च स्वाभिप्रायेणासेव्यत्वाद् बाह्यत्वमिति। त्रिंशत्तमोत्तराध्ययन-चतुर्दशसहस्रीवृत्तौ एतदनुसारेण षड्विधबाह्यतपस कुतीर्थिकासेव्यत्वमुक्तं परं सम्यग्दृष्टि-सकाम-निर्ज्जरापेक्षया तेषां स्तोका भवति, यदुक्तं भगवत्यष्टमशतकदशमोद्देशके ( देशाराहएत्ति ) बालतपस्वी स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थः, सम्यग्बोधरहितत्वात्क्रियापरत्वाच्चेति, तथा च मोक्ष-प्राप्तिर्नभवति स्तोककर्म्मांशनिर्ज्जरणात् भवत्यपि च भावविशेषाद्वल्कलचीर्यादिवत्, यदुक्तम्।

आसंवरो अ, सेयंवरो अ बुद्धो य अहवअन्नो वा।
समभावभावि अप्पा, लहेइ मुक्खं न संदेहो॥
××× ।
अणुकंप काम निज्जर-बाल तवेदाणविणयविब्भंगे।
संजोगविप्पओगे, वसणूसव इड्ढि सक्कारे॥

—सेन प्रश्नोत्तर ४ उल्लास

अर्थात् चरक, परिव्राजक आदि मिथ्यादृष्टि जीव—कर्मक्षय के लिए तपादि अज्ञान कष्ट करते हैं तो उनके—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, समयसारसूत्रवृत्ति, योगशास्त्रवृत्ति आदि ग्रन्थों के अनुसार सकाम निर्जरा होती है—सकाम निर्जरा की संभावना की जाती है। क्योंकि योगशास्त्र की चतुर्थ प्रकाश की टीका में सकाम निर्जरा के हेतुभूत बाह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का तप कहा गया है। बाह्य तप छह प्रकार का कहा गया है।[1] यह अन्न आदि बाह्य वस्तुओं से सम्बन्धित होता है और दूसरों के द्वारा

---

१—अनशनोनोदरिकावृत्तिसंक्षेपरसपरित्यागकायक्लेशप्रतिसंलीनता बाह्यम्।
—जैन सिद्धान्त दीपिका ५।१६

प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, अतः वह बाह्य तप कहलाता है। लोक व्यवहार में भी देखा जाता है कि इस बाह्य तप का आचरण मिथ्यात्वी भी करते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र की (तीसवें अध्ययन की) चतुर्दशी सहस्री टीका के अनुसार षड्विध बाह्य तप का सेवन मिथ्यादृष्टि भी करते हैं, परन्तु सम्यग्दृष्टि की सकाम निर्जरा की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि की सकाम निर्जरा स्तोक—कम है।

भगवती सूत्र मे—शतक ८/उ०१०मे कहा गया है कि बालतपस्वी ने मोक्षमार्ग की आंशिक आराधना की है, क्योंकि वह सम्यग् ज्ञान रहित तथा क्रिया सहित है और वल्कल चीरादि की तरह स्तोक कर्मों की निर्जरा से उसे मोक्ष की प्राप्ति (उस बालतपस्वी अवस्था मे) नहीं होती है। कहा गया है कि जिस बुद्ध ज्ञानी के संपूर्णरूप से आश्रव का निरोध हो जाता है, वह समभाव-भावितात्मा मोक्ष को प्राप्त करता है। तथापि मिथ्यात्वी जीव के अनुकंपा, सकाम निर्जरा, अकाम निर्जरा, (बालतप) दान, विनय आदि शुभ अनुष्ठान होते हैं।

अस्तु सम्यग्दृष्टि होने मात्र से उसको सभी क्रियाएँ शुद्ध नहीं होती। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि की सभी क्रियाएँ अशुद्ध नहीं होती। सम्यग्दृष्टि भी असद् क्रिया करता हुआ ससार को बढ़ाता है और मिथ्यादृष्टि भी सद् क्रिया करता हुआ संसार को कम करता है। इसके भी कर्मनिर्ज्जरण होता है। श्री मज्जयाचार्य ने भ्रमविध्वंसनम् ग्रन्थ मे कहा है —

"जे मिथ्यात्वी गाय ने गाय श्रद्धे, मनुष्य ने मनुष्य श्रद्धे, दिन ने दिन श्रद्धे, सोना ने सोना श्रद्धे—इत्यादि जे संवली श्रद्धा छै ते क्षयोपशम भाव छै।"

—मिथ्यात्वी क्रियाधिकार पृ० ७८

युगप्रधान आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका मे कहा है—

"मिथ्यादृष्टौ मनुष्यपश्वादिप्रतिपत्तिरविपरीता समस्त्येवेति तद् गुणस्थानम्, किञ्च नास्त्येतादृक् कोऽप्यात्मा, यस्मिन् क्षयोपशमादिजन्या नाल्पीयस्यपि विशुद्धिः स्यात्, अभव्यानां निगोदजीवानामपि च तत्सद्भावात्, अन्यथाजीवत्वापत्तेः।"

—जैन० प्रकाश ८/३ टीका

अर्थात् मिथ्यादृष्टि में मनुष्य, पशु आदि को जानने की अविपरीत दृष्टि होती है, अतः मिथ्यादृष्टि का गुणस्थान बतलाया गया है। क्योंकि ऐसा कोई भी आत्मा नहीं है, जिस के क्षयोपशम जन्य थोड़ी भी विशुद्धि न हो और दूसरों की तो बात ही क्या, अभव्य एवं निगोद के जीवों के भी वह विशुद्धि होती है और यह स्वीकार किये बिना उन मिथ्यात्वियों मे और अजीव में कोई अन्तर ही नहीं रहता।

मिथ्यात्वी के सद्क्रिया से आत्मा को विशुद्धि होती है, कर्मो की निर्जरा के बिना आत्मा की विशुद्धि नहीं होती है। सेन प्रश्नोत्तर, योगशास्त्र, तत्वार्थ-भाष्य वृत्ति, जैन सिद्धान्त दीपिका आदि ग्रन्थों में भी मिथ्यात्वी के सकाम तथा अकाम दोनों प्रकार की निर्जरा का उल्लेख किया गया है।

सद्क्रियाओं का आचरण करने से मिथ्यात्वी के कर्मो का गाढ बंधन नहीं होता है, उसके क्रोध-मान माया-लोभ पतले पड जाते है। मिथ्यात्वी के शुद्ध पराक्रम—शुद्ध आचरण—शुद्ध क्रिया से जैसे-जैसे निर्जरा होती है, वैसे-वैसे कर्मों का क्षय होता जाता है। कर्मो का क्षय होते-होते वह सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। आचार्य भिक्षु ने मिथ्यात्वी की निर्णय की ढाल ४ मे कहा है :—

मिथ्याती निरवद करणी करें, तिणरे निरजरा कही जिनराय।
तिण माहे संक म राखजो, जोवों सूतर रें मांय॥ १॥
मिथ्याती आछी करणी कीयां बिना, किणविध पामें समकत सार।
सुध प्राक्रमसूं समकत पांमसी, तिणमें संका म राखो लिगार॥२॥
धूर सूं तो जीव मिथ्याती थकां, सुणें साधां री वाण।
ग्यांन समकत पाय साधां कने, अनुक्रमें पोहचें निरवाण॥३॥
सुणीयां सूं समकत पांमसो, इणमें कूड नहीं लवलेस॥६॥
जो मिथ्याती री करणी असुध हुवे, वले असुध प्राक्रम हुवै ताय।
जब सुणबोइ तिणरो असुध हुवै, तो उ समकती कदेय न थाय॥८॥

—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर भाग १, पृ० २६६

अर्थात् मिथ्याती के शुद्ध क्रिया से कर्म कटते हैं, वह शुद्ध लेश्या, पराक्रम आदि से सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है।

अस्तु, जिनाज्ञा के अन्तर्गत करणी—क्रिया करने से मिथ्यात्वी के निर्जरा के साथ-साथ पुण्य का भी बंध होता है। आज्ञा के बाहर की क्रिया से अशुभ कर्म का क्षय नहीं होता तथा शुभकर्म-पुण्यकर्म का बंध नहीं होता है।[1] श्रीमज्जयाचार्य ने ३०६ बोल की हुन्डी मे—दूसरी ढाल मे कहा है—

जिण आगन्यां मांहिली करणी करै।
शुभजोग वर्तै तिण वार॥
तिहाँ कर्म कटै पुण्य निपजै।
देखो सिद्धान्त मझार॥
शुभकर्म बंधै जीव रे।
ते आज्ञा मांहिली सूं जाण॥
ठाम ठाम सिद्धान्त में जिण कह्यो।
ते सुणज्यो समता आण॥
केई अज्ञानी इम कहै
आज्ञा बाहरली करण सूं पुण्य॥
त्यां ने खबर नहीं जिण धर्म री।
त्यांरी जावक बात जबून्य॥

—३०६ बोलकी हुंडी

अर्थात् पुण्य का बंध शुभयोग से होता है—शुभयोग—निरवद्यानुष्ठान होने से जिन आज्ञा के अन्तर्गत की क्रिया है। यदि कोई मिथ्यात्वी त्याग-प्रत्याख्यान किये बिना ही हिंसा करने से भय रखता है, हिंसा करने से संकुचाता है, वहाँ उसके निर्जरा अवश्यमेव होगी, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति प्रशस्त अध्यवसाय मे प्रवर्तन कर रही है। इसका स्पष्टिकरण आचार्य भिक्षु ने अनुकम्पा की चौपई की नवमी ढाल मे इस प्रकार किया है—

---

१—शुभं कर्म पुण्यम्—शुभं कर्म सात-वेदनीयादि पुण्यमभिधीयते। उपचाराच्च यद्‌यन्निमित्तो भवति पुण्यबंध, सोऽपि तत्-तत् शब्दवाच्यः, ततश्च नवविधम्।

—जैन सिद्धांत दीपिका ४-१३

त्याग कियां विन हिंसा टालै।
तो ही कर्म निर्जरा थायोजी।
हिंसा टाल्यां शुभयोग वरतै छे।
तिहाँ पुण्य रा ठाठ बधायोजी ॥६॥

—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर भाग १ पृ० ५४७

अर्थात् त्याग किये बिना हिंसा को छोड़ने से शुभयोग की प्रवृत्ति होती है, फलस्वरूप पुण्य का बंध होता है। अतः मिथ्यात्वी त्याग किये बिना अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह धर्म आदि की आराधना करते हैं तो उनके निर्जरा अवश्यमेव होगी। मोक्ष के लक्ष्य से—आत्म-विशुद्धि की भावना से यदि सद्‌अनुष्ठानिक क्रिया करते हैं तो उनके सकाम निर्जरा होगी तथा इहलोक के लिए, परलोक के लिए, कीर्ति, वर्ण, पूजा, श्लाघा के लिए यदि किसी प्रकार की सद्‌अनुष्ठानिक क्रिया करते हैं तो उनको अकाम निर्जरा होगी। अस्तु मिथ्यात्वी सकाम और अकाम—दोनों प्रकार की निर्जरा करने के अधिकारी हैं।

जिन्होंने अभी मिथ्यात्व भाव को नहीं छोड़ा है अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं किया है; वे मिथ्यात्वी अकाम निर्जरा के द्वारा मनुष्यगति और तिर्यंचगति से मरण-प्राप्त होकर देवगति में उत्पन्न होते हैं। जैसे कि कहा है—

जे इमे जीवा गामागर-णगर-णिगम-रायहाणी-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणासम-सण्णिवेसेसु-अकामतण्हाए अकामछुहाए, अकामबंभचेरवासेणं, अकामसीतातव-दंस-मसग-अकामअण्हाणग-सेय-जल्ल-मल-पंक-परिदाहेण अप्पतरं वा भुज्जतरं वा कालं अप्पाणं परिकिलेस्संति, परिकिलेसित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति।

—भग० श १। उ १। सू ४६

अर्थात् कतिपय मिथ्यात्वी (जो असयत, अविरत हैं) जो ग्राम आदि स्थानों में अकाम तृषा से, अकाम क्षुधा से, अकाम ब्रह्मचर्य से, अकाम शीत, आतप तथा डांस-मच्छरों के काटने से, दुःख को सहन करने से, अकाम स्नान, पसीना, जल्ल,

मैल तथा पंक-कीचड़ से होने वाले परिदाह से थोड़े समय तक या बहुत समय तक अपनी आत्मा को क्लेशित करते हैं। अपनी आत्मा को क्लेशित करके मृत्यु के समय मरकर वाणव्यंतर देवों में उत्पन्न होते हैं।

अस्तु मोक्ष की अभिलाषा के बिना जो सद् क्रिया की जाती है वह अकाम निर्जरा है। इसके विपरीत आत्मशुद्धि की भावना से—मोक्ष अभिलाषा से यदि मिथ्यात्वी ब्रह्मचर्यादि की प्रति-पालना करते हैं तब सकाम निर्जरा होती है। राजवार्तिक में भट्टाकलंकदेव ने कहा है—

तत्र ज्ञानावरणक्षयोपशमापादितानि त्रीण्यपि ज्ञानानि मिथ्याज्ञानव्यपदेशभाञ्जि भवन्ति। तस्य विकल्पा प्राग्व्याख्याताः। ते सर्वे समासेन द्विधा व्यवतिष्ठन्ते—हिताहितपरीक्षाविरहिता परीक्षकाश्चेति। तत्रैकेन्द्रियादयः सर्वे संज्ञिपर्याप्तकवर्जिताः हिताहित परीक्षाविरहिता पर्याप्तका उभयेऽपि भवन्ति।

—तत्त्वार्थराजवा० अ ६-१-१२

अर्थात् मिथ्यादृष्टि के ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाले तीनों ज्ञान —मिथ्याज्ञान होते हैं। सामान्यतया मिथ्यादृष्टि हिताहित परीक्षा से रहित और परीक्षक—इन दो श्रेणियों में विभक्त किये गये हैं। संज्ञी पर्याप्तक को छोड़कर एकेन्द्रियादि हिताहित परीक्षा से रहित हैं और संज्ञीपर्याप्तक हिताहित परीक्षा से रहित और परीक्षक दोनों के प्रकार के होते हैं। परन्तु ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षयोपशम सभी मिथ्यात्वी में होता है। उनमें से एकेन्द्रियादि जीवों के सकाम निर्जरा नहीं होती, अकामनिर्जरा होती है तथा संज्ञी पर्याप्तक जीवों के सकाम निर्जरा व अकाम निर्जरा—दोनों प्रकार की निर्जरा होती है।

## ३ : मिथ्यात्वी और आश्रव

मिथ्यात्वी के पुण्य का भी आश्रव होता है। यह निश्चित है कि शुभयोग की प्रवृत्ति के बिना पुण्याश्रव नहीं होता है। योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

सरागसंयमो देशसंयमोऽकामनिर्जरा।
शौचं बालतपश्चेति सद्वेद्यस्य स्युराश्रवाः ॥४॥

—योगशास्त्र प्रकाश ४, श्लोक ७८ टीका

अर्थात् पुण्य-आस्रव के निम्नलिखित कारण हैं—सरागसंयम, देशसंयम, अकाम निर्जरा, बालतप, शुभ-प्रवृत्ति। ये शुभयोग आस्रव के कारण हैं। मिथ्यादृष्टियों की तपस्या को बालतप में सम्मिलित किया है। अकाम निर्जरा—मिथ्यात्वी और सम्यक्त्वी—दोनों के होती है। षट्खण्डागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन ने कहा है—

मिच्छाइट्ठिप्पहुडि ××× बंधा चेव। तत्थ बंधकारण मिच्छत्ता-दीणमुवलंभादो।

—षट्० खं० २, १, सू ६। पु ७। पृ० १६

अर्थात् मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व आदि आस्रव बंध के कारण हैं। जिस मिथ्यात्वी के तीव्र मोहनीय कर्म का उदय होता है वह मिथ्यात्वी राग और द्वेष के वशीभूत होकर महाघोर कर्म का बंध कर लेता है। सूयगडांग में कहा है—

रागदोसाभिभूयप्पा, मिच्छत्तेण अभिद्दुया।
अक्कोसे सरणं जंति, टंकणा इव पव्वयं॥

—सूय० श्रु १। अ ३। उ ३। गा १८

अर्थात् राग और द्वेष से जिनका हृदय दबा हुआ है तथा जो मिथ्यात्व से भरे हुए हैं वे जब शास्त्रार्थ में पराजित हो जाते हैं तब गाली-गलौज और मारपीट का आश्रय लेते हैं। जैसे पहाड़ पर रहने वाली कोई म्लेच्छ जाति युद्ध मे हारकर पहाड़ का शरण लेती है। समवायांग सूत्र मे कहा है—

पंच आसवदारा पण्णत्ता, तंजहा—मिच्छत्तं, अविरई, पमाया, कसाया, जोगा।

—सम० सम ५, सू ४

टीका—आश्रवद्वाराणि-कर्मोपादानोपाया मिथ्यात्वादीनि।

अर्थात् कर्मों के आगमन के पाँच द्वार हैं, यथा—मिथ्यात्व, अव्रत प्रमाद, कषाय और योग। इन पाँच आस्रव द्वारों में से प्रथम चार आस्रव (मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय) एकान्ततः पाप बंधन के कारण हैं तथा योग आस्रव के दो भेद हैं—शुभयोग आस्रव तथा अशुभयोग आस्रव। इनमे से शुभयोग आस्रव—पुण्य बंध का कारण है तथा अशुभयोग आस्रव पाप बंधका कारण है।

मिथ्यात्वी के पुण्य का भी आस्रव होता है। क्योंकि उसके सद् अनुष्ठानिक क्रियाएँ हो सकती है तथा पाप कर्म का भी आस्रव होता है क्योंकि उसके मिथ्यात्व आदि अशुभ आस्रव द्वारों का निरोध नहीं है। अस्तु सद् अनुष्ठानिक क्रियाओं के द्वारा गाढ़ पुण्य का बंध होने से वे मिथ्यात्वी नववें ग्रैवेयक (वैमानिक देवों का एक भेद) तक उत्पन्न हो सकते हैं।

असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य तथा तिर्यंच पंचेन्द्रिय—जिन्हें जैन दर्शन में 'युगलिये' नाम से संबोधित किया जाता है। दस प्रकार के कल्पवृक्ष जिनकी आकांक्षा ( मनोकामना ) पूर्ति करते हैं। उन युगलियों का आयुष्य बंधन मिथ्यादृष्टि मनुष्य-तिर्यंच पंचेन्द्रिय ही सद्अनुष्ठानिक क्रिया के द्वारा करते हैं। चूँकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य तथा तिर्यंच-पंचेन्द्रिय—वैमानिक देव के आयुष्य का ही बंधन करते हैं, अन्य का नहीं तथा सम्यग्‌मिथ्यादृष्टि अर्थात् तृतीय गुणस्थान वाले जीव किसी भी गति के आयुष्य का बंधन नहीं करते हैं अतः सिद्ध हो जाता है कि मिथ्यात्वी के शुभ योग का आस्रव भी होता है। शुभयोग का आश्रव-जिन भगवान की आज्ञा की क्रिया-निर्जरा के होने से होता है।

## ४ : मिथ्यात्वी और पुण्य

साधारणतः सांसारिक जीव पुण्य के बंधन के बिना निम्नतर विकास से उच्चतर विकास को प्राप्त नहीं होता है। पुण्य का बंध निर्जरा के बिना नहीं होता है। आचार्य भिक्षु ने कहा है—

> पुण्य नीपजे तिण करणी मम्हे, तिहा निरजरा निश्चे जाण।
> जिण करणी री छै जिन आगन्यां, तिण में शंका मत आंण॥
>
> —नव पदार्थ की चौपई पुण्य पदार्थ की ढाल २, दोहा २

अर्थात् जिस करनी से पुण्य का बन्ध होता है उसमें निर्जरा निश्चय रूप से होती है। निर्जरा की करनी में जिन आज्ञा है इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। सावद्य करनी से पुण्य का बंध नहीं होता है। पुण्य का बंध होता है एक निरवद्य करनी से ही ; चाहे मिथ्यात्वी उस निरवद्य करणी को क्यों न करें। मिथ्यात्वी भी निरवद्य करनी-क्रिया करने के अधिकारी हैं। आगे आचार्य भिक्षु ने मिथ्याती री करणी की चौपई मे, ढाल १ में कहा है—

निरवद्द करणी करें पहले गुणठाणें।
तिण करणी नें आंणें जावक अशुध॥
इसड़ी प्ररूपणा करें अज्ञानी।
तिणरी भ्रष्ट हुई छें सुध नें बुध॥ २६॥
निरवद्द करणी कोई करें मिथ्याती।
तिणरें कहें गुण नीपजें नही कांइ॥
तिणनें भगवंत पिण आगना नहीं देवें।
एहवी केहें छै अज्ञानी परखदा मांहीं॥३१॥

—भिक्षु-ग्रंथ रत्नाकर भाग १, पृ० २५७

अर्थात् प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव—मिथ्यात्वी यदि निरवद्य करणी करता है उस निरवद्य करणी को यदि कोई अशुद्ध कहता है मानों उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है और वे परिषद मे प्ररूपना करते हैं कि मिथ्यात्वी के उस निरवद्य करणी की भगवान आज्ञा नहीं देते—वस्तुतः यह उनका भ्रम है, वे दृष्टि से दिग्मूढ़ हैं, मोह से ग्रसित है। निरवद्य करणी से मिथ्यात्वी के पुण्य का बंध अवश्यमेव होगा।

सूत्रकृतांग व तत्वार्थ सूत्र मे कहा गया है कि धर्म के बिना पुण्य का बंध नहीं होता? सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचन्द्राचार्य ने भी द्रव्य संग्रह मे कहा है कि शुभयोग से पुण्य का बंध निश्चय ही होता है।[1]

सुह असुहभावजुत्ता पुण्ण पावं हवंति खलु जीवा।

—बृहद् द्रव्यसंग्रह गा ३८

महाभारत के अन्तिम पृष्ठों मे भी कहा गया है कि धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है जिन्हें जैन सिद्धांतानुसार पुण्य का फल कहा जाता है।

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष, न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

—महाभारत

---

१ -शुभपरिणामानुबन्धात् शुभो योग. × × × तस्यैवास्रवः शुभो योगः पुण्यस्य।

तत्वार्थ अ ६। सू० ३० —सिद्धसेनगणि टीका

अर्थात् मैं भुजा उठाकर कहता हूँ कि धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। योगशास्त्र व पातंजल योगानुसार भी हम कह सकते हैं कि पुण्यबंध बिना शुभ योग के नहीं होता है। शांत सुधारस में (आस्रव-भावना के) भी कहा है कि शुभ योग के बिना पुण्य का बंध नहीं होता है।

शुद्धाः योगाः यदपि यतात्मनां, स्रवन्ते शुभकर्माणि।
कांचननिगडांस्ताम्यपि जानीयात्, हत निर्वृत्तिकर्माणि॥

—शांतसुधारस

अस्तु मिथ्यात्वी शुभ क्रिया से पुण्य का बंध करके मनुष्यगति, देवगति मे उत्पन्न होता है। दशाश्रुतस्कंध सूत्र मे कहा है—

अत्थि सुकडदुक्कडाणं कम्माणं फलवित्तिविसेसे, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवंति, सफले कल्लाणपावए, पच्चायंति जीवा।

—दशाश्रुत० अ ६। सू १७

अर्थात् सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल सुख और दुःख रूप है। शुभ परिणाम से किये हुए कर्म शुभ फल वाले होते हैं तथा अशुभ परिणाम से आचरण किये हुए कर्म—प्राणातिपात आदि—नरक, निगोद आदि के अशुभ फल देने वाले हैं। पुण्य और पाप, सुख और दुःखरूपी परिणाम वाले होते हैं।

प्रदेशी राजा[1] जैसे—निष्ठुर ( महामिथ्यात्वी ) व्यक्ति भी सद्संगति से मिथ्यात्व भाव को छोड़कर सम्यक्त्व रूपी रत्न की प्राप्ति की। अन्ततः वे एक सच्चे श्रमणोपासक बने। श्रावकत्व धर्म की आराधना कर सूर्याभदेव हुए (सौधर्म देव लोक के एक विमान विशेष मे उत्पन्न)। अतः मिथ्यात्वी शुभलेश्या, शुभ योग का अवलम्बन कर सम्यग्दर्शन प्राप्ति का उपाय सोचे। सचमुच ही सद्संगति के संयोग की प्राप्ति होनी दुर्लभ है। सद्संगति से पतित व्यक्ति पावन बन जाता है।

जब मिथ्यात्वी करणविशेष से सम्यक्त्व, देशविरति और सर्वविरति मे प्रवेश करता है उस समय प्रशस्त लेश्या होती है। परन्तु उत्तरकाल मे छओं लेश्या हो सकती है। कहा है—

---

१—रायप्रश्नीय सूत्र

सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकाले शुभलेश्यात्रयमेव भवति। उत्तरकालं तु सर्वा अपि लेश्याः परावर्तन्तेऽपि इति। श्रीमदाराध्यपादा अप्याहुः—

सम्मत्तसुयं सव्वासु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्तं
पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नरीए उ लेसाए॥

—आ० नि० गा ८२२

अर्थात् सम्यक्त्वादि की प्राप्ति के समय तीन शुभ लेश्यायें होती हैं[1] श्रीमज्जयाचार्य ने कहा—

"पहिले गुणठाणे अनेक सुलभ बोधी जीवां सुपात्र दान देइ, जीवदया, तपस्या, शीलादिक, भली उत्तम करणी, शुभ योग, शुभ लेश्या निरवद्य व्यापार थी परीत संसार कियो छै। ते करणी शुद्ध आज्ञा मांहिली छै। ते करणी रे लेखे देशथकी मोक्षमार्गनो आराधक कह्यो छै।"

—भ्रमविध्वंसनम् पृ० २

कटपूतना नामक वाणव्यंतरी जो पूर्वजन्म में (मिथ्यात्वी अवस्था में) बाल तप (शुभ आचारण) का आचरण किया था फलस्वरूप सुकृत के कारण कटपूतना वाणव्यंतरी हुई। कहा है—

वाणमन्तरिका तत्र नामतः कटपूतना।
त्रिपृष्ठजन्मनि विभोः पत्नी विजयवत्यभूत्॥
सम्यगप्रतिचरिता सामर्षा च सती मृता।
भ्रान्त्वा भवान् सा मानुष्यं प्राप्य बालतपोऽकरोत्।

—त्रिशलाघा० पर्व १० सर्ग ३। श्लोक ६१५, १६

अर्थात् शालिशीर्ष नामक ग्राम में कटपूतना वाणव्यंतरी देवी रहती थी। भगवान महावीर के त्रिपृष्ट वासुदेव के भव में वह उनकी विजयवती नामक पत्नी थी। सम्यग् प्रकार से सम्मान न मिला फलस्वरूप रोष से वह मरी।

---

१—कर्मग्रन्थ भाग ४

कितने भव के बाद मनुष्य जन्म में उसने बालतप का आचरण किया—मृत्यु प्राप्त कर कटपूतना वाणव्यंतरी देवी हुई।

अतः मिथ्यात्वी हिंसादि पापों से यथाशक्ति विरत होकर, सत्यवचन और और शुभ योग से पुण्य कर्मों का बंधन करता है जिसके कारण वह मनुष्यगति अथवा देवगति में उत्पन्न होता है। अस्तु सद् आचरण का फल निष्फल नहीं होता। निर्जरा रूप धर्म के बिना पुण्य नहीं हो सकता है। पुण्य—धर्म का अविनाभावी है—जैसा कि युगप्रधान आचार्य तुलसी ने कहा है—

तच्च धर्माविनाभावि।

—जैन सिद्धांत दीपिका प्रकाश ४, सू १४

टीका—सत्प्रवृत्त्या हि पुण्यबंधः, सत्प्रवृत्तिश्च मोक्षोपायभूतत्वात् अवश्यं धर्मः, अतएव धान्याविनाभावि बुसवत् तद्धर्मं विना न भवतीति मिथ्यात्वीनां धर्माराधकत्वमसंभवं प्रकल्प्य पुण्यस्य धर्माविनाभावित्वं नारेकणीयम्, तेषामपि मोक्षमार्गस्य देशाराधकत्वात्। निर्जराधर्मं विना सम्यक्त्वलाभाऽसंभवाच्च। संवररहिता निर्जरा न धर्म इत्यपि न तथ्यम्। किं च तपसः मोक्षमार्गत्वेन धर्मविशेषणत्वेन च व्याख्यातत्वात्। अनयैव दिशा लौकिकेऽपि कार्ये धर्मातिरिक्तं पुण्यं पराकरणीयम्।

अर्थात् पुण्य का बंध—एकमात्र सत्प्रवृत्ति के द्वारा ही होता है, सत्प्रवृत्ति मोक्ष का उपाय होने से वह अवश्य धर्म है अतएव जिस प्रकार धान के बिना तूड़ी पैदा नहीं होती है, वैसे ही धर्म के बिना पुण्य नहीं होता। मिथ्यात्वी धर्म की आराधना नहीं कर सकते, यह मानकर पुण्य की स्वतन्त्र उत्पत्ति बतलाना भी उचित नहीं, क्योंकि मिथ्यात्वी मोक्षमार्ग के देश (अंश) आराधक बतलाये गये हैं और उनके निर्जरा धर्म न हो तो वे सम्यक्त्वी भी नहीं बन सकते अतः उनके भी धर्म के बिना पुण्य बन्ध नहीं होता और संवररहित निर्जरा

धर्म नहीं है, क्योंकि तप को मोक्षमार्ग का[1] और धर्म का[2] विशेषण बतलाया गया है। प्रवचन सार में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

उवओगो जदि हि सुहो पुण्ण जीवस्य संचयं जादि।

—प्रवचनसार अ २।६४

अर्थात् शुभ उपयोग से पुण्य का संचय होता है। जीव के निरवद्य योग का प्रवर्तन होता है तो उसके शुभ पुद्गलों का बन्ध होता है। शुभ योग, शुभ भाव, शुभ परिणाम, शुभ उपयोग—ये सब एकार्थवाची हैं। आचार्य भिक्षु ने नव पदार्थ की चोपई ( पुण्य पदार्थ ) ढाल २ में कहा है—

ठाम ठाम सुतर में देखलो रे लाल,
निरजरा नें पुनरी करणी एक हो।
पुन हुवे तिहां निरजरा रे लाल,
तिहां जिन आगनां छै विशेष हो ॥ ५६ ॥

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर भाग १। पृ० १६

अर्थात् स्थान-स्थान पर सूत्रों में देखकर निर्णय करो कि निर्जरा और पुण्य की करणी एक है। जहाँ निर्जरा होती है वहाँ विशेष रूप से जिनाज्ञा है। अस्तु मिथ्यात्वी के शुभयोग से पुण्य का बन्ध और निर्जरा दोनों—होते हैं।[3]

---

१—नाणं च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एवं मग्गु त्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥

उत्त० २८।१

२—धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।

—दसवै० अ १। गा १

३—शुभयोग एवं शुभकर्मण आस्रवः पुण्यबन्धहेतुरिति।

—जैन सिद्धान्त दीपिका ४।२८

यत्र शुभयोगस्तत्र नियमेन निर्जरा।

—जैन० प्रकाश ४।२१

## ५ : मिथ्यात्वी और आयुष्य का बंधन

मिथ्यादृष्टि अपने आयुष्य को समाप्त कर निम्नलिखित स्थानों में उत्पन्न होते हैं—

(१) तिर्यंच में सर्वत्र, (२) नारकी में सर्वत्र, (३) मनुष्य में—कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज तथा अंतर्द्वीपज मनुष्यों में और (४) देव में—पाँच अनुत्तरविमान वासी देवों को छोड़कर अन्य देवों में। अशुभ कर्मों के कारण तिर्यंच-नारकी मे उत्पन्न होते हैं, शुभ कर्मों के कारण मनुष्य-देवों मे उत्पन्न होते हैं। मायी मिथ्यादृष्टि जीव उत्कृष्टत नवमें ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकते हैं। कहा है—

माया—तृतीयः कषायः साऽन्येषामपि कषायाणामुपलक्षणं माया विद्यते येषां ते मायिन उत्कटराग-द्वेषा इत्यर्थः ते च ते मिथ्यादृष्ट-यश्चमायिमिथ्यादृष्टयस्तथा रूपा उपपन्नका—मायि उपपन्ना मायि-मिथ्यादृष्ट्युपपन्नकास्तद्विपरीता अमायिसम्यग्दृष्ट्युपपन्नकाः, इह मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नकग्रहणेन नवमग्रैवेयकपर्यन्ताः परिगृह्यन्ते ×××।

—प्रज्ञापना पद १५। उ १। सू ९९८—टीका

अर्थात् मायी मिथ्यादृष्टि अर्थात् माया-तीसरी कषाय है और वह अन्य कषाय का उपलक्षण है। वह जिसके है—ऐसा मायी उत्कृष्ट रागद्वेष वाला मिथ्यादृष्टि। मायी मिथ्यादृष्टि नवमें ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकता है।

यदि मिथ्यादृष्टि जीव माया—कषाय मे अनुरंजित हो जाता है तो वह तिर्यंचगति मे उत्पन्न होता है—कहा है—

"माइमिच्छादिट्ठि, त्ति मायावंतो हि तेषु प्रायेणोत्पद्यन्ते, यदाह शिवशर्माचार्य—

"उम्मग्गदेसओ मग्गनासओ गूढहियमाइल्लो।
सढसीलो य ससल्लो तिरियाउं बंधई जीवो ॥१॥

ततस्ते मायिन उच्यन्ते, अथवा माया इह अनन्तानुबन्धि-

कषायोपलक्षणं ततो मायिन इति किमुक्तं भवति ?—अनन्तानुबंधि-कषायोदयवन्तः अतएव मिथ्यादृष्टयः।

—प्रज्ञापना पद १७। उ १। सू ११४२ टीका

अर्थात् तिर्यंच योनि में प्राय: माया वाले मिथ्यादृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं। शिवशर्माचार्य ने कहा है—"उन्मार्ग का उपदेशक, मार्ग का नाशक, गूढ़ हृदय वाला, माया वाला, शठस्वभाव वाला और शल्य युक्त जीव ( मिथ्यादृष्टि ) तिर्यंच के आयुष्य का बंधन करता है। माया शब्द अनंतानुबंधीय कषाय चतुष्क का उपलक्षण है। माया वाला अर्थात् अनंतानुबंधीय कषायोदय वाला मिथ्यादृष्टि होता है।

जो जीव जिसलेश्या के द्रव्यों को ग्रहण करके काल करता है वह उसी लेश्या में जाकर उत्पन्न होता है। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि सभी लेश्याओं की प्रथम तथा अन्तिम समय की परिणति में किसी भी जीव की परभव में उत्पत्ति नहीं होती है। लेश्या की परिणति के बाद अन्तर्मुहूर्त व्यतीत होने पर और अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जीव परलोक में जाता है।

यद्यपि मिथ्यात्वी के भी लेश्या परिणाम की विविधता है। उसके छओं लेश्या के परिणाम—तीन प्रकार के, नौ प्रकार के, सत्ताईस प्रकार के, इक्यासी प्रकार के, दो सौ तेंतालीस प्रकार के, बहु, बहुप्रकार के परिणाम होते हैं।[1] मिथ्यात्वी के छओं लेश्याओं के स्थान प्रत्येक के असंख्यात स्थान होते हैं। मिथ्यात्वी के क्षायोपशमिक भाव रूप विशुद्ध लेश्या होती है किन्तु औपशमिक और क्षायिक रूप नहीं। कहा है—

मोहुदय खओवसमोवसमखयज जीवफंदणं भावो।

—गोम्मट० जीवकांड गा ५३५ उत्तरार्ध

अर्थात् मोहनीय कर्म के उदय, क्षयोपशम, उपशम, क्षय से जो जीव के प्रदेशों की चंचलता होती है उसको भावलेश्या कहते हैं। अन्तर्द्वीपज मनुष्य जो नियमत: मिथ्यादृष्टि होते हैं उनमें भी शुभलेश्या का उल्लेख मिलता है।[2]

---

(१) उत्तराध्ययन अ ३४। गा २०

(२) लेश्याकोश पृ० ८४

लेश्या की विशुद्धि से मिथ्यात्वी को जातिस्मरणज्ञान, विभंगज्ञान आदि उत्पन्न होते हैं।[1]

मिथ्यात्वी सद्क्रिया के द्वारा सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर यदि शुभलेश्या में काल प्राप्त होता है तो वह परभव में सुलभ बोधि होता है। यदि हठाग्रह मे फंस कर, मिथ्यादर्शन में रत होकर कृष्ण लेश्या मे काल प्राप्त होता है तो वह परभवमें दुर्लभ बोधि होता है। मिथ्यादृष्टि अभवसिद्धिक मे भी छओं लेश्यायें होती है।[2] देवेन्द्रसूरि ने कहा है—

किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा

—चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा १३। पूर्वार्ध

अर्थात् भव्यसिद्धिक तथा अभव्यसिद्धिक जीवों मे छओं लेश्यायें होती हैं। यदि मिथ्यात्वी के प्रशस्त लेश्याओं से कर्म नहीं कटते तो भगवान ऐसा नहीं कहते—

तम्हा एयाण लेसाणं, अणुभावे वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता, पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणि।

—उत्तराध्ययन० ३४।६१

अर्थात् लेश्याओं के अनुभावों को जानकर संयमी मुनि अप्रशस्त लेश्याओं को छोड़कर प्रशस्त लेश्या में अवस्थित हो विचरे। मिथ्यादृष्टि गर्भस्थ जीव भी अप्रशस्त लेश्याओं मे मरण प्राप्त होकर नरक में उत्पन्न हो सकता है।[3] इसके विपरीत प्रशस्त लेश्याओं में मरण प्राप्त होकर देवलोक में उत्पन्न हो सकता है। कतिपय मिथ्यादृष्टि को गर्भस्थ में भी वीर्यलब्धि आदि लब्धियाँ उत्पन्न हो जाती है। लब्धियों की उत्पत्ति कर्मों के क्षयोपशम विशेष से होती है। गर्भस्थ मिथ्यादृष्टि जीव सद्अनुष्ठानिक क्रियाओं से देवगति तथा मनुष्य गति मे उत्पन्न हो सकते हैं।

---

(१) लेश्याकोश २१६,१७

(२) लेश्याकोश पृ० २०१

(३) लेश्याकोश पृ० २१५,२११

मिथ्यादृष्टि सत्क्रिया के प्रभाव से सबसे ऊपर के ग्रैवेयक देवलोक में उत्पन्न हो सकता है। आचार्य मलयगिरि ने कहा है—

तस्मान्मिथ्यादृष्टय एवाभव्याभव्या वा श्रमणगुणधारिणो निखिलसमाचार्यनुष्ठानयुक्ता द्रव्यलिंगधारिणोऽसंयतभव्यद्रव्यदेवाः प्रतिपत्तव्याः, तेऽपीहाखिलकेवलक्रियाप्रभावत उपरितनग्रैवेयकेषूत्पद्यन्त एवेति, असंयताश्च ते सत्यप्यनुष्ठाने चारित्रपरिणामशून्यत्वात्।

—प्रज्ञापना पद २०। सू० १४७०। टीका

मिथ्यादृष्टि भव्य अथवा अभव्य जीव श्रमणत्वकी पर्याय रूप सर्व समाचारी को स्वीकार किया लेकिन सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सके। क्रियायुक्त द्रव्यलिंग को धारण करने वाले वे मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व रहित सत्क्रिया के प्रभाव से उत्कृष्टतः नववें ग्रैवेयक में उत्पन्न हो जाते हैं। यद्यपि उनके चारित्र रूप संवर नहीं होता है क्योंकि सम्यक्त्व को अभी स्पर्श नहीं किया है।

चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्वी जीव होते हैं, मिथ्यात्वी नहीं। ज्ञान की अपेक्षा से वह बाल नहीं माना जाता, आचरण की अपेक्षा से बाल माना जाता है, आगम में कहा है—

अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जई, विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ, विरयाविरयं पडुच्च बाल-पंडिए आहिज्जइ।

—सूत्रकृतांग श्रु २। अ २। सू ७५

अर्थात् अविरत भाव की अपेक्षा से बाल, विरत भाव की अपेक्षा से पंडित, विरताविरत भाव की अपेक्षा से बालपंडित कहते हैं। सम्यग्ज्ञान दर्शन होते हुए भी आचरण अनियन्त्रित होने के कारण आचार-व्यवहार में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों को भी 'बाल' शब्द से अभिहित किया है। 'बाल' में प्रथम चार गुणस्थानवर्ती जीवों का समावेश हो जाता है क्योंकि उनमें किसी के भी त्याग-प्रत्याख्यान (संवर) नहीं है। भगवती सूत्र के टीकाकार आचार्य अभयदेव ने कहा है—

'एकान्त बालो मिथ्यादृष्टिः, अविरतो वा। ××× बालत्वे समानेऽपि अविरत सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो देवायु प्रकरोति।

—भगवती श १। उ ८। सू ३५६—टीका

अर्थात् एकान्त बाल मे मिथ्यादृष्टि और अविरत दोनों का समावेश है। इस प्रकार एकान्त बाल मे चतुर्थ गुणस्थान तक के जीवों का समावेश हो जाता है। भगवान ने अज्ञान एवं अदत्त आदि की विरति नहीं होने के कारण अन्य-तीर्थियों को 'एकान्त बाल' कहा है।[१] सूयगडांग मे मिथ्यादृष्टि व असयत अविरत अप्रत्याख्यानी को 'एकान्त बाल कहा है।[२] यदि सम्यक्त्वी ने एक भी प्राणी के वध की विरति की है तो उसे एकांत बाल नहीं कह सकते हैं। भगवती सूत्र मे कहा है—

जस्स णं एगपाणाए वि दण्डे अणिक्खित्ते से ण जो 'एगत बाले' त्ति वत्तव्वं सिया।

—भगवती श १७। उ २, सू २५

अर्थात् जिसने (सम्यग्दृष्टि) एक भी प्राणी के वध की विरति की है वह एकान्त बाल नहीं कहलाता है। वह वस्तुतः बाल पडित है। जिसने सम्पूर्ण विरति की है—वह पंडित है।

आगमों मे कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि मनुष्य सद् क्रियाओं के द्वारा मनुष्य के आयुष्य का तथा देवगति के आयुष्य का बन्धन करता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि मनुष्य सिर्फ वैमानिक देव के आयुष्य का बधन करता है—

किरियावाई पचिदियतिरिक्खजोणिया ××× सम्मद्दिट्ठी जहा मणपज्जवनाणी तहेव वेमाणियाउय पकरेन्ति ×××। जहा पंचि-दियतिरिक्खजोणियाणं वत्तव्वया भणिया एवं मणुस्साण भाणियव्वा, णवरं मणपज्जवणाणी नोसन्नोवउत्ता य जहा सम्मद्दिट्ठीतिरिक्ख-जोणिया तहेव भाणियव्वा।

—भगवती श० ३०। उ १ सू २६

अर्थात् सम्यग्दृष्टि मनुष्य—नारकी, तिर्यंच तथा मनुष्य के आयुष्य का बधन नहीं करता है, वैमानिक देव के आयुष्य का बधन करता है अतः

(१) भगवती ८ उ ७ सू २८८

(२) सूयगडांग श्रु २ अ ४

प्रथम गुणस्थान में—मिथ्यात्वी ही शुभ क्रिया से मनुष्य तथा देवगति ( वाण-व्यंतर—भवनपति, ज्योतिषी, वैमानिक—चारों प्रकार के देवों का आयुष्य ) के आयुष्य का बंधन करते हैं।

प्रथम गुणस्थान का जीव निरवद्य अनुष्ठान से कल्पातीत वैमानिक देव में उत्पन्न हो सकता है[1]—नव ग्रैवेयक देव मे उत्पन्न हो सकता है, परन्तु अनुत्तरोपातिक देवों मे उत्पन्न नहीं हो सकता है क्योंकि आराधक संयती ही अनुत्तरोपातिक देवों मे उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु असंयती तथा संयतासंयती नहीं। मिथ्यात्वी भद्रादि परिणाम से मनुष्य के आयुष्य का बन्धन करते हैं। उस भद्रादि परिणाम को आचार्य भिक्षु ने निरवद्य क्रिया मे सम्मिलित किया है। नवपदार्थ की चोपई मे कहा है --

प्रकृत रो भद्रिक नें वनीत छै रे लाल।
दया नें अमच्छर भाव जाण हो॥
तिणसूं बांधै आऊषो मिनख रो रे लाल।
ते करणी निरवद पिछाण।

—पुन्यपदार्थ की ढाल २। गा २५

जैसे बालपंडित वीर्य वाला मनुष्य अर्थात् संयतासंयती—(श्रावक) देशविरति और देश प्रत्याख्यान के कारण नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायु का बंध नहीं करता है, परन्तु देवायु का बंधन कर (वैमानिक देवायु का बन्ध) देवों मे उत्पन्न होता है। वैसे ही मिथ्यात्वी जीव सद् अनुष्ठानिक क्रियाओं के द्वारा मनुष्यायु और देवायु का बन्धन करता है। जैसा कि भगवती सूत्र मे कहा है—

बालपंडिए णं भंते ! मणूस्से किं णेरइयाउयं पकरेइ ? जाव-देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ? गोयमा ! ××× णो णेरइयाउयं पकरेइ, जाव-देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ! से केणट्ठेणं, जाव-देवाउयं

---

१—वैमानिका द्विविधाः। सौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलान्तकशुक्रसहस्रारानतप्राणतारणाच्युतकल्पजाः कल्पोपन्नाः। नवग्रैवेयकपञ्चानुत्तरविमानजाश्च कल्पातीताः।  — जैन सिद्धान्त दीपिका प्र ३ सू १९ से २१

किच्चा देवेसु उववज्जइ ? गोयमा ! बालपंडिए णं मणुस्से तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमपि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा, णिसम्म देसं उवरमइ, देसं णो उवरमइ, देसं पच्चक्खाइ, देसं णो पच्चक्खाइ। से तेणट्ठेणं देसोवरम-देसपच्चक्खाणेणं णो णेरइयाउयं पकरेइ, जाव—देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ। से तेणट्ठेणं जाव—देवेसु उववज्जइ।

—भगवती श १, उ ८, प्रश्न ३६२, ६३

अर्थात् बाल पंडित मनुष्य—नरकायु नहीं बांधता है, तिर्यंचायु नहीं बांधता है, मनुष्यायु नहीं बांधता है ; परन्तु देवायु को बांधकर देवलोक में उत्पन्न होता है। क्योंकि बालपंडित मनुष्य (पंचमगुणस्थानवर्ती जीव) तथा रूप श्रमण या माहण के पास से एक भी धार्मिक आर्य वचन सुनकर, धारण करके एक देश से विरत होता है, एक देश से प्रत्याख्यान करता है और एक देश से प्रत्याख्यान नहीं करता है अतः देशविरति और देशप्रत्याख्यान के कारण वह नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायु का बंध नहीं करता, लेकिन देवायु बांधकर देवों मे उत्पन्न होता है।

इस दृष्टान्त आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो मिथ्यादृष्टि जीव महारंभ, महापरिग्रहादि वाले होते है तथा असत्य मार्ग का उपदेश देकर लोगों को कुमार्ग मे प्रवृत्त करते हैं और इसी प्रकार दूसरे पापमय कार्य करते हैं, वे नरक अथवा तिर्यंच का आयुष्य बांधते हैं। इसके विपरीत जो मिथ्यादृष्टि जीव अल्पकषायी होते हैं, अकामनिर्जरा अथवा सकामनिर्जरा तथा विविध तप का आचरण करते हैं, वे मनुष्य अथवा देव का आयुष्य बांधते हैं। प्रश्न हो सकता है कि मिथ्यादृष्टि जीव की तरह सद्-अनुष्ठान से पंचमगुणस्थानवर्ती जीव मनुष्य का आयुष्य क्यों नहीं बांधते हैं ? उत्तर मे कहा जा सकता है कि पंचमगुणस्थानवर्ती जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं। आगम में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि देव तथा नारकी मनुष्यायु का बन्धन करते हैं तथा सम्यग्दृष्टि तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य केवल देव—वैमानिक देव के आयुष्य का ही बन्धन करते हैं। अतः बालपंडित मनुष्य सिर्फ वैमानिक देव का आयु बांधते हैं।

अतः उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि मिथ्यात्वी असद् अनुष्ठान से नरक गति और तिर्यंचगति का आयुष्य बाँधते हैं तथा सद् अनुष्ठान से मनुष्यगति तथा देवगति का आयुष्य बांधते हैं।

मिथ्यादृष्टि नारकी के असंख्यात अध्यवसाय कहे गये हैं। वे अध्यवसाय शुभ भी होते हैं और अशुभ भी। इसी प्रकार यावत् मिथ्यादृष्टि वैमानिक दंडकों में जानना चाहिए। नारकी में सम्यग्दृष्टि से मिथ्यादृष्टि असंख्यात गुण अधिक होते हैं। जीव के प्रति समय भिन्न-भिन्न अध्यवसाय होते हैं।[1] आयुष्य का बन्धन प्रशस्त अध्यवसाय में भी होता है और अप्रशस्त अध्यवसाय में भी।

ज्योतिष्क देवों का आयुष्य मिथ्यादृष्टि मनुष्य या मिथ्यादृष्टि तिर्यंच पंचेन्द्रिय बाँधते हैं। आयुष्य बांधने बाद मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं। मरण प्राप्ति के समय सम्यक्त्व हो भी सकता है। कहा है।—

ज्योतिष्का हि द्विविधाः मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नकाः अमायि-सम्यग्दृष्ट्युपपन्नकाश्च, तत्र मायानिर्वर्त्तितं यत्कर्म मिथ्यात्वादिकं तदपि माया, कार्ये कारणोपचारात् माया विद्यते येषां ते मायिनः, अतएव मिथ्यात्वोदयात् मिथ्या—विपर्यस्ता दृष्टिः—वस्तुतत्त्वप्रति-पत्तिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयो मायिनश्च ते मिथ्यादृष्ट्यश्च × × × तत्र ये ते मायिमिथ्यादृष्ट्युपपन्नकास्तेऽपि मिथ्यादृष्टित्वादेव व्रतविराधनातो अज्ञानतपोवशाद्वा।

—प्रज्ञापना पद ३५। सू २०८३—टीका

अर्थात् ज्योतिष्क देव दो प्रकार के हैं—मायिमिथ्यादृष्टिउपपन्नक और अमायिसम्यग्दृष्टि उपपन्नक। माया से बंधा हुआ मिथ्यात्वादिकर्म भी कारण में कार्य के उपचार से माया कहा जाता है। जिसको माया का सद्भाव है वह मायी। इस हेतु से मिथ्यात्व के उदय से मिथ्या-विपरीतदृष्टि-वस्तुतत्त्व की प्रतिपत्ति—बोध जिसको है वह मायिमिथ्यादृष्टि। मिथ्यादृष्टि से व्रतविराधना में या अज्ञान तप से मायिमिथ्यादृष्टि ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होते हैं। वस्तुवृत्या मिथ्यात्वी सद्अनुष्ठानिक क्रियाओं से ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होते हैं।

१ प्रज्ञापना पद १०।१ टीका।

# पंचम अध्याय

## १ : मिथ्यात्वी और क्रिया—कर्मबंधनिबंधनभूता—सद्अनुष्ठान क्रिया

कर्म बन्ध निबन्धनभूत को क्रिया कहते हैं। वह शुभ-अशुभ दोनों प्रकार की होती है। आरम्भिको आदि पचीस क्रियाओं मे एक क्रिया—मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया भी है। मिथ्यादर्शन अर्थात् तत्त्व मे अश्रद्धान या विपरीतश्रद्धान से लगने वाली क्रिया मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया है। प्रथम गुणस्थान मे वह क्रिया निरन्तर लगती रहती है। शल्य अर्थात् जिससे बाधा (पीड़ा) हो उसे शल्य कहते हैं। भावशल्य के तीन भेद किये जाते हैं, यथा—मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य। विपरीत श्रद्धान को मिथ्यादर्शन शल्य कहते हैं।[1] मिथ्यात्वी की दृष्टि को मिथ्यादृष्टि कहते हैं।[2] प्रज्ञापना में दृष्टि के स्थान पर दर्शन का भी उल्लेख हुआ है।[3] मिथ्यादर्शन प्रत्ययाक्रिया के दो भेद है यथा—ऊनातिरिक्त मिथ्यादर्शन तथा तद्व्यतिरिक्त मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया।

आत्मादि वस्तुओं के प्रमाण से अधिक या कम मानने या कहने रूप जो मिथ्यादर्शन है उस मिथ्यादर्शन निमित्त से जो क्रिया लगती है वह मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया है।

उपर्युक्त ऊनातिरिक्त मिथ्या दर्शन से भिन्न मिथ्यादर्शन निमित्त से—यथा आत्मा नहीं है—इत्यादि मान्यता रूप मिथ्यादर्शन निमित्त से जो क्रिया लगती है वह तद्व्यतिरिक्त मिथ्यादर्शन प्रत्ययिकी क्रिया कहलाती है।[4]

---

१—तओ सल्ला पन्नत्ता, तंजहा—मायासल्ले, णियाणसल्ले, मिच्छादंसणसल्ले।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू ३८५

२—ठाणांग ठाणा १०। सू ७३४

३—प्रज्ञापना पद १३।१९५

४—क्रियाकोश पृ० ५७

मिथ्यादर्शन शल्य के समान अत्यन्त दुःखदायी होता है ; जिस प्रकार किसी अंग मे शल्य काँटा चुभ जाने से घनी वेदना होती है उसी प्रकार शल्य रूप मिथ्यादर्शन आत्मा को महान कष्ट का कारण होता है। जैसा कि कहा है—

'मिच्छादंसणसल्लेण' ति मिथ्यादर्शनं—मिथ्यात्व तदेव शल्यं मिथ्यादर्शनशल्यम्।

—पण्ण० पद २२। सू १५८०। टीका

मिथ्यादर्शनं-विपर्यस्ता दृष्टिः, तदेव तोमरादिशल्यमिवशल्यं दुःखहेतुत्वात् मिथ्यादर्शनशल्यमिति।

—ठाण० स्था १। सू १०८ टीका

भगवती सूत्र मे कहा है—

मणुस्सा तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—सम्मदिट्ठी, मिच्छदिट्ठी, सम्मामिच्छदिट्ठी ×××। मिच्छादिट्ठीणं पंच किरियाओ कज्जंति—आरंभिया, पारिग्गहिया, मायावत्तिया, अप्पच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया। सम्मामिच्छदिट्ठीण पंच।

—भगवती श १। उ २ प्र० ६७

अर्थात् मनुष्य तीन प्रकार के हैं, यथा—सम्यग् दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि। मिथ्यादृष्टि मनुष्य को पाँच क्रियाएँ लगती हैं—आरम्भिकी, पारिग्रहिकी, मायाप्रत्यया, अप्रत्याख्यान प्रत्यया और मिथ्यादर्शन प्रत्यया।

मनुष्य की तरह सभी मिथ्यादृष्टियों को उपरोक्त पाँचों क्रियाएँ लगती हैं।

संक्षेपतः क्रिया के दो भेद हैं—द्रव्य क्रिया और भाव क्रिया। जीव तथा अजीव की स्पन्दन रूप—गति रूप क्रिया-द्रव्य क्रिया तथा जिस क्रिया से कर्मबंध होता है वह भाव क्रिया है।[1] मिथ्यात्वी के दोनों प्रकार की क्रिया होती है। मिथ्यात्व का एक भेद अक्रिया भी है। कहा है—

अकिरिया तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—पओगकिरिया, समुदाणकिरिया, अन्नाणकिरिया।

—ठाण० स्था० ३। उ ३। सू ४०४

---

१—क्रियाकोश पृ० १७, १८

अर्थात् मिथ्यात्व रूप अक्रिया के तीन भेद होते हैं, यथा—प्रयोगक्रिया, समुदानक्रिया और अज्ञान क्रिया। सम्यक्त्वादि पाँच क्रियाओं में भी मिथ्यात्वक्रिया का उल्लेख है।[1] प्राणातिपात आदि अठारह पापस्थान क्रिया में मिथ्यादर्शन शल्य क्रिया का भी विवेचन है।[2] तत्त्वार्थ भाष्य में आचार्य उमास्वामी ने कहा है—

पंचविंशतिः क्रियाः। तत्रेमेक्रियाप्रत्यया यथासंख्यं प्रत्येतव्याः। तद्यथा—सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-प्रयोग-समादानेर्यापथाः, कायाऽधिकरण-प्रदोषपरितापनप्राणातिपाताः, दर्शन-स्पर्शन-प्रत्यय समन्तानुपाता-ऽनाभोगाः, स्वहस्त-निसर्ग-विदारणानयनाऽनवकांक्षा, आरम्भ-परिग्रह-माया-मिथ्यादर्शनऽप्रत्याख्यानक्रिया इति।

—तत्त्वार्थ भाष्य अ ६। सू ६। पृ० ३०१

क्रिया पचीस होती हैं—यथा १—सम्यक्त्व, २—मिथ्यात्व, ३—प्रयोग, ४—समादान, ५—ईर्यापथ, ६—काय, ७—अधिकरण, ८—प्रदोष, ९—परितापन, १०—प्राणातिपात, ११—दर्शन, १२—स्पर्शन १३—प्रत्यय, १४—समन्तानुपात, १५—अनाभोग, १६—स्वहस्त, १७—निसर्ग, १८—विदारण, १९—आनयन, २०—अनवकांक्षा, २१—आरम्भ, २२—परिग्रह, २३—माया, २४—मिथ्यादर्शन तथा २५—अप्रत्याख्यान क्रिया।

यहाँ पचीस क्रिया का उल्लेख है। मिथ्यात्वी के सम्यक्त्व क्रिया और ईर्यापथ क्रिया को बाद देकर-शेष सर्व क्रियायें लगती है। तत्त्वतः क्रिया के जितने साधन है उतने ही क्रिया के भेद हो सकते हैं। सम्यक्त्वी के भी मिथ्यात्व क्रिया को बाद देकर शेष सर्व क्रियायें लग सकती है।

एक जीव जिस समय मे सम्यक्त्व क्रिया करता है उस समय मिथ्यात्व क्रिया नहीं करता है, जिस समय मिथ्यात्व क्रिया करता है उस समय सम्यक्त्व

---

१—क्रियाकोश पृ० २१

२— „ पृ० २७

क्रिया नहीं करता है। अतः एक जीव एक समय में एक क्रिया करता है—सम्यक्त्व क्रिया या मिथ्यात्व क्रिया।[1]

१—प्रयोग क्रिया—वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से आविर्भूत वीर्य के द्वारा होनेवाले मन, वचन, काय योग के व्यापार अर्थात् प्रवर्त्तन से होने वाली क्रिया-प्रयोग क्रिया है।[2]

२—समुदान क्रिया—प्रयोग क्रिया के द्वारा एक रूप में ग्रहण की गई कर्मवर्गणा की समुचित रूप से प्रकृति बंधादि भेदों द्वारा देशघाति, सर्वघाती रूप मे आदान अर्थात् ग्रहण करना समुदान क्रिया है।[3]

३—अज्ञान क्रिया—मिथ्यादृष्टि का ज्ञान—अज्ञान क्रिया है।[4] अज्ञान से जो कर्म अथवा चेष्टा हो—वह अज्ञान क्रिया है। कहा है—

अज्ञानात् या चेष्टा कर्म्म वा सा अज्ञानक्रियेति।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू ४०४ टीका

अज्ञान क्रिया के तीन भेद होते हैं, यथा—मतिअज्ञान क्रिया, श्रुतअज्ञान तथा विभंगअज्ञान क्रिया। अभयदेवसूरि ने कहा है—

मइअन्नाणं मिच्छादिट्ठिस्स सुयंपि एमेव। मत्यज्ञानात् क्रिया—अनुष्ठानं मत्यज्ञानक्रिया एवमितरे अपि।

विभगो—मिथ्यादृष्टेरवधिः स एवाज्ञानं विभंगाज्ञानमिति।

—ठाण० स्था ३। उ ३। सू ४०४ टीका

अर्थात् मिथ्यादृष्टि वाली मति द्वारा की गई क्रिया मतिअज्ञान क्रिया है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि वाली श्रुत द्वारा की गई क्रिया श्रुतअज्ञान क्रिया है। मिथ्यादृष्टि का अवधिज्ञान विभंग अज्ञान है। इस विभंग अज्ञान से होने वाली क्रिया—विभंग अज्ञान क्रिया है।

इस प्रकार मिथ्यात्व रूप अक्रिया के तीन भेद होते है।

---

१ क्रिया कोश पृ० १२०

२ क्रिया कोश पृ० ८५

३ क्रिया कोश पृ० ८१

४ क्रिया कोश पृ० २१

अशुभक्रिया से मिथ्यात्वी को कायिकी, अधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, परितापनिकी और प्राणातिपातिकी—ये पाँचों क्रियायें लगती हैं। चाहे मिथ्यात्वी हो, चाहे सम्यक्त्वी को अशुभ क्रिया से अशुभ कर्म लगते हैं। आगमों मे कहा है[1] कि सम्यक्त्वी भी यदि महा आरम्भ-महापरिग्रह मे आसक्त हो जाता है। तो सम्यक्त्व से पतित होकर नरक मे उत्पन्न हो सकता है। कर्म किसी का बाप नहीं है। भगवान ने कहा—

दो ठाणाइं अपरियाणेत्ता आया णो केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए, तंजहा—आरंभे चेव परिग्गहे चेव। दो ठाणाइं अपरियाणेत्ता आयाणो केवल बोधिं बुज्झेज्जा, तंजहा—आरंभेचेव परिग्गहे चेव।

—ठाण० स्था २। उ १। सू ४१, ४२

अर्थात् आरंभ और परिग्रह मे आसक्त मनुष्य केवलिप्ररूपित धर्म को नहीं सुन सकता, शुद्धबोधि—सम्यक्त्व को नहीं प्राप्त करता है अतः मिथ्यात्वी आध्यात्मिक विकास में अपना लक्ष्य बनाये। आरम्भ परिग्रह को जाने तथा उसका यथाशक्ति प्रत्याख्यान करे जिससे उसे विशेष रूप से सकाम निर्जरा होगी।

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है फलस्वरूप अतत्त्व को तत्त्व रूप में और तत्त्व को अतत्त्व रूप में मानता है। कहा है—

दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं णियच्छति।

—प्रज्ञापना पद २३। सू १६६७

जीव के परिणाम रूप निमित्त से पुद्गल कर्म के निमित्त से जीव भी उस रूप में परिणत होते हैं।[2] ठाणांग सूत्र में कहा है—

---

१—दशाश्रुतस्कंध अ ६

२—जीवपरिणामहेऊ कम्मत्ता पोग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मनिमित्तं जीवो वि तहेव परिणमइ॥

—प्रज्ञापना पद २३। सू १६६७ टीका

जीवकिरिया दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—सम्मत्तकिरिया चेव, मिच्छत्तकिरिया चेव।

—ठाणांग २। १ सू ३

अर्थात् जीव क्रिया दो प्रकार की होती है—यथा सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्वक्रिया। तत्त्वश्रद्धान को सम्यक्त्व कहा जाता है उस जीव के व्यापार रूप होने के कारण जो क्रिया लगती है वह सम्यक्त्व क्रिया है। मिथ्यात्व अर्थात् तत्त्व का अश्रद्धान। यह भी जीव का व्यापार ही है अथवा सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन होने पर जो क्रिया होती है उसे क्रमशः सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया कहा जाता है।

जब मिथ्यात्वी मिथ्यात्व भाव को छोड़कर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तब उसके मिथ्यात्वदर्शन प्रत्ययिकी क्रिया नहीं लगती है। मिथ्यादर्शन क्रिया मिथ्यादृष्टि को होती है।[1] ज्ञान और क्रिया के द्वारा संसार रूपी अटवी का उल्लंघन किया जा सकता है।[2] मिथ्यात्वी सद्संगति में रहने का प्रयास करे। ज्ञान और क्रिया के मर्म को समझे। सिद्धांत साक्षी है कि सद्संगति के प्रभाव से गतकाल में अनन्त मिथ्यात्वी—मिथ्यात्व भाव को छोड़कर, ज्ञान और क्रिया के द्वारा अनन्त संसार को परीत संसार कर अंततः सिद्ध-बुद्ध मुक्त हुए हैं।

यदि एक द्रव्य अथवा पर्याय में मिथ्यात्व होता है तो उसे मिथ्यादर्शन विरमण (संवररूप अवस्था) असंभव है। आचार्य मलयगिरि ने कहा है—

सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवतिनरः।
मिथ्यादृष्टिः सूत्रं हि न प्रमाणं जिनाभिहितम्॥

—प्रज्ञापना पद २२। सू १५८० टीका।

अर्थात् सूत्र में कथित एक भी अक्षर की अरुचि होने से मनुष्य मिथ्यादृष्टि होता है क्योंकि जिनेश्वर द्वारा कथित सूत्र प्रमाणभूत है—यथार्थ है। यदि मिथ्यात्वी मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है लेकिन

---

१—प्रज्ञापना पद २२ सू १५९६ टीका

२—ठाणांग २, १, ६३

सर्वविरति को ग्रहण नहीं कर सकता वह सम्यक्त्व में ही मरण को प्राप्त हो जाता है तब भी असंख्यात भव (उत्कृष्टरूप से) ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त करेगा ही। एक बार भी यदि मिथ्यात्वी सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है तो वह नियमतः संसारपरीत, शुक्लपाक्षिक है। उसकी मुक्ति की नींव लग जाती है।

मिथ्यात्वी सद्क्रिया से शुभायुष, उच्च गोत्र शुभनाम और साता वेदनीय कर्म का बन्धन करता है, दीर्घ काल की अटवी का संक्षेपीकरण कर सकता है।

१—एक मिथ्यात्वी महाघोर कर्म करके, परम कृष्ण लेश्या में मरण प्राप्त होकर सप्तम नारकी में उत्पन्न होता है, (२) एक मिथ्यात्वी माया कपट का आश्रय लेकर तिर्यंच गति में उत्पन्न होता है। (३) एक मिथ्यात्वी प्रकृति की सरलता से, भद्रतादि गुणों से देवकुरु तथा उत्तरकुरु क्षेत्र में युगलिये रूप में अथवा अन्य सुकुल में उत्पन्न होता है। और (४) एक मिथ्यात्वी बालतप से, अकाम निर्जरा के कारण देवगति में उत्पन्न होता है।

उपर्युक्त विषय पर चिन्तन किया जाय तो मालूम होगा कि पहले-दूसरे मिथ्यात्वी अशुभ कार्यों से अशुभ गति में उत्पन्न होते हैं तथा तीसरे-चौथे मिथ्यात्वी शुभ कार्यों से मनुष्यगति—देवगति में (शुभगति) उत्पन्न होते हैं। उत्तराध्ययन में कहा है—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥

उत्त० २५। ३३

अर्थात् कर्म से कोई ब्राह्मण होता है और कर्म से क्षत्रिय। कर्म से ही मनुष्य वैश्य होता है और शूद्र भी कर्म से। यह निश्चित है कि मिथ्यात्वी के अशुभकार्यों से अशुभकर्म का बन्धन तथा शुभकार्यों से शुभकर्मों का बन्धन होता है।

मिथ्यात्वी दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति तथा गुप्ति आदि सदनुष्ठानिक क्रियाओं में यथाशक्ति भावरुचि—वास्तविक रुचि रखता है तो वह सम्यक्त्व की वानगी है, वह मोक्ष मार्ग की आराधना करता है।

मिथ्यात्वी के सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार की क्रिया लगती है। जो क्रियायें पाप कर्म के बंध की हेतु है ; वे सावद्य हैं तथा जो क्रियायें कर्मों का छेदन करने वाली हैं वे निरवद्य हैं। इन कर्मों के छेदन करने वाली क्रियाओं को सदनुष्ठान क्रिया कहा गया है।

जो मिथ्यात्वी सावद्य क्रिया करते हैं उनके पापकर्म का बन्ध होता है तथा जो मिथ्यात्वी सदनुष्ठान क्रिया करते हैं ; उनके कर्मों की निर्जरा होती है तथा पुण्यकर्म का बन्ध होता है।[1] शीलांकाचार्य ने कहा है—

सत्क्रिया—यदि वा परसंबंध्वविचारितमनोवाक्कायवाक्यः सत्क्रियासु प्रवर्त्तते।

—सूय श्रु २, अ४। सू १ टीका।

अर्थात् मन, वचन, काय की सद् प्रवृत्ति से सद्क्रिया होती है। अतः मिथ्यात्वी यथा शक्ति असद्क्रियाओं से निवृत्त होकर ज्ञान, तप विनय आदि सदनुष्ठान क्रिया की आराधना करे; सद्क्रिया से मिथ्यात्वी अध्यात्म पथ की ओर अग्रसर हो। आगम का अध्ययन करने से यह परिज्ञात हुआ कि कतिपय मिथ्यात्वी-सद्क्रिया के द्वारा, उसी भव में सम्यक्त्व को प्राप्तकर, चारित्र ग्रहणकर, अन्त क्रिया[2] कर सकते हैं।

## २ : मिथ्यात्वी और भाव

जीव की अवस्था विशेष को भाव कहते हैं[3] उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और परिणाम से निष्पन्न होने वाले भाव—अवस्थाएं जीव के स्वरूप हैं। सन्निपातिक भाव को और मिलाने से भाव के छह विभाग किये गये हैं—कहा है—

---

१ क्रियाकोश पृ० १८३, १८४

२ तत्र अन्तो भवान्तस्तस्य क्रियाऽन्तक्रिया भवच्छेद इत्यर्थः।

—ठाणांग २।४। १०७। टीका

३ भवनं भावः पर्याय इत्यर्थः।

—ठाण० ठाण ६। सु १२४-टीका

छव्विधे भावे पण्णत्ते, तंजरा—ओदइए, उवसमिए, खइए, खओवसमिए, पारिणामिए, सण्णिवातिए।

—ठणांग ठाणा ६ सू १२४
—अणुओगदाराइं सू २३३

अर्थात् भाव के छः भेद होते हैं, यथा—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सन्निपातिक। सन्निपातिक भाव संयोग विशेष से बनता है।[1] अतः भाव के पाँच भेद प्रधानतः हैं।

उपर्युक्त पाँच भावों में से मिथ्यात्वी के तीन भाव—औदयिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक—होते हैं। वेद्य अवस्था को उदय कहते हैं अर्थात् उदीरणाकरण के द्वारा अथवा स्वाभाविक रूप से आठों कर्मों का जो अनुभव होता है, उसे उदय कहते है। उदय के द्वारा होने वाली आत्म-अवस्था को औदयिक भाव कहते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने कहा है—

गतिकषायलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धत्वलेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः।

—तत्त्वार्थसूत्र अ २ सू ६

अर्थात् औदयिक भाव के इक्कीस भेद किये गये हैं—यथा—चारगति-नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति; चार कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ; तीन लिंग—स्त्रीलिंग, पुंल्लिंग और नपुंसकलिंग; मिथ्यादर्शन अज्ञान, असयत, असिद्धत्व, छह लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो पद्म और शुक्ललेश्या।

मिथ्यात्वी में औदयिक भाव के उपर्युक्त इक्कीस भेद मिलते हैं। तेजो, पद्म और शुक्लेश्या के द्वारा मिथ्यात्वी के पुण्य का आस्रव होता है तथा पुण्य का आश्रव औदयिक भाव से होता है।

घातिकर्म के विपाक वेद्याभाव को क्षयोपशम कहते हैं। क्षयोपशम से होने वाली आत्म-अवस्था को क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। कहा है—

---

१ सन्निपातो—मेलकस्तेन निर्वृत्तः सान्निपातिकः।

—ठाण० ठाण ६। सू १२४ टीका

( क्षायोपशमिकः ) ज्ञानचतुष्काज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकचारित्रचतुष्क-दृष्टित्रिकदेशविरतिलब्धिपंचकादिरूपः।

जैन सिद्धांत दीपिका प्रकाश २ सू ३५

अर्थात् चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, चार चारित्र ( यथाख्यात को छोड़कर ), तीन दृष्टि, देशविरति और पाँच लब्धियाँ।

उपर्युक्त क्षायोपशमिक भाव में से मिथ्यात्वी के निम्नलिखित क्षायोपशमिक भाव मिलते हैं, यथा—तीन अज्ञान, ( मति-श्रुत-विभंगअज्ञान ) तीन दर्शन, ( चक्षु-अचक्षु-अवधिदर्शन ) मिथ्यादृष्टि, दानादि पाँच लब्धियाँ।

अपने-अपने स्वभाव में परिणत भाव को परिणाम कहते हैं तथा परिणाम से होने वाली अवस्था को अथवा परिणाम को पारिणामिक भाव कहते हैं।[1] जीवत्व, भव्यत्व, अभव्य आदि पारिणामिक भाव हैं—जो मिथ्यात्वी में होते ही हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में औदयिक भावों में तथा क्षायोपशमिक भाव में "मिथ्यादृष्टि" का उल्लेख किया है।[2] कहा है—

जीवोदयनिप्फन्ने अणेगविहे पन्नत्ते तंजहा —××× मिच्छादिट्ठी ×××।

—अनुयोगद्वार सू २३७

यहाँ 'मिथ्यादृष्टि' को जीवोदय निष्पन्न भाव में उल्लेख किया है। यह 'मिथ्यादृष्टि' दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से निष्पन्न है। कहा है—

खओवसमनिप्फन्ने अणेगविहे पन्नत्ते, तंजहा —×××। मिच्छा-दंसणलद्धी ×××।

—अनुयोगद्वार सू २४७

---

१—परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्। न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः। १। स एव पारिणामिक इत्युच्यते।

ठाण० ठाण ६ सू १२४-टीका।

२—तत्र मिथ्यादृष्ट्यादीनां त्रयाणामौदयिकक्षायोपशमिकपारिणामिक-लक्षणास्त्रयः —प्रवचनसारोद्धार। गा १२९९-टीका

यहाँ 'मिथ्यादर्शनलब्धि' को क्षायोपशमिक भाव में उल्लेख किया है। दर्शन मोहनीयकर्म के क्षयोपशम होने से मिथ्यादर्शनलब्धि की प्राप्ति होती है। औदयोदय निष्पन्न भाव से जो मिथ्यादृष्टि की उपलब्धि होती है वह सावद्य है। इसके विपरीत दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम भाव से निष्पन्न 'मिथ्यादर्शन लब्धि' निरवद्य है।

अनुयोगद्वार सूत्र में क्षायोपशमिक भाव में मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान तथा विभंग अज्ञान; श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच इन्द्रिय आदि का भी उल्लेख है—ये भावनिरवद्य हैं। आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि ने भी [षट्खंडागम भाग ५, ६। सू १६। पुस्तक न० १४] क्षयोपशम निष्पन्न भाव में मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगअज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय आदि का उल्लेख किया है। अस्तु मतिअज्ञान आदि तीन अज्ञान तथा श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच इन्द्रिय मिथ्यात्वी के भी होती है।

मिथ्यात्वी को भी द्रव्यरूप इन्द्रिय अंगोपाग नामकर्म और इन्द्रिय पर्याप्ति-नामकर्म के सामर्थ्य से होती है तथा भावेन्द्रिय की प्राप्ति—ज्ञानावरणीय आदि कर्म के क्षायोपशम से होती है। कहा है—

"क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि"

—प्रज्ञापना पद २३ ।२। १६६३

अर्थात् क्षायोपशमिक—क्षयोपशम से भावेन्द्रिय की प्राप्ति होती है। भावेन्द्रिय-ज्ञान रूप व्यापार है।

## ३ · मिथ्यात्वी और लब्धि

ज्ञानादि के प्रतिबंधक ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षय, क्षयोपशम या उपशम से आत्मा में ज्ञानादि गुणों का प्रकट होना 'लब्धि' है। कहा है—

तत्र लब्धिरात्मनो ज्ञानादिगुणानां तत्तत्कर्म्मक्षयादितो लाभः।

भग० श ८। उ १०। सू १३६। टीका

आगम में दस प्रकार की लब्धि कही गई है—

दसविहा लद्धी पन्नत्ता, तंजहा—णाणलद्धी, दंसणलद्धी, चरित्त-लद्धी, चरित्ताचरित्तलद्धी, दाणलद्धी, लाभलद्धी, भोगलद्धी, उपभोग-लद्धी, वीरियलद्धी, इंदियलद्धी।

—भग० श ८। उ २। सू ९६

अर्थात् लब्धि दस प्रकार की कही गयी है—ज्ञान लब्धि, दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि, चारित्राचारित्रलब्धि, दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि उपभोग-लब्धि, वीर्यलब्धि और इन्द्रियलब्धि।

मिथ्यात्वी की ज्ञानलब्धि को अज्ञानलब्धि कहते हैं। आगम में सम्यक्दृष्टि की लब्धि के लिए (ज्ञान के स्थान पर) ज्ञानलब्धि का व्यवहार हुआ है तथा मिथ्यादृष्टि की लब्धि के लिए अज्ञानलब्धि का व्यवहार हुआ है।[1]

उपरोक्त दस लब्धियों मे मिथ्यात्वी को निम्नलिखित लब्धियाँ प्राप्त होती है।

१—ज्ञानलब्धि—तीन अज्ञान लब्धि-मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंग-अज्ञानलब्धि।

२—दर्शनलब्धि —एक मिथ्यादर्शनलब्धि।

३ से ६—दानलब्धि से उपभोगलब्धि।

७—वीर्यलब्धि —बालवीर्यलब्धि।

८ इन्द्रियलब्धि—श्रोत्रेन्द्रियलब्धि यावत् स्पर्शेन्द्रियलब्धि।

अज्ञानलब्धिवाले जीव अज्ञानी ही होते हैं, ज्ञानी नहीं होते। उनमें भजना से तीन अज्ञान होते हैं अर्थात् कितने ही मे पहले के दो अज्ञान और कितने ही मे तीन अज्ञान होते हैं। विभंगज्ञान लब्धि वाले जीवों में नियमा से तीन अज्ञान पाये जाते हैं। मिथ्याश्रद्धान वाले अज्ञान ही होते हैं। उनमें तीन अज्ञान भजना से पाये जाते हैं। दर्शनलब्धि से रहित कोई भी जीव नहीं होता है।

दानान्तराय कर्म के क्षय और क्षयोपशम से दानलब्धि प्राप्त होती है। मिथ्यात्वी के दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम मिलता है, क्षय नहीं क्योंकि दानान्तराय कर्म का क्षय तेरहवें गुणस्थान से पूर्व के गुणस्थानों में नहीं मिलता। इसी प्रकार लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय तथा वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम भी मिथ्यात्वी के होता है।

---

१—(अण्णाणलद्धी) तिविहा पन्नत्ता, तंजहा—मइअण्णाणलद्धी, सुयअण्णाण-लद्धी, विभंगणाणलद्धी।

—भग० श ८ उ २ सू १४१

इन्द्रियों का उपयोग मिथ्यात्वी के भी होता है । इन्द्रियलब्धि की प्राप्ति—ज्ञानावरणीय, तथा दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होती है ।

कतिपय विभंग ज्ञानलब्धिवाले मिथ्यात्वी लोकसंस्थान को देखने के अन्तर्मुहूर्त बाद तत्त्वार्थों पर सही श्रद्धान कर सम्यक्त्वी हो जाते हैं तब उनका विभंग ज्ञान-अवधि ज्ञान रूप मे परिणत हो जाता है । प्रवचनसारोद्धार मे कहा है—

आमोसहि १ विप्पोसहि २ खेलोसहि ३ जल्लओसही ४ चेव ।
सव्वोसहि ५ संभिन्ने ६ ओही ७ रिउ ८ विउलमइलद्धी ८ ॥६२॥
चारण १०आसीविस ११ केवलिय १२ गणहारिणोय १३ पुव्वधरा१४
अरहंत १५ चक्कवट्टी १६ बलदेवा १७ वासुदेवा १८ य ॥६३॥
खीरमहुसप्पिआसव १६ कोट्ठयबुद्धी २० पयाणुसारी २१ य ।
तह बीयबुद्धि २२ तेयग २३ आहारग २४ सीयलेसा २५ य ॥६४॥
वेउव्विदेहलद्धी २६ अक्खीणमहाणसी २७ पुलाया २८ य ।
परिणामतववसेणं एमाई हुंति लद्धीओ ॥ ६५ ॥

—प्रवचनसारोद्धार गा १४६२ से १४६६

अर्थात् निम्नलिखित अठाइस लब्धियाँ होती हैं—यथा—(आमर्शौषधिलब्धि, २ विप्रुडौषधिलब्धि, ३ खेलौषधिलब्धि, ४ जल्लौषधिलब्धि, ५ सर्वौषधिलब्धि, ६ संभिन्नश्रोतोलब्धि ७ अवधिलब्धि, ८ ऋजुमतिलब्धि ६ विपुलमतिलब्धि, १० चारणलब्धि ११ आशीविषलब्धि १२ केवलिलब्धि १३ गणधरलब्धि, १४ पूर्वधरलब्धि १५ अर्हल्लब्धि, १६ चक्रवर्तीलब्धि १७ बलदेवलब्धि १८ वासुदेवलब्धि, १६ क्षीरमधुसर्पिराश्रवलब्धि, २० कोष्ठकबुद्धिलब्धि, २१ पदानुसारिलब्धि २२ बीजबुद्धिलब्धि २३ तेजोलेश्यालब्धि, २४ आहारकलब्धि २५ शीतलेजोलेश्यालब्धि, २६ वैकुर्विकदेहलब्धि, २७ अक्षीणमहानसीलब्धि, और २८ पुलाकलब्धि ।

औधिक भव्यसिद्धिक जीवों मे उपर्युक्त अठाइस ही प्रकार की लब्धि मिलती है क्योंकि इनमे सम्यक्त्वी जीवों का भी ग्रहण हो जाता है । जैसा कि कहा है—

भवसिद्धियपुरिसाणं एवाओ हुंति भणियलद्धीओ।
भवसिद्धियमहिलाणवि जत्तिय जावति तं वोच्छ।
अरहंतचक्किकेसवबलसंभिन्ने य चारणे पुव्वा।
गणहरपुलायआहारग च न हु भवियमहिलाणं ॥ ६ ॥

—प्रवचनसारोद्धार गा १५०५, ६

अर्थात् भवसिद्धिक पुरुषों के उपर्युक्त सभी लब्धियाँ होती है तथा भवसिद्धिक स्त्रियों के अठारह लब्धि ( अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, संभिन्नश्रोतोलब्धि, चारण, पूर्वधर, गणधर, पुलाक और आहारक को बाद देकर अठारह लब्धि होती है। इसके विपरीत अभवसिद्धिक जीवों में जो निश्चित रूप से मिथ्यादृष्टि होते हैं उनमे उपर्युक्त अठाहस लब्धियो में से केवली आदि तेरह लब्धियों को बाद देकर पन्द्रह लब्धि मिलती है। कहा है—

अभवियपुरिसाणं पुण दस पुव्विल्लाउ केवलित्तं च।
उज्जुमई विउलमई तेरस एयाउ न हु हुंति ॥

—प्रवचनसारोद्धार गा १५०७

अर्थात् दस पूर्वधर ( अरिहंत आदि लब्धि ) विपुलमतिमनःपर्यवज्ञान, ऋजुमतिमनःपर्यवज्ञान तथा केवलो इन तेरह को बाद देकर अभवसिद्धिक जीवों मे पंद्रह लब्धियाँ मिलती है।

अस्तु भवसिद्धिक मिथ्यादृष्टि में भी उपर्युक्त पन्द्रह लब्धियाँ मिलती है। ये सभी लब्धियाँ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम आदि से उपलब्ध होती है। क्षयोपशम निष्पन्न भाव-निरवद्य है। यथा —बालतपस्वी वैशिकायिन आदि को तेजो लेश्या—तेजो लब्धि उत्पन्न हुई थी तथा अम्बड़ परिव्राजक को वैक्रिय लब्धि थी।

शरीर पाँच होते हैं, यथा—औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर। मिथ्यात्वी में आहारक शरीर को

---

१—प्रवचन सारोद्धार गा १४९४। टीका

छोड़कर शेष चार शरीर होते हैं। वैक्रिय शरीर दो प्रकार का है—मूल वैक्रिय शरीर और उत्तर वैक्रिय शरीर। मनुष्य और तिर्यञ्च मे उत्तर वैक्रिय शरीर तपस्या विशेष से मिथ्यात्वी को होता है। मूल वैक्रिय शरीर देव तथा नारकी में होता है। मिथ्यादृष्टि तिर्यंच भी उत्तर वैक्रिय ९०० योजन कर सकते हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रिय मे भी सद्क्रिया, शुभलेश्या-शुभयोग-शुभ अध्यवसाय आगम में माने गये हैं। आहारक शरीर चतुर्दश पूर्वधरों को होता है[1] मिथ्यादृष्टि को देशोन दस पूर्व से ऊपर की विद्या का अभाव है अतः किसी भी मिथ्यादृष्टि को आहारक शरीर नहीं होता है। कहा है—

सम्मदिट्ठीपज्जत्तसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूस-आहारगसरीरे, णो मिच्छादिट्ठिपज्जत्त०, नो सम्मामिच्छादिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणूसआहारगसरीरे।

—प्रज्ञापना पद २१। सू १५३३

अर्थात् आहारक शरीर-सम्यग्मिथ्यादृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि को नहीं होता है किन्तु सम्यग्दृष्टि पर्याप्त सख्यात वर्ष की आयुष्य वाले गर्भज मनुष्य को होता है। अतः आहारक लब्धि मिथ्यात्वी को नहीं होती है। चूँकि मिथ्यात्वी को वैक्रिय शरीर होता है अतः वैक्रिय लब्धि, वैक्रिय समुद्घात भी होता है। विभंग ज्ञान लब्धि भी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से तथा वीर्यलब्धि अंतराय कर्म के क्षयोपशम से मिथ्यात्वी को प्राप्त होती है। देखा जाता है कि मिथ्यात्वी निम्न अवस्था से उच्च अवस्था को भी प्राप्त करते हैं। बिना सद् आचरण के मिथ्यात्वी उच्च अवस्था को कभी भी प्राप्त नहीं कर सकता है। जिनभद्रक्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में मिथ्यात्वी के श्रुत रूप लब्धि को स्वीकार किया है। वैक्रिय तथा मानसिक बल—क्षयोपशम—गुणविशेष से होता है।[2]

सर्वौषधिलब्धि अर्थात् जिसके मूत्र, विष्टा, कफ या शरीरके मैल रोग को दूर करने मे समर्थ है। यह लब्धि भी मिथ्यात्वी से तपस्यादि के बल से मिल

---

१—प्रज्ञापना पद २१।१५६३। टीका

चतुर्दश पूर्वधर आहारकलब्धिमानआहारकशरीरमारम्भ वर्त्तते।

२—प्रवचनसारोद्धार गा १५०८।

सकती है। जिसका स्पर्श औषध का काम करता है उसे आमर्शौषधि लब्धि कहते हैं—यह लब्धि भी मिथ्यात्वी के विच्छेद नहीं है।[1] कई मिथ्यात्वी को लब्धि प्राप्त होने पर भी उसका दुरुपयोग नहीं करते हैं, ज्ञान का अहंकार नहीं करते हैं फलस्वरूप—कालान्तर मे उनकी दृष्टि सम्यग् हो जाती है, ग्रन्थि का छेदन-भेदन कर डालते हैं।

तेजसलब्धि किंवा तेजस समुद्घात भी मिथ्यात्वी को होता है बिना सद्क्रिया के ये भी नहीं हो सकते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव मे आहारक समुद्घात तथा केवलि समुद्घात को बाद देकर पाँच समुद्घात (वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात, मारणंतिक समुद्घात, वैक्रिय समुद्घात, तेजस समुद्घात ) होते हैं। मिथ्यादृष्टि तिर्यंच पचेन्द्रिय में भी आदि के पाँच समुद्घात होते हैं क्योंकि उनमें कितनेक को तेजो लब्धि भी होती है। मिथ्यादृष्टि देवों मे भी आदि के पाँच समुद्घात होते हैं क्योंकि उनमे वैक्रिय लब्धि तथा तेजोलब्धि होती है। मिथ्यादृष्टि मनुष्य मे भी पूर्वोक्त पाँच समुद्घात होते हैं।

मिथ्यादृष्टि नारकी मे प्रथम के चार समुद्घात होते हैं क्योंकि उनमे तेजोसलब्धि और आहारक लब्धि नहीं होती है।

तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती जीवों मे विशिष्ट शुभ अध्यवसाय होते हैं।[1] परन्तु चतुर्दशवें गुणस्थान में योग का निरोध हो जाने के कारण अध्यवसाय नहीं होते हैं, ध्यान होता है। कहा है—

इह केवलिसमुद्घातः केवलिनो भवति ×××। स च नियमाद् भावितात्मा विशिष्टशुभाध्यवसायफलितत्वात्।

—प्रज्ञापना पद ३६। २१६८। टीका

तेरहवें गुणस्थानवर्ती भावितात्मा अणगार को विशिष्ट शुभ अध्यवसाय केवलि समुद्घात मे भी होता है।

मिथ्यात्वी को वैक्रियलब्धि आदि लब्धि की प्राप्ति के समय मे साकारोपयोग नियमतः होता है, अनाकारोपयोग नहीं। कहा है—

---

१ —प्रज्ञापना पद ३६। २१४७ टीका

सव्वाओ लद्धीओ ज सागारोपओगलाभाओ।

—प्रज्ञापना पद ३६। सू २१७५ टीका

अर्थात् साकोरोपयोगी को ही सर्व लब्धि की प्राप्ति होती है।

मिथ्यात्वी शुभ लेश्या मे काल कर सद्गति मे उत्पन्न होता है। कहा है—

तओ दुग्गइगामियाओ, तओ सुगइगामिओ।

—लेश्याकोश पृ० २७

अर्थात् प्रथम तीन लेश्या दुर्गति मे ले जाने वाली है तथा पश्चात् की तीन लेश्या सुगति मे ले जाने वाली है। मिथ्यादृष्टि के छओं लेश्याओं के प्रत्येक के असख्यात स्थान होते हैं परन्तु उनकी पर्यायें अनन्त होती हैं। मरण की प्राप्ति के समय मिथ्यात्वी के कतिपय लब्धियों का अस्तित्व होता है।

वेश्यायन बालतपस्वी को तपस्यादि से तेजोलब्धि (तेजो लेश्या) प्राप्त हुई थी। उसने उसका गोशालक पर प्रयोग भी किया था। कहा है—

तए ण अह गोयमा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अणुकपणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स उसिण तेय पडिसाहरणट्ठयाए एत्थ णं अंतरा अह सीयलियं तेयलेस्स निसिरामि, जाए सा ममं सीयलियाए तेयलेस्साए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स उसिणा तेयलेस्सा पडिहया।

—भगवती श १५ सू ६५

अर्थात् वेश्यायन बालतपस्वी ने मखलिपुत्र गोशालक पर तेजो लेश्या छोड़ी किन्तु छद्मस्थ भगवान महावीर ने मंखलिपुत्र गोशालक पर अनुकम्पा लाकर उसे उष्ण तेजो लेश्या का प्रतिसहार करने के लिए शीततेजोलेश्या बाहर निकाली थी।

अस्तु लब्धि का फोड़ना सावद्य कार्य है किन्तु लब्धि की प्राप्ति मिथ्यात्वी को भी सद्क्रिया विशेष से होती है।

### ३ : मिथ्यात्वी और भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक

मिथ्यात्वी भवसिद्धिक तथा अभवसिद्धिक दोनों प्रकार के होते हैं। जो अभवसिद्धिक मिथ्यात्वी हैं उनमे मोक्षप्राप्ति की योग्यता नहीं होती है तथा वे

नियमतः कृष्णपाक्षिक होते हैं। इसके विपरीत जो भवसिद्धिक मिथ्यात्वी हैं उनमें मोक्षप्राप्त करने की योग्यता स्वभावतः होती है। स्थानांग सूत्र के टीकाकार ने अभव्य में सम्यक्त्व की प्राप्ति न होने के कारण अपर्यवसित मिथ्यादर्शन स्वीकृत किया है।

"अभिग्रहिकमिथ्यादर्शनं × × × अपर्यवसितमभव्यस्वसम्यक्त्वाप्राप्तेः।

—ठाण० स्था २।१। ८४। टीका।

देवर्द्धिगणि ने नंदीसूत्र में कहा है—

"खाओवसमियं पुण भावं पडुच्च अणाईयं अपज्जवसिय अहवा भवसिद्धियस्स सुय साईयं सपज्जवसियं च, अभवसिद्धीयस्स सूयं अणादीय अपज्जवसियं।

—नंदीसूत्र, सूत्र ७४,७५

अर्थात् क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा (श्रुतज्ञान) अनादि अनन्त है अथवा भव्यसिद्धिक का श्रुत सादिसांत है क्योंकि मिथ्याश्रुत के त्याग और केवल ज्ञान की उत्पत्ति की अपेक्षा भव्य का श्रुत आदि अन्त वाला है, अभव्यसिद्धिक का का श्रुत-मिथ्याश्रुत अनादि और अन्त रहित है क्योंकि अभव्यसिद्धिक प्रथम गुणस्थान को छोड़कर किसी भी काल में अन्यान्य गुणस्थान में प्रवेश नहीं करते हैं।

अतः मिथ्यात्वी भव्यसिद्धिक भी होते हैं तथा अभव्यसिद्धिक भी। यद्यपि दोनों प्रकार के मिथ्यात्वी अनंत-अनत हैं। अल्पबहुत्व की दृष्टि से उन दोनों में से सबसे न्यून अभव्यसिद्धिक मिथ्यात्वी हैं; उससे अनंत गुणे अधिक भव्यसिद्धिक मिथ्यात्वी हैं। सब गतियों मे, सब स्थानों में, दोनों प्रकार के मिथ्यात्वी होते हैं। कहा है—

---

१—भवा भविनीसिद्धि :- मुक्तिपदं येषां ते भवसिद्धिका भव्या इत्यर्थः।

प्रवचनसारोद्धार गा० १५०८। टीका

भव्यानामेव सम्यग्दर्शनादिकं करोति नाभव्यानाम्।

प्रज्ञापना पद १। सू १। टीका

अर्थात् भव्यों को ही सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है लेकिन अभव्यों को नहीं। यद्यपि मरुदेवी माता को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अनेक वर्षों के बाद हुई थी—जन्म के समय उनके मिथ्यात्व था। वह सरल प्रकृति की थी। परिणामों की विशुद्धि से सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र को प्राप्त किया। भगवान ऋषभदेव के द्वारा तीर्थ उत्पत्ति नहीं हुई उसके पूर्व ही आपने सर्व कर्मों का क्षय कर मोक्ष पदार्पण किया।[1] भरतचक्रवर्ती ने अंतपुर में परिग्रह रहित होकर केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न किया। कहा है —

"मूर्च्छारहितो भरतश्चक्रवर्ती सान्तःपुरोऽप्यादर्शकगृहेऽवतिष्ठमानो निष्परिग्रहो गीयते, अन्यथा, केवलोत्पादासंभवात्।

प्रज्ञापना पद १। सू १६ टीका

अर्थात् मूर्च्छा रहित होकर भरतचक्रवर्ती ने आरिसा भवन मे केवलज्ञान उत्पन्न किया।

मिथ्यात्वी के कर्मों के क्षयोपशम से वायलब्धि, वैक्रियलब्धि तथा पूर्वगतश्रुत लब्धि उत्पन्न होती है। देशोन दस पूर्वों की विद्या वह प्राप्त कर सकता है आगे नहीं; क्योंकि दसपूर्वों का ज्ञान, चौदह पूर्वों का ज्ञान सम्यग्दृष्टि को ही हो सकता है।

इसके विपरीत भवसिद्धिक जीव सम्यग्दृष्टि भी होते हैं और मिथ्यादृष्टि भी, सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी। अतः भवसिद्धिक जीव ज्ञानी भी हैं, अज्ञानी भी हैं। आगम मे कहा है—

भवसिद्धिया णं भंते! जीवा किंणाणी अण्णाणी? गोयमा पंच नाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

भग० श ८। उ २। सू० १३५

अर्थात् भवसिद्धिक जीवों को मति आदि पाँच ज्ञान (सम्यग्दृष्टि भवसिद्धिक

---

१ तीर्थस्यानुत्पादेसिद्धामरुदेवीप्रभृतयः।

—प्रज्ञापना पद १। सू २ टीका

की अपेक्षा) तथा मति आदि तीन अज्ञान ( मिथ्यादृष्टि वा सम्यग्मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा ) भजनासे होते हैं।

आगम में विशिष्ट बाल तपस्वी के लिए भावितात्मा अणगार का भी व्यवहार हुआ है। उस भावितात्मा अणगार को वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि के साथ विभंग ज्ञानलब्धि उत्पन्न होती है ; जैसा कि कहा है—

अणगारेणं भंते! भावियप्पामायी, मिच्छादिट्ठी, वीरियलद्धीए, वेउव्वियलद्धीए, विभंगणाणलद्धीए वाणारसिं णयरिं समोहए, समोहणित्ता रायगिहे णयरे रूवाइं जाणइ, पासइ ? हंता जाणइ, पासइ।

भग० श ३। उ ६। सू २२२

अर्थात् राजगृह में रहता हुआ मिथ्यादृष्टि और मायी भावितात्मा अणगार वीर्यलब्धि से, वैक्रियलब्धि से और विभंगज्ञानलब्धि से वाणारसी नगरी की विकुर्वणा करके वह उन रूपों को जानता है, देखता है।

जब भवसिद्धिक मिथ्यात्वी शुभ अध्यवसाय, शुभपरिणाम, शुभलेश्यादि से सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है तब उसके अज्ञान को ज्ञान कहा जाता है परन्तु अज्ञान नहीं। पंचसंग्रह में चन्दर्षिमहत्तर ने कहा है—

"सम्मत्तकारणेहिं। मिच्छनिमित्ता य होंति उवउगा।

पचसंग्रह भाग १। पृ० ३७

टीका—सम्यक्त्वं कारणं येषां ते सम्यक्त्वकारणाः, तैर्मतिज्ञानादिभिरुपयोगैः सह मिथ्यात्वनिमित्ता मिथ्यात्वनिबंधना मत्यज्ञानादय उपयोगा भवन्ति। ×××। बहुवचनादवधिदर्शनेन च सह सम्यक्त्वनिमित्ता मिथ्यात्वनिमित्ताश्चोपयोगाः ×××।

अर्थात् सम्यक्त्व के होने से मतिज्ञान आदि उपयोग का व्यवहार होता है तथा मिथ्यात्व के होने से मति अज्ञान आदि उपयोग का व्यवहार होता है।

स्वभावगत—अभवसिद्धिक जीव कभी भी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकेंगे अतः उनके लिए ज्ञान का व्यवहार नहीं हुआ—जैसा कि कहा है—

अभवसिद्धियाणं पुच्छा। गोयमा! नो णाणी, अण्णाणी; तिण्णि-अण्णाइं भयणाए।

भग० श ८। उ २। सू १३६

अर्थात् अभवसिद्धिक जीव ज्ञानी नहीं है, अज्ञानी है। उनके तीन अज्ञान भजना से होते हैं, क्योंकि किसी अभवसिद्धिक को मति-श्रुत अज्ञान तथा किसी को मति-श्रुत-विभंग अज्ञान-तीनों होते हैं।

अतः मिथ्यात्वी भवसिद्धिक भी होते हैं, अभवसिद्धिक भी।

## ५ : मिथ्यात्वी और कृष्णपाक्षिक –शुक्लपाक्षिक

मिथ्यात्वी कृष्णपाक्षिक भी होते हैं और शुक्लपाक्षिक भी। जिन मिथ्यात्वी का संसार परिभ्रमणकाल देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन या उससे कम अवशेष रह गया है वे शुक्लपाक्षिक होते हैं। इसके विपरीत जिन मिथ्यात्वी जीवों का देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल से अधिक काल संसार मे परिभ्रमण करना है वे कृष्णपाक्षिक होते हैं।

जिस मिथ्यात्वी जीव के एक बार भी यदि मिथ्यात्व छूट जाता है तो वह निश्चय ही शुक्लपक्ष की श्रेणी मे समावेश हो जाता है ध्यान मे रहे की मिथ्यात्वी का प्रथम गुणस्थान हैं। प्रथम गुणस्थान के जीव शुक्लपक्षी व कृष्ण-पक्षी —दोनों प्रकार के होते हैं, शेष के गुणस्थानों के जीव शुक्लपक्षी ही होते हैं। सभी शुक्लपाक्षिक जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त के बाद तथा उत्कृष्टतः देशोन अर्द्ध-पुद्गल परावर्तन के बाद अवश्यमेव कर्मों का क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होंगे। यदि कोई मिथ्यात्वी जीव ऊपर के तेरह गुणस्थानों मे से कोई भी एक गुणस्थान धर्मानुष्ठानिक क्रियाओं के द्वारा स्पर्श कर लेता है, फिर वह चाहे उस गुणस्थान को छोड़कर वापस प्रथम गुणस्थान मे आ जाता है तो भी वह मिथ्यात्वी फिर किसी दिन सम्यक्त्व प्राप्त कर, चारित्र ग्रहणकर, सर्व कर्मों का क्षयकर मोक्ष पद को प्राप्त करेगा ही। सिद्धान्त मे इस प्रकार के मिथ्यात्वी को—जो सम्यक्त्व से पतित होकर फिर मिथ्यात्व अवस्था मे आ जाते हैं उन्हें प्रतिपाती सम्यक्त्वी के नाम से संबोधित किया है। वे प्रतिपाती सम्यक्त्वी जीव जघन्य अंतर्मुहूर्त के बाद, उत्कृष्टतः देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन के बाद मोक्षपद को प्राप्त करेंगे। यह चिंतन मे रहे कि वे प्रतिपाती सम्यग्दृष्टि जीव ( प्रथमगुणस्थान का जीव ) सद्क्रिया के द्वारा फिर मिथ्यात्व से नियम से मुक्त होंगे।[१]

---

(१) प्रज्ञापना पद १८। टीका

आगम ग्रंथों के अध्ययन करने से ऐसा मालूम होता है कि सम्यक्त्व को किसी मिथ्यात्वी ने अभी स्पर्श नहीं किया है फिर भी वह सद् अनुष्ठानिक क्रियाओं के द्वारा कृष्णपाक्षिक से शुक्लपाक्षिक हो सकता है। अभवसिद्धिक मिथ्यात्वी-कृष्णपाक्षिक ही होते हैं तथा भवसिद्धिक मिथ्यात्वी-कृष्णपाक्षिक-शुक्लपाक्षिक दोनों प्रकार के होते हैं।

कृष्णपाक्षिक मिथ्यात्वी अभवसिद्धिक भी होते हैं, भवसिद्धिक भी। वे नैरयिकों में—दक्षिणगामी नैरयिकों में अधिकतर उत्पन्न होते हैं। कहा है—

× × × कृष्णपाक्षिकाणां तस्यां दिशि प्राचुर्येणोत्पादाच्च।

—पण्ण० पद ३। सू २१३ टीका

अर्थात् कृष्णपाक्षिक मिथ्यात्वी—दक्षिणगामी नैरयिकों में प्रचुरता से होते हैं। जब कृष्णपाक्षिक मिथ्यात्वी शुक्लपाक्षिक हो जाते हैं वे नियमतः ही मोक्ष जायेंगे। कहा है—

तेषां लक्षणमिद—येषां किञ्चिदूनपुद्गलपरावर्त्तार्धमात्रसंसारस्ते शुक्लपाक्षिका, अधिकतरसंसारभाजिनस्तु कृष्णपाक्षिका, उक्तं च—

जेसिमवड्ढो पुग्गलपरियट्टो सेसओ य संसारो।
ते सुक्कपक्खिया खलु अहिए पुणकण्हपक्खी उ॥

अतएव—च स्तोका शुक्लपाक्षिका अल्पसंसारिणां स्तोकत्वात् बहवः कृष्णपाक्षिकाः, प्रभूतसंसारिणामतिप्रचुरत्वात्, कृष्णपाक्षिकाश्च प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, न शेषासु दिक्षु, तस्यास्वाभाव्यात्, तच्च तथास्वाभाव्य पूर्वाचार्यै रेव युक्तिभिरुपबृंह्यते, तद्यथा—कृष्णपाक्षिका दीर्घतरसंसारभाजिन उच्यन्ते, दीर्घतरसंसारभाजिनश्च बहुपापोदयाद् भवंति, बहुपापोदयाश्च क्रूरकर्माण, क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथास्वाभाव्यात् तद् भवसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, शेषासु दिक्षु, यत उक्तं—

"पायमिह कुरकम्मा भवसिद्धियावि दाहिणिल्लेसु।
नेरइयतिरियमणुयासुराइठाणेसु गच्छंति ॥ १ ॥"

ततो दक्षिणस्यां दिशि बहूनां कृष्णपाक्षिकाणामुत्पादसंभवात् पूर्वोक्तकारणद्वयाच्च संभवन्ति ।

प्रज्ञापना पद ३। सू २१३ टीका

सबसे कम शुक्लपाक्षिक मिथ्यादृष्टि जीव हैं उससे कृष्णपाक्षिक मिथ्यादृष्टि जीव अनंत गुने अधिक हैं । कृष्णपाक्षिक जीव अपने प्रचुर कर्म के कारण प्रायः दक्षिणगामी नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं । जिनका संसार परिभ्रमण काल देशोन अर्ध पुद्गलपरावर्त्तन शेष हैं वे शुक्लपाक्षिक मिथ्यादृष्टि हैं और उससे अधिक संसार परिभ्रमण काल है वह कृष्णपाक्षिक हैं । सिद्धांत का नियम है कि अल्प संसारी थोड़े होते हैं अतः शुक्लपाक्षिक कम हैं, अधिक संसारी अधिक होते हैं अतः कृष्णपाक्षिक अधिक हैं । कृष्णपाक्षिक जीव बहुत तथा स्वभाव से दक्षिण दिशि मे उत्पन्न होते हैं अन्यदिशि मे नहीं । कहा है—

"दीर्घ संसारी प्रचंड पाप के उदय से होते हैं, बहु पापोदय से क्रूरकर्म वाले होते हैं । प्रायः क्रूरकर्म वाले जीव भव्य होने पर भी दक्षिण दिशि मे नैरयिक, तिर्यंच, मनुष्य और असुरादि में उत्पन्न होते हैं ।"

## ६ : मिथ्यात्वी और परीत्त संसारी—अपरीत्तसंसारी

मिथ्यात्वी परीत्तससारी तथा अपरीत्तसंसारी ( अनंतसंसारी ) दोनों प्रकार के होते हैं । जिन मिथ्यात्वी के सद्क्रियाओं से भव परिमित हो गये हैं वे परीत्त-संसारी हैं । अर्थात् अधिक से अधिक देशोन अर्धपुद्गल परावर्तनकाल के अन्तर्गत जो अवश्य मोक्ष प्राप्त करेंगे वे परीत्त संसारी हैं । इसके विपरीत जो मिथ्यात्वी अनंतकाल तक ससार में परिभ्रमण करते रहेंगे अर्थात् जिन जीवों के भवों की संख्या सीमित नहीं हुई है वे अनंत संसारी हैं ।

मिथ्यात्व अवस्था मे रहते हुए अर्थात् प्रथम गुणस्थान-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे अतीतकाल में अनन्त जीवों ने सुकृति करते-करते सम्यक्त्व को प्राप्त किया है और भवरूपी अनंत संसार को सीमाबद्ध किया है अर्थात् अनन्त सांसारिक से परीत्त सांसारिक बने हैं ।

प्रथम गुणस्थान के जीव परीत्त संसारी—तथा अपरित संसारी दोनों

प्रकार के होते हैं। शेष —दूसरे से चौदहवें गुणस्थान तक के जीव सिर्फ परीत संसार वाले होते हैं। प्रज्ञापना मे कहा—

"संसारपरित्तेणं०, पुच्छा गोयमा ! जहण्णेणं अन्तोमुहुत्तं, उक्कोसेण अणंतं कालं अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं।"

—प्रज्ञापना पद १८ सू १३७८

टीका—मलयगिरि—यस्तु सम्यक्त्वादिना कृतपरिमितसंसारः स संसारपरीत. । xxx । संसारपरीतो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं ततः ऊर्द्ध्वमन्तकृत्केवलित्वयोगेन मुक्तिभावात्, उत्कर्षतोऽनन्तकालं-तमेव निरूपयति—'अणंताओ' इत्यादि प्राग्वत् ततः ऊर्द्ध्वमवश्य मुक्तिगमनात्।

अर्थात् संसार परीत्त जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्तन के बाद अवश्य ही कर्मों का अन्तकर मुक्ति स्थान-मोक्ष स्थान प्राप्त करेंगे ही। सम्यक्त्व आदि शुभ क्रिया के द्वारा जीव संसार अपरीत्त से संसार परीत करते हैं। मिथ्यात्वी जीवों में सम्यक्त्व नहीं होता है, अतः वे किसी धार्मिक अनुष्ठान से अपरीत संसार से 'परीत संसार' करते हैं। बिना सद्क्रिया के परीत संसार नहीं कर सकते हैं। अपरीत संसार से परीत संसार करके ही जीव मोक्षगति को प्राप्त करते हैं। परीत संसार-भवसिद्धिक जीव ही करते हैं। अपरित संसार मे भवसिद्धिक तथा अभवसिद्धिक-दोनों प्रकार के जीवों का उल्लेख मिलता है, जैसा कि प्रज्ञापना सूत्र में कहा है—

संसारअपरित्ते दुविहे पन्नत्ते, तंजहा—अणादीए वा अपज्जवसिए, अणादीए वा सपज्जवसिए।

—प्रज्ञापना पद १८। सू १३८१

टीका—यस्तु सम्यक्त्वादिना कृतपरिमितसंसारः स संसारपरीतः xxx। संसारपरीतः सम्यक्त्वादिना अकृतपरिमित संसारः xxx संसारापरीतो द्विधा—अनाद्यपर्यवसितो यो न कदाचनापि संसार व्यवच्छेदं करिष्यति, यस्तु करिष्यति सोऽनादि सपर्यवसित.।

अर्थात् जो सम्यक्त्वादि सद्क्रिया से संसार को परिमित करता हैं वह संसार परीत। इसके विपरीत जिसने सम्यक्त्वादि सद्क्रिया से संसारपरिमित नहीं

किया है वह संसार अपरिमित कहलाता है। इसके दो भेद है-यथा-अनादि अनन्त और अनादिसांत। जो कभी भी संसार से मुक्त नहीं होंगे वे अनादि अनन्त—संसार-अपरिमित मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं तथा जो संसार का अंतकर सिद्ध बुद्ध यावत् मुक्त होंगे वे अनादिसांत-संसार—परिमित मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। फलितार्थ यह हुआ कि संसारपरीत्त जीव—तीनों दृष्टिवाले होते हैं लेकिन संसार अपरीत्त जीव केवल मिथ्यादृष्टि ही होते हैं।

आगमों मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि सम्यक्त्व को प्राप्त किये बिना मिथ्यात्वी सद्क्रिया के द्वारा संसार परीत्त किया है—

यथा—(१) मेघकुमार ने अपने पूर्व भव मे सम्यक्त्व को प्राप्त किये बिना खरगोश पर अनुकम्पा लाने से—नहीं मारने से, संसारपरीत्त कर मनुष्य की आयुष्य बांधी।[1]

(२) सुबाहु कुमार ने अपने पूर्व भव सुमुख गाथापति के भव मे निर्ग्रन्थ को वन्दन नमस्कार किया—शुद्ध आहार-पानी दिया फलस्वरूप मिथ्यात्व अवस्था मे अर्थात् सम्यक्त्व को प्राप्त किये बिना संसारपरीत्त कर मनुष्य की आयुष्य बांधी।[2]

(३) शालभद्रजी ने अपने पूर्व जन्म में शुद्ध निर्ग्रन्थ को शुद्ध आहार पानी दिया फलस्वरूप मिथ्यात्व अवस्था मे संसारपरीत्त कर मनुष्य की आयुष्य बांधी।

कृष्णपाक्षिक जीव चाहे अभवसिद्धिक हों, चाहे भवसिद्धिक हों—दोनों संसार-अपरीत है तथा शुक्लपाक्षिक जीव संसार अपरित भी हैं तथा संसार-परित भी हैं।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव भी अपने उसी भव में सद्क्रियाओं के द्वारा-संसार परीत्त होकर अन्तत: सम्यक्त्व को प्राप्त कर, चारित्र ग्रहण कर, केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध यावत् मुक्त हो सकते हैं। अतः मिथ्यात्वी सद्क्रियाओं के आचरण

---

१—ज्ञातासूत्र अ० १ ( तएणं तुमं मेहा! ताए पाणाणुकंपयाए ४ संसार-परित्तीकए मणुस्साउए निबद्धे। )

२—सुखविपाक सूत्र अ १

का अभ्यास करता रहे। मनुष्य का जन्म, धर्म का श्रवण, धर्म पर श्रद्धा, धर्म पर पराक्रम-ये चार वस्तुओं की[1] प्राप्ति दुर्लभ है। इन चार वस्तुओं की दुर्लभता को जानकर मिथ्यात्वी सद्क्रियाओं का आचरण करें, जिससे वह संसार परीत होकर जल्द ही मोक्षपद को प्राप्त कर सकेगा। अस्तु मिथ्यात्वी शुभ क्रिया से संसार अपरीत्त से संसार परीत्त होने का, संसार परीत से सम्यक्त्व प्राप्ति की चेष्टा करता रहे।

चतुर्थ नरक तक के कतिपय मिथ्यादृष्टि नारकी अनन्तर भव में अन्तक्रिया कर सकते हैं। शुद्ध क्रिया से हर व्यक्ति आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं। यदि सद्क्रिया करे तो आध्यात्मिक विकास के द्वार सब के लिये खुले हुए हैं।

अतः मिथ्यात्वी सद्क्रियाओं के द्वारा संसार अपरिमित से संसार परीत बनने की चेष्टा करें। जैन ग्रंथों में कहा है—

जे पुण गुरुपडिणीआ बहुमोहा, ससबला कुसीला य।
असमाहिणा मरंति उ, ते हुंहि अणंत ससारी॥

--आतुर प्रत्याख्यान पयन्ना गा ४२

अर्थात् गुरु के अवर्णवाद आदि कहकर प्रतिकूल आचरण करने वाले, बहुत मोह वाले, शबल दोष वाले, कुशीलिये और असमाधि मरण से मरने वाले जीव अनंत ससारी होते हैं। मिथ्यात्वी परनिन्दा से दूर रहे।

अस्तु मिथ्यात्वी परीतसंसारी तथा अपरीतससारी—(अनंत ससारी) दोनों प्रकार के होते हैं।

## ७ : मिथ्यात्वी और सुलभबोधि-दुर्लभबोधि

मिथ्यात्वी सुलभबोधि भी होते हैं और दुर्लभ बोधि भी। कृष्णपाक्षिक मिथ्यादृष्टि जीव नियमतः दुर्लभबोधि होते हैं तथा इसके विपरीत शुक्लपाक्षिक मिथ्यादृष्टि जीव सुलभबोधि और दुर्लभबोधि-दोनों होते हैं। अभवसिद्धिक मिथ्यादृष्टि जीव स्वभावगत नियम के कारण कभी भी बोधि को प्राप्त नहीं करेंगे अतः उनमें सुलभबोधि-दुर्लभबोधि का प्रश्न नहीं उठता। भव्यसिद्धिक मिथ्यादृष्टि जीव दुर्लभबोधि और सुलभबोधि दोनों—होते हैं।

---

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ ३

बोधि का अर्थ होता है-ज्ञान-परन्तु इसका पारिभाषिक अर्थ सम्यक्त्व भी किया जाता है। कहीं कहीं बोधि शब्द का अर्थ रत्नत्रय—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यग्चरित्र मिलता है। धर्मसामग्री की प्राप्ति भी इसका अर्थ किया जाता है। परन्तु ज्ञान-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) की यहाँ प्रधानता है। धर्म के साधनों का सत्य स्वरूप बतलाने की शक्ति भी इसी मे है। बोधि को रत्न की उपमा दी जाती है। जैसे रत्न की विशेषता प्रकाश है इसी प्रकार बोधि में भी ज्ञान की प्रधानता है। बोधि की प्राप्ति होना अति दुर्लभ है। आगम मे कहा है—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

उत्तरा० अ ३। गा १

अर्थात् इस ससार मे प्राणी के लिए मनुष्य जन्म, धर्मशास्त्र का श्रवण, धर्म पर श्रद्धा और संयम मे पराक्रम-आत्मशक्ति लगाना—इन चार प्रधान अंगों की प्राप्ति होना दुर्लभ है। उत्तम धर्म का श्रवण प्राप्त करके भी उस पर श्रद्धा होना और भी दुर्लभ है क्योंकि अनादिकालीन अभ्यास वश, मिथ्यात्व का सेवन करने वाले बहुत से मनुष्य दिखाई देते हैं।[1]

शांत सुधारसमे उपाध्याय विनयविजयजी ने कहा है—

तदेतन्मनुष्यत्वमाप्यापि मूढो,
महामोहमिथ्यात्वमायोपगूढः।
भ्रमन् दूरमग्नो भवागाधगर्ते,
पुनः क्व प्रपद्येत तद्बोधिरत्नम्॥

—शांतसुधारस, बोधि दुर्लभ भावना।

मनुष्य जन्म पाकर के भी यह मूढ आत्मा मिथ्यात्व और माया में फंसा हुआ संसार रूप अथाह कूप मे गहरा उतर कर इधर उधर भटकता फिरता है।

---

(१) लद्धूण वि उत्तमं सुइं, सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तणिसेवए जणे, समयं गोयम! मा पमायए॥

उत्त० अ १०, गा १६

कतिपय मिथ्यात्वी सद्क्रिया से बोधि को सुलभता से प्राप्त कर लेते हैं तथा कतिपय मिथ्यात्व-तीव्र मोह में इतने ज्यादा ग्रसित हैं कि उन्हें भवान्तर में भी बोधि की प्राप्ति होनी दुर्लभ है। कितने मिथ्यात्वी यथाप्रवृत्तिकरण में प्रवेश करके भी आत्मबोधि से वंचित रह जाते हैं। इससे इसकी दुर्लभता जानी जा सकती है। बोधि को प्राप्त करने का मनुष्य जन्म ही एक उपयुक्त अवसर है। अनेक जन्म के बाद महान् पुण्य के योग से मनुष्य का जन्म मिलता है। धर्म की प्राप्ति में और भी अनेक विघ्न हैं।

अतः मिथ्यात्वी सद्क्रिया में प्रमाद न करे, तप से विशेष कर्म निर्जरा, दृष्टि को सम्यग् बनाने की चेष्टा करे फलतः बोधिकी प्राप्ति सुलभ होगी। श्री चिदानंदजी ने कहा है—

'बार अनंती चूक्यो चेतन !, इण अवसर मत चूक'

उपरोक्त भावना का मिथ्यात्वी अवलंबन लेकर बोधि प्राप्त करने का अभ्यास करे।

अस्तु जिन मिथ्यात्वी को जिन धर्म की प्राप्ति सुलभ हों उन्हें सुलभ बोधि कहते हैं तथा जिन मिथ्यात्वी को जिनधर्म दुष्प्राप्य हो उन्हें दुर्लभबोधि कहते हैं।[1] ठाणांग सूत्र में कहा है—

पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभबोधियत्ताए कम्मं पकरेंति, तंजहा—अरहंताणं अवन्न वदमाणे, अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वदमाणे, आयरियउवज्झायाणं अवन्न वदमाणे, चाउवन्नस्स संघस्स अवन्नं वदमाणे, विवक्कतवबंभचेराण देवाणं अवन्नं वदमाणे।

—ठाणांग स्था ५। सू १३३

अर्थात् जीव पाँच कारणों से दुर्लभ बोधि योग्य मोहनीय कर्म का बंधन करता है, यथा—

१—अरिहंत भगवंत का अवर्णवाद बोलने से।

---

१—बोधि '—जिनधर्म्मः ( प्राप्ति ) सा सुलभा येषां ते सुलभ-बोधिका', एवमितरेऽपि।

—ठाणांग २।२।१६० टीका

२—अरिहंत भगवंत द्वारा प्ररूपित श्रुत, चारित्र रूप धर्म का अवर्णवाद बोलने से।

३—आचार्य-उपाध्याय का अवर्णवाद बोलने से।

४—चतुर्विध संघका अवर्णवाद बोलने से।

५—भवान्तर में उत्कृष्ट तप और ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान किये हुए देवों का अवर्णवाद बोलने से।

दुर्लभबोधि मिथ्यात्वी प्रायः दक्षिणगामी नेरयिकों में उत्पन्न होते हैं। ठाणांग सूत्र मे कहा है—

दुविहा नेरइया पन्नत्ता, तंजहा—सुलभबोधिया चेव दुलभबोधिया चेव जाव वेमाणिया—

—ठाणांग २।१।६०

अर्थात् नारकी यावत् वैमानिक दण्डको के जीव दो प्रकार के होते हैं—यथा— सुलभबोधि और दुर्लभबोधि।

यद्यपि मनुष्यभवकी प्राप्ति दुर्लभ है फिर भी कतिपय मिथ्यात्वी प्रकृति भद्रादि परिणाम से मनुष्यभवको प्राप्त कर लेते हैं। भद्रादि परिणाम—निरवद्य क्रिया है। ठाणांग सूत्र मे कहा है—

"छट्ठाणाइं सव्वजीवाणं णो सुलभाइं भवंति, तंजहा— माणुस्सए भवे, आरिए खित्तेजम्मं। सुकुले पच्चायाती। केवलिपन्नतस्स धम्मस्स सवणता। सुयस्स वा सद्दहणता। सद्दहितस्स वा पत्तितस्स वा रोइतस्स वा सम्मं काएणं फासणया।

—ठाण० स्था ६। सू १३

अर्थात् जो वस्तुएँ अनंत काल तक संसार चक्र में परिभ्रमण करने के बाद कठिनता से प्राप्त हों तथा जिन्हें प्राप्त करके जीव संसार चक्र को काटने का प्रयत्न कर सके उन्हें दुर्लभ कहते हैं— निम्नलिखित छह वस्तु प्राप्त होना सुलभ नहीं हैं यथा—मनुष्यजन्म, आर्य क्षेत्र, धार्मिक कुलमे उत्पन्न होना, केवलिप्ररूपित धर्म का सुनना, केवलिप्ररूपित धर्म पर श्रद्धा करना और केवलिप्ररूपित धर्म का आचरण करना। ठाणांग सूत्र में कहा है—

चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्साउत्ताए कम्म पगरेंति, तंजहा—पगति-भद्दताते, पगतिविणीययाए, साणुक्कोसयाते, अमच्छरिताते।

—ठाणांग ४।४।६३०

अर्थात् चार कारणों से जीव ( मिथ्यात्वी ) मनुष्य गति के आयुष्य का बंधन करता है—यथा—१—सरल स्वभाव से, २—विनीत स्वभाव से, ३—दयालुता से और ४—अमत्सर भाव से।

अस्तु मिथ्यात्वी कर्मग्रन्थि के रहस्य को साधुओं से समझकर दुर्लभबोधिसे सुलभबोधि होने का तथा सुलभबोधि से सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की चेष्टा करे। सद् अनुष्ठानिक क्रियाओं के द्वारा कर्मरूपी ग्रन्थि का छेदनकर केवली-प्ररूपित धर्म का आचरण करे।

जो मिथ्यात्वी साधुओंकी संगति मे रहकर जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में अनुरक्त हो जाते हैं, जितेन्द्र भगवान् द्वारा कथित सद्अनुष्ठानों को भावपूर्वक करते हैं; रागद्वेष से छूटकारा पाने का प्रयत्न करते हैं वे मिथ्यात्वी आगामी काल मे सुलभबोधि होते हैं तथा वे परीत्तससारी होते हैं। इसके विपरीत जो मिथ्यात्वी-सद्संगति से दूर रहते हैं। साधुओं को सम्मुख आते हुए देखकर लुक-छिप जाते हैं, मिथ्यादर्शन मे अनुरक्त हैं। प्रायः कृष्णादि तीन हीन लेश्याओं के परिणाम वाले होते हैं वे मिथ्यात्वी आगामी काल मे दुर्लभबोधि होते हैं [1]—

मिच्छादंसणरत्ता, सणियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुलहा बोही॥

—उत्त० अ ३६।गा २६५

अर्थात् मिथ्यादर्शनमे अनुरक्त, निदान सहित क्रियानुष्ठान करने वाले, कृष्ण-लेश्याको प्राप्त हुए, इस प्रकार के अनुष्ठान से जो जीव मरते हैं उनको पुनः परलोक मे बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति होनी, अत्यन्त दुर्लभ हैं। कर्मसग से मूढ हुए प्राणी

---

(१) मिच्छादंसणरत्ता, सणियाणाहु हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा, तेसिं पुण दुलहा बोही॥

—उत्त० ३६।२६३

अत्यन्त वेदना पाते हुए और दुःखी होते हुए अमानुषी-मनुष्येतर योनियों मे भ्रमण करते हैं। अतः मिथ्यात्वी साधुओं के निकट बैठकर धर्म का श्रवण करें, पराक्रम करें। मनुष्यजन्म पाकर जो मिथ्यात्वी धर्म को सुनता है और श्रद्धा करता हुआ उसके अनुसार पुरुषार्थ-आचरण करता है वह सुलभ बोधि होता है तथा शुभ-लेश्या में मरण प्राप्त कर शुभगति में उत्पन्न होता है।

मोक्ष को चाहने वाला मिथ्यात्वी कृष्णादि तीन हीन लेश्याओं से निवृत्त होनेका अभ्यास करे, तेजो आदि शुभ लेश्यामें प्रवृत्ति करे। आचार्य पूज्यपाद ने समाधिशतक मे कहा है—

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः॥

— समाधिशतक

अर्थात् मोक्षाभिलाषी पुरुष अव्रतों का त्याग करके व्रतों में स्थित होकर आत्मा के परम पद को प्राप्त करे और उस आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर उन व्रतों का भी त्याग करें।

अतः मिथ्यात्वी मिथ्यादर्शन से निवृत्त होकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने की चेष्टा करे। मरुदेवी माताने हाथी के ओहदे पर, भरतचक्रवर्ती ने आरिसा भवन मे केवल ज्ञान प्राप्त किया। इन दोनोंका सबक लेकर मिथ्यात्वी दुर्लभबोधि से सुलभबोधि का अभ्यास करें, अव्रत से व्रत की ओर बढ़ें।

श्री भिक्षु स्वामी ने कहा है—

"जे पुरुष गृहस्थपणे प्रकृति भद्रपरिणाम क्षमादि गुणसहित एह वा गुणं ने सुव्रती कह्या। पर १२ व्रतधारी न थी। ते जाव मनुष्य मरि मनुष्य में उपजे। एतो मिथ्यात्वी अनेक भलां गुणां सहित ने सुव्रती कह्यो छै। ते करणी भली आज्ञा मांही छै।"

इस प्रकार सद्‌अनुष्ठानिक क्रियाओं से मिथ्यात्वी सुलभबोधि हो सकता है।

---

# षष्ठम अध्याय

## १ : मिथ्यात्वी और ज्ञान-दर्शन

मिथ्यादृष्टि के उपयोग का कालमान् नियमतः असंख्यात समय—अंतर्मुहूर्त्त का होता है क्योंकि पर्याय का परिच्छेद—बोध करने मे असंख्यात समय लग जाता है। वह छद्मस्थ है। छद्मस्थ का उस प्रकार का स्वभाव है। मिथ्यादृष्टि मे छह उपयोग होते हैं—यथा—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगअज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षु-दर्शन तथा अवधिदर्शन। मति-श्रुत-अवधिज्ञान-जब मिथ्यात्व मोह से मलिन होते है तब क्रमशः मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान तथा विभंगअज्ञान का व्यवहार होता है। कहा है—

"आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम्।

—प्रज्ञापना पद २६। १६०६। टीका

अर्थात् आदि के तीन ज्ञान को मिथ्यात्व के संयुक्त होने से अज्ञान कहे जाते हैं। आचार्य मलयगिरि ने कहा है—

तत्र सम्यग्दृष्टीनां मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानानि, मिथ्यादृष्टीनां मत्यज्ञानश्रुतज्ञानविभंगज्ञानानीति सामान्यतो नैरयिकाणां षड्विधः साकारोपयोगः। × × ×।

—प्रज्ञापना पद २६। १६१३। टीका

अर्थात् सम्यग्दृष्टि नारकी मे मति-श्रुत-अवधिज्ञान और मिथ्यादृष्टि नारकी मे मति श्रुत-विभग अज्ञान होते हैं। इसी प्रकार अन्य दंडकों के विषय में समझ लेना चाहिए जिसमें जो हो वह कहना।

मिथ्यात्वी का श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान को त्रिकाल-विषयक कहा है क्योंकि उससे अतीत और अनागत भाव का ज्ञान होता है तथा इन दोनों अज्ञान को साकारपश्यत्ता शब्द से अभिहित किया है।[1] श्रुतअज्ञान से अतीत और अनागत

---

१—श्रुताज्ञानविभंगज्ञाने अपि त्रिकालविषये, ताभ्यामपि यथायोगमतीतानागत-भावपरिच्छेदात्।

—प्रज्ञापना पद ३०।१९३७ —टीका

भावों का भी ज्ञान हो सकता है। त्रिकाल विषयक आगम ग्रन्थादि के अनुसार इन्द्रिय और मनो निमित्त से जो विज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान-श्रुतअज्ञान कहते हैं। विभंग ज्ञान से अतीत और अनागत काल का ज्ञान होता है।

मिथ्यात्व मे प्रवृत्त होने के दो हेतु माने गये हैं—अज्ञान और मोह। जैसाकि षट्खंड पाहुड, चारित्र प्राभृत मे कहा है—

मिच्छादंसण मग्गे मलिणे अण्णाण मोहदोसेहि।
वज्झति मूढ जीवा मिच्छत्ता बुद्धि उदएण॥

मिथ्यात्व का अतरग कारण अनन्तानुबंधी कषायोदय और दर्शन मोह है। अत. सम्यक्त्व मे अनतानुबधी कषाय का उदय नहीं रहता है तथा दर्शन मोहनीय कर्म (मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय) का उदय भी नहीं रहता। परन्तु क्षयोपशम सम्यक्त्व मे—सम्यक्त्व मोहनीय (दर्शन मोहनीय कर्म की एक प्रकृति) कर्म का प्रदेशोदय रहता है, वह सम्यक्त्व मे बाधक नहीं बनता। युगप्रधान आचार्य तुलसी ने कहा है—

अनतानुबंधिचतुष्कस्य दर्शनमोहनीयत्रिकस्य चोपशमे—औपशमिकम् (सम्यक्त्वम्) तत्क्षये—क्षायिकम्, तन्मिश्रे च क्षायोपशमिकम्। ×××।

—जैन सिद्धांत दीपिका प्रकाश २।सू ४

अर्थात् अनंतानुबधी चतुष्क और दर्शन मोहनीय त्रिक—सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय एवं मिथ्यात्व मोहनीय—इन सात प्रकृतियों के उपशांत होने के कारण होनेवाली सम्यक्त्व को औपशमिक तथा इनका क्षय होने से प्राप्त होनेवाली सम्यक्त्व को क्षायिक एवं इनका क्षायोपशमिक होने से प्राप्त होने वाली सम्यक्त्व को क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। युगप्रधान आचार्य तुलसी ने कहा है—

मिथ्यात्विनां ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्योऽपिबोधो मिथ्यात्वसहचारित्वात् अज्ञानं भवति। ×××। यत्पुनर्ज्ञानाभावरूपमौदयिकमज्ञानं तस्य नात्रोल्लेखः। मनःपर्यायकेवलयोस्तु सम्यग्दृष्टिष्वेव भावात्, अज्ञानानि त्रीणि एव।

—जैन सिद्धांत दीपिका प्र० २ सू २१

अर्थात् मिथ्यात्वियों का बोध भी ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, किन्तु मिथ्यात्वसहवर्ती होने के कारण वह अज्ञान कहलाता है। जो अज्ञान् का अभाव रूप औदयिक (ज्ञानावरण कर्म के उदय से) अज्ञान होता है, उसका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है। मनःपर्यवज्ञान[1] और केवल ज्ञान[2] सिर्फ साधुओं के ( केवल ज्ञान सिद्धावस्था मे भी है ) ही होता है, अतः अज्ञान तीन ही हैं।

मिथ्यात्वी के जातिस्मरण ( मतिज्ञान का एक भेद जो स्मृति की विशेष परिपक्वता से उत्पन्न होता है ) ज्ञान तथा विभंग ज्ञान भी शुक्लेश्यादि से उत्पन्न होते हैं। यद्यपि मिथ्यात्वी का ज्ञान-अज्ञान कहलाता है अमितगति आचार्य ने योगसार मे कहा है—

मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभंगाज्ञान भेदतः।
मिथ्याज्ञानं त्रिधेत्येवमष्टधा ज्ञानमुच्यते ॥ ६ ॥
मिथ्याज्ञानं मतं तत्र मिथ्यात्वसमवायतः।
सम्यग्ज्ञानं पुनर्जैनैः सम्यक्त्वसमवायतः ॥ १२ ॥
—योगसार

अर्थात् मिथ्यात्व के सम्बन्ध से ज्ञान-मिथ्याज्ञान और सम्यक्त्व के सम्बन्ध से सम्यग्ज्ञान होता है। अज्ञान तीन हैं—यथा-मतिअज्ञान,, श्रुतज्ञान तथा विभंग अज्ञान। ये तीनों अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं।[3]

मिथ्यात्वी के चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन भी होते हैं जो दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं। षट्खंडागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन ने कहा है—

"मिच्छाणाण मिच्छादंसणेहि मिच्छत्त पच्चओ णिद्दिट्ठो।
—षट् खं ४, २, ८। सू १०। टीका। पु १२। पृ० २८६

१—मनोद्रव्यपर्यायप्रकाशिमनःपर्यायः —जैन सिद्धांत दीपिका २।१७
२—निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिकेवलम्। —जैन सि० दी० २।१८
३—योगसार गाथा १०

अर्थात् मिथ्याज्ञान तथा मिथ्यादर्शन—मिथ्यात प्रत्यय का कारण है अर्थात् मिथ्यात्व आश्रव-मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन से होता है। मिथ्यामार्ग का उपदेश देने वाले वचन को मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं।[1]

यहाँ जो मिथ्याज्ञान तथा मिथ्यादर्शन का उल्लेख किया जा रहा है वह क्रमशः ज्ञानावरणीय तथा दर्शन मोहनीयकर्म का उदय है। नदीसूत्र में देवर्द्धिगणि ने कहा है—

"अविसेसिया मई मइनाणं च मइअण्णाणं च। विसेसिया मती सम्मद्दिट्ठिस्स मई मइणाणं, मिच्छद्दिट्ठिस्स मई मइअण्णाणं। अविसेसियं सुयं सुयनाणं च सुयअन्नाण च। विसेसियं सुय सम्मद्दिट्ठिस्स सुयं सुयनाणं, मिच्छद्दिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं।

—नन्दीसूत्र, सू ४५

अर्थात् बिना विशेषताकी मति-अज्ञान और मतिअज्ञान उभयरूप है, विशेषता युक्त वही मति समदृष्टि के लिए मतिज्ञान है तथा मिथ्यादृष्टि की मति, मति-अज्ञान कहलाती है। विशेषता की अपेक्षा से रहित श्रुत-श्रुतज्ञान और श्रुतअज्ञान उभय रूप होता है एवं विशेषता पाकर वही सम्यग्दृष्टि का श्रुत-श्रुतज्ञान तथा मिथ्यादृष्टि का श्रुत-श्रुतअज्ञान कहा जाता है।

भारत, रामायण आदि ग्रन्थ मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व रूप से ग्रहण किये गये मिथ्याश्रुत हैं तथा सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व रूप से ग्रहण किये गये सम्यग्श्रुत हैं अथवा मिथ्यादृष्टि के भी भारत, रामायण आदि सम्यग्श्रुत हैं क्योंकि उनके सम्यक्त्व मे ये हेतु होते हैं इसलिये वे मिथ्यादृष्टि उन भारत आदि शास्त्र ग्रन्थों से ही प्रेरणा-बोध पाये हुए कई स्वपक्ष दृष्टि-अपनी मिथ्यादृष्टि को छोड़ देते हैं इसलिए उनके लिए भी भारतादि सम्यग्श्रुत हो जाते हैं। नन्दीसूत्र में देवर्द्धिगणि ने कहा है—

---

१—तद्विपरीता मिथ्यादर्शनवाक्।

—षट्‌ख १, १, सू० २ पु १। पृ० ११७

"मिच्छद्दिट्ठिस्स वि एयाइं चेव सम्मसुयं, कम्हा ? सम्मत्तहे-उत्तणओ, जम्हा ते मिच्छदिट्ठिया तेहिं चेव समएहिं चोइया समाणा केइ सपक्खदिट्ठिओ वमेंति।     —नंदीसूत्र सू ७२

आचार्य भिक्षु ने कहा है कि मिथ्यात्वी को क्षयोपशम के परिणामानुसार विभंगअज्ञान उत्पन्न होता है तथा वह देशोन दसपूर्व तक का ज्ञानाभ्यास कर सकता है।[1]

भारतीय संस्कृति मे तत्त्व का प्रतिपादन दो दृष्टियों से हुआ है—अस्तित्व की दृष्टि से और अध्यात्म की दृष्टि से। मिथ्यादर्शन पूर्वक ज्ञान 'अज्ञान' है; इसके विपरीत सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञान 'ज्ञान' है। यह ज्ञान-अज्ञान के स्वरूप का निर्णय जैन दर्शन मे अध्यात्म दृष्टि से है, अस्तित्व की दृष्टि से ज्ञान 'ज्ञान' ही है। अतः इसे क्षायोपशमिक भाव माना गया है। उपयोगिता की दृष्टि से सत्य वह है जो आत्मलक्षी है। जो ज्ञान आत्मलक्षी नहीं है, वह ज्ञान—अज्ञान कहलाता है। विवेक ज्ञान भी सम्यग्दर्शन से फलित है, इसलिए सम्यग्दर्शन के साथ होने वाले ज्ञान को ही ज्ञान माना गया है।

श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है किन्तु मतिश्रुतपूर्विका नहीं होती, इसलिए मति-श्रुत-दोनों मे मतिज्ञान का ही पूर्व प्रयोग होता है।

अर्थात् विशेषता की अपेक्षा से रहित श्रुत-श्रुतज्ञान और श्रुतअज्ञान—उभय रूप कहा जाता है। एवं विशेषता पाकर वही सम्यग्दृष्टि का श्रुत-श्रुतज्ञान तथा मिथ्यादृष्टि का श्रुत-श्रुतअज्ञान कहा जाता है। कहा है—

"अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुयं, तेण परं भिण्णेसु भयणा।"

—नन्दीसूत्र, सूत्र ७१

अर्थात् दसपूर्वो का संपूर्ण ज्ञान सम्यक्त्वी को ही होता है, उससे आगे पूर्वों के भिन्न होनेपर याने कुछ कम दस, नव आदि पूर्वज्ञान हो तो सम्यग्श्रुतपन की भजना है याने उसके लिए वह सम्यग्श्रुत भी हो सकता है, मिथ्याश्रुत भी। अतः सिद्ध होता है कि मिथ्यात्वी के देशोन दस पूर्वों का ज्ञान होता है।

---

१—नवपदार्थ की चोपई     —निर्जरा पदार्थ की ढाल १। गा १५-१६

अतः भारत, रामायण आदि ग्रन्थ कभी-कभी मिथ्यात्वी के सम्यग्श्रुत बन जाते हैं। कहा है—

अभवसिद्धीयस्स सुयं अणाइयं अपज्जवसियं च।

—नंदीसूत्र-सूत्र ७५

अर्थात् अभवसिद्धिक का श्रुत—मिथ्याश्रुत अनादि—अन्तरहित है। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि भवसिद्धिक का श्रुत सादि—सांत है क्योंकि वे किसी दिन मिथ्यात्व से निवृत्त हो सकते हैं। कहा है—

जं सुच्चा पडिवज्जति तवं खतिमहिंसयं।

—पुरुषार्थ चतुष्टयी उ ३, गा ८

अर्थात् जिस शास्त्र को सुनकर श्रोता, तप शांति और अहिंसा को धारण करते हैं, उसे सम्यग्श्रुत शास्त्र कहते हैं। कतिपय मिथ्यात्वी कामशास्त्र, रामायण आदि से विशुद्ध दृष्टि के कारण सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति कर लेते हैं।

जघन्य सम्यग्ज्ञान की आराधना से भी अधिक से अधिक से अधिक ७।८ भव करके सिद्ध हो जाता है अतः मिथ्यात्वी साधुओं के निकट बैठकर सम्यग्ज्ञान की आराधना का अभ्यास करें। मिथ्यात्व को छोड़े, ज्ञान मे रमण करें। कहा है—

जहन्नियण्णं भंते! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झंति, जाव सव्वदुक्खाण अंतं करेंति? गोयमा! अत्थेगइए तच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाण अंतं करेइ, सत्तट्ठ भवग्गहणाइं पुणनाइक्कमइ।

—भगवती श ८। उ १०। सू ४६४

अर्थात् जघन्य ज्ञान की आराधना करने वाले कई एक व्यक्ति तीसरे भव मे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं। लेकिन अधिक से अधिक ७-८ भव करके सिद्ध, बुद्ध-मुक्त होंगे ही। अतः मिथ्यात्वी अज्ञान को छोड़े, ज्ञान की आराधना का अभ्यास करे।

मिथ्यात्वी का मतिअज्ञान-श्रुतअज्ञान परोक्ष प्रमाण तथा विभंगज्ञान-प्रत्यक्ष-प्रमाण के अंतर्गत आ जाते हैं। स्मृति-प्रत्यभिज्ञा तर्क-अनुमान आदि परोक्ष-

प्रमाण भी मिथ्यात्वी में मिलते हैं। जातिस्मरण-स्मृति का परोक्ष प्रमाण ही है[1] जो मिथ्यात्वी के होता ही है। स्मृति और प्रत्यक्ष के संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।[2] यह निश्चित है कि स्मृति के बिना-प्रत्यभिज्ञा हो नहीं सकती। प्रत्यभिज्ञा भी मिथ्यात्वी के होती ही है। जातिस्मरण ज्ञान के बिना भी मिथ्यात्वी के स्मृतिज्ञान भी हो सकता है। साध्य-साधन के अविनाभाव सम्बन्ध को तर्क कहते हैं तथा साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। तर्क के बिना अनुमान ज्ञान नहीं हो सकता है।[3] मिथ्यात्वी के तर्क और अनुमान दोनों हो सकते हैं।

कहीं कहीं इन्द्रिय और मनकी सहायता से होनेवाले ज्ञान को—सांव्यावहारिक प्रत्यक्षज्ञान कहा है जो मिथ्यात्वी के हो सकता है। इन्द्रिय और मनकी सहायता के बिना आत्मा से विभंगज्ञान होता है जो प्रत्यक्ष प्रमाण का भेद है। मिथ्यात्वी के हो सकता है। यह ध्यान में रहे कि संज्ञी मिथ्यात्वी को लेश्याकी विशुद्धि से विभगज्ञान होता है लेकिन असज्ञी मिथ्यात्वी को किसी भी काल मे विभग ज्ञान नहीं होता।

इस प्रकार मिथ्यात्वी मे परोक्ष प्रमाण व प्रत्यक्ष प्रमाण दोनों होते हैं।

यह कहा जा चुका है कि मिथ्यात्व के ससर्ग के कारण मिथ्यात्वी का ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है। आगम मे मतिज्ञान के स्थान पर मतिअज्ञान का भी व्यवहार हुआ है। मिथ्यात्वी के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये चारों प्रकार के अज्ञान होते हैं। भगवती सूत्र मे कहा है—

---

१—संस्कारोद्‌बोधतदित्याकारा स्मृतिः

—भिक्षु न्यायकर्णिका ३।४

२—स एवायमित्यादिसंकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा

—जैन सि० दीपिका प्र० ६।१२

३—व्याप्तिज्ञानं तर्कः, साध्यसाधनयोर्नित्यसंबंधः व्याप्तिः।

—जैन सि० दीपिका ६।१३

साधनात्‌ साध्यज्ञानं अनुमानम्‌

—जैन सि० दीपिका ६।१४

से किं तं मइअन्नाणे ? मइअन्नाणे चउव्विहे पन्नत्ते, तंजहा—ओग्गहो, ईहा, अवाओ, धारणा।

—भग०श ८। उ २। प्र १००

मतिअज्ञान (मतिज्ञान की तरह) चार प्रकार का है—यथा—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

तथा श्रुतज्ञान के स्थान पर श्रुतअज्ञान का व्यवहार हुआ है तथा अवधिज्ञान के स्थान पर विभंगज्ञान का व्यवहार हुआ है। सब मिथ्यात्वी को विभंगज्ञान नहीं होता है। संज्ञी मिथ्यात्वी को ही विभंगज्ञान हो सकता है तथा शेष दो अज्ञान-संज्ञी-असंज्ञी दोनों को होते हैं। विभंगज्ञान में परस्पर तारतम्य रहता है अतः मिथ्यात्वी का परस्पर विभंगज्ञान एक समान नहीं होता है भगवती सूत्र में विभंग ज्ञान के अनेक प्रकारों का कथन है—

विभंगणाणे अणेगविहे पन्नत्ते, तंजहा—गामसंठिए, णयरसंठिए जाव सण्णिवेससंठिए, दीवसंठिए, समुद्दसंठिए, वाससंठिए, वासहरसंठिए, पव्वयसंठिए, रुक्खसंठिए ××× णाणा संठाणसंठिए पन्नत्ते—

—भग० श ८। उ २। सू १०१

अर्थात् विभंग ज्ञान अनेक प्रकार का कहा गया है। यथा—ग्राम संस्थित अर्थात् ग्राम के आकार, नगर संस्थित अर्थात् नगर के आकार यावत् सन्निवेश संस्थित, द्वीपसंस्थित, समुद्र संस्थित, वर्ष संस्थित (भरतादि क्षेत्र के आकार) वर्षधरसंस्थित (क्षेत्र की मर्यादा करने वाले पर्वतों के आकार), सामान्य पर्वताकार, वृक्ष के आकार, स्तूप के आकार, घोड़े के आकार, हाथी के आकार, मनुष्य के आकार, किन्नर के आकार, किंपुरुष के आकार, महोरग के आकार, गंधर्व के आकार, वृषभ के आकार, पशु के आकार, पसय अर्थात् दो खुर वाले एक प्रकार के जंगली के आकार, विहग अर्थात् पक्षी के आकार और वानर के आकार, इस प्रकार विभंग ज्ञान, नाना संस्थान संस्थित कहा गया है।

कतिपय संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव मिथ्यात्व-भाव को छोड़कर श्रावक के व्रतों को भी ग्रहण करते हैं। पंचम गुणस्थानवर्ती संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव-

असंख्यात हैं। वे श्रावकत्व का पालन कर देवगति में उत्पन्न होते हैं। सिद्धांत ग्रन्थों के अध्ययन से मालूम हुआ कि कतिपय मिथ्यात्वी संज्ञी तिर्यंच को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण, विशुद्धमान लेश्या से जाति स्मरण ज्ञान अथवा विभंग अज्ञान समुत्पन्न होता है जिसके कारण वे अपने पूर्व भवों को देखते हैं फलस्वरूप मिथ्यात्व भाव को छोड़कर-सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं तथा अणुव्रत नियमों को भी ग्रहण कर लेते हैं। फलतः वे वैमानिक देवों में उत्पन्न होते है।

इस प्रकार मिथ्यात्वी संज्ञी तिर्यंच भी अपना आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं। वे भी मोक्षमार्ग की देश आराधना के अधिकारी हैं। तथा जो सम्यक्त्व को प्राप्त कर अणुव्रत नियमों को ग्रहणकर, उनका विधिवत् पालन करते हैं वे मोक्षमार्ग के देश विराधक हैं। अर्थात् उन्होंने मोक्षमार्ग की अधिकांश आराधना की है। वे उत्कृष्ट नियमों का पालन करने वाले संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय सहस्रारदेव (आठवाँ देवलोक) लोक में उत्पन्न हो सकते हैं। युगप्रधान आचार्य तुलसी ने कहा है—

मतिश्रुतविभंगास्त्वज्ञानमपि ॥२० ॥

टीका —[1]विभंगोऽवधि स्थानीयः।

तन्मिथ्यात्विनाम् ॥ २१ ॥

—जैन सिद्धान्त दीपिका प्र २

अर्थात् मति, श्रुत और विभंग ये तीन अज्ञान भी है।[2] अवधि ज्ञान के स्थान में विभग अज्ञान का उल्लेख किया गया है। ये तीनों अज्ञान मिथ्यात्वियों के होते हैं। यद्यपि सम्यग्मिथ्यादृष्टि में भी ये तीनों अज्ञान होते हैं क्योंकि उनके भी संपूर्ण पदार्थों पर पूर्ण रूप से सही श्रद्धा नहीं है। अतः अज्ञान का व्यवहार होता है।

---

१—विविधा भगाः संति यस्मिन् इति विभंगाः।

जैन सि० दी० पृ० १८

२—कारसार्थे नञ् समासः कुत्सितत्वं चात्र मिथ्यादृष्टेः संसर्गात्

जैन सि० दीपिका पृ० १८

अस्तु मिथ्यादृष्टि नारकी मे तीन अज्ञान, पृथ्वीकाय से वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय मे प्रथम के दो अज्ञान, पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिक जीव तथा मनुष्य, भवनपति आदि चार निकाय के देवों मे तीन अज्ञान होते हैं ।[1]

ज्ञान विशेष धर्मों को जानता है अतः इसे साकारोपयोग कहते हैं । इसके विपरीत दर्शन सामान्य धर्मों को जानता है अत: इसे अनाकारोपयोग कहते हैं । दर्शन के चार भेद हैं, यथा—१. चक्षुदर्शन, २. अचक्षुदर्शन, ३. अवधिदर्शन और ४. केवलदर्शन ।

चक्षु के सामान्य बोध को चक्षुदर्शन और शेष इन्द्रिय तथा मन के सामान्य बोध को अचक्षु दर्शन कहते हैं, अवधि और केवल के सामान्य बोध को क्रमशः अवधिदर्शन और केवलदर्शन कहते हैं ।

मिथ्यात्वी के उपरोक्त चार दर्शन मे से पहले के तीन दर्शन—चक्षु-अचक्षु-अवधि दर्शन होते हैं । जिस मिथ्यात्वी को विभंगअज्ञान होता है उस मिथ्यात्वी को अवधि दर्शन होगा ही । मिथ्यात्वी अवधिदर्शन से सामान्य बोध तथा विभंग अज्ञान से विशेष बोध करता है । भावों की अविशुद्धि से मिथ्यात्वी का विभंग अज्ञान चला भी जाता है तथा भावों की विशुद्धि से मिथ्यात्वी सम्यक्त्व को प्राप्तकर लेते हैं तब उनका विभंग अज्ञान अवधि ज्ञान रूप मे परिणत हो जाता है ।[2]

नंदी सूत्र मे अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान चार बुद्धि रूप कहा गया है, यथा—औत्पात्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी ।

१. औत्पात्तिकी बुद्धि—पहले बिना देखे, बिना सुने और बिना जाने पदार्थों को तत्काल ही ( उसी क्षण मे ) विशुद्ध यथार्थ रूप से ग्रहण करनेवाली तथा अबाधित फल के योगवाली बुद्धि औत्पात्तिकी बुद्धि है । कहा है—

पुव्व अदिट्ठमसुयमवेइय-तक्खण-विसुद्धगहियत्था ।
अव्वाहयफलजोगा, उप्पत्तिया नाम ॥

—नन्दी सूत्र, सूत्र ४७

---

(१) भगवती श ८। उ २ सू १०५ से १०९

(२) भगवती श ९। उ ३१। सू ३३

अर्थात् जो बुद्धि पहले बिना देखे, बिना सुने, बिना जाने विषयों को उसी क्षण में विशुद्ध यथावस्थित ग्रहण करती है व अबाधितफल के संबंधवाली है वह औत्पात्तिकी नामक बुद्धि है। शास्त्राभ्यास व अनुभव आदि के बिना केवल उत्पात से ही जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह औत्पात्तिकी बुद्धि है। श्री मज्जयाचार्य ने कहा है—

"मतिज्ञान ना दो भेद—श्रुतनिश्चित और अश्रुतनिश्चित। ××× पूर्व दिठ्योनहीं-सुण्यो नहीं ते अर्थ तत्काल ग्रहण करे ते उत्पातनी बुद्धि अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान नो भेद कह्यो।"

—भ्रमविध्वंसनम् अधिकार २३।२

२. वैनयिकी बुद्धि—कठिन कार्य भार के निस्तरण-निर्वाह करने में समर्थ तथा धर्म, कामरूप त्रिवर्ग के वर्णन करने वाले सूत्र और अर्थ का प्रमाण व सार ग्रहण करने वाली तथा जो इस लोक और परलोक में फलदायिनी है वह विनय से होने वाली बुद्धि है। कहा है—

भरणित्थरणसमत्था, तिवग्गसुत्तत्थगहियपेयाला।
उभयोलोगफलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धि॥

—नन्दीसूत्र, सूत्र ६३

अर्थात् विनय से उत्पन्न हुई बुद्धि कठिन से कठिन प्रसंग को भी सुलझानेवाली और नीतिधर्म व अर्थशास्त्र के सार को ग्रहण करने वाली होती है।

३—कर्मजा बुद्धि—एकाग्र चित्त से उपयोग से कार्यों के परिणाम को देखने वाली, तथा अनेक कार्यों के अभ्यास और विचार-चिंतन से विशाल एवं विद्वानों से की हुई प्रशंसा रूप फल वाली ऐसी कर्म से उत्पन्न होने वाली बुद्धि कर्मजा कहलाती है।[1]

४—परिणामिकी बुद्धि—अनुमान, हेतु और दृष्टांत से विषय को सिद्ध करने वाली, अवस्था के परिपाक से पुष्ट तथा उन्नति और मोक्ष रूप फलवाली बुद्धि परिणामिकी है। कहा है—

---

(१) उपओगदिट्ठसारा, कम्मपसंगपरिघोलणविसाला।
साहुक्कारफलवई, कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी॥

—नंदीसूत्र, सूत्र ६६

अणुमाण-हेउ-दिट्ठंतसाहिया वयविवाग परिणामा।
हियणीस्सेसफलवई, बुद्धी परिणामिया णाम।

—नन्दी सूत्र, सू ६८

अर्थात् जो स्वार्थानुमान हेतु और दृष्टांत से विषय को सिद्ध करती है तथा लोकहित व लोकोत्तर मोक्ष को देने वाली-ऐसी अवस्था के परिपाक से होनेवाली बुद्धि परिणामिकी है।

उपरोक्त चारों बुद्धियाँ मिथ्यात्वी के होती हैं।

कोष्ठादि के भेद से बुद्धि तीन प्रकार की होती है।[1] कहा है—

तिस्रो हि बुद्धयः × × तद्यथा—कोष्ठबुद्धिः १, पदानुसारिबुद्धि· २, बीजबुद्धि ३ श्च।

—प्रज्ञापना पद २१। सूत्र १५३३ टीका

अर्थात् बुद्धि के तीन भेद हैं यथा—

(१) कोष्ठबुद्धि—सुनने के समय याद करना, कालान्तर में भूल जाना।

(२) पदानुसारी बुद्धि—एक पद को सुनकर शेष के पदों को बिना सुने अर्थ लगाना।

(३) बीज बुद्धि—एक अर्थ पद के अनुसार अपनी स्वय की बुद्धि से विस्तार से जाना।

यद्यपि मिथ्यात्वी में यत्किंचित् तीनों प्रकार की बुद्धि मिलती हैं। परस्पर मिथ्यात्वी के भी आध्यात्मिक विकास मे तरतमता रहती है।

इस प्रकार मिथ्यात्वी के (श्रुतनिश्रित तथा अश्रुतनिश्रित—दोनों प्रकारका) मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभगज्ञान, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन—ये छह उपयोग होते हैं।

## २ : मिथ्यात्वी के कर्मों के क्षयोपशम से ज्ञानोत्पत्ति

चाहे सम्यग्दृष्टि हो चाहे मिथ्यादृष्टि हो, नवीन ज्ञान की उत्पत्ति के समय मे विशुद्धलेश्या, प्रशस्त अध्यवसाय और शुभपरिणाम आदि का उल्लेख मिलता है।

---

१—प्रज्ञापना पद २१। १५३३ टीका

१—छद्मस्थ अवस्था में भगवान् ने पाँचवाँ चतुर्मास भद्दिलपुर नगर में किया। चतुर्मास समाप्त कर भगवान् कदली समागम ग्राम, जंबूसण्डग्राम तुबाक ग्राम, कूपिका ग्राम, वैशाली नगरी, ग्रामक ग्राम होते हुए माघ मास मे शालिशीर्ष नामक ग्राम मे पधारे। वहाँ उद्यान में भगवान् प्रतिमा में स्थित थे। उस समय भगवान् को शुभ अध्यवसाय, अवधि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम आदि के कारण लोकप्रमाण अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। कहा है।

छट्ठेण सालिसीसे विसुज्झमाणस्स लोगोही।

—आव० नि गा ४८६

मलय टीका—× × × तदानीं च षष्ठेन—दिनद्वयोपवासेन तिष्ठतस्तीव्रवेदनामधिसहमानस्य शुभैरध्यवसायैर्विशुद्ध्यमानस्यलोकप्रमाणोऽवधिरभूत्।

अर्थात् भगवान् महावीर को शालिशीर्ष ग्राम मे दो दिन की तपस्या मे, शीतादि की तीव्र वेदना को समता से सहन करने से, लोकप्रमाण अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। कहा जाता है कि लोक प्रमाण अवधिज्ञान अनुत्तरविमानवासी देवों को होता है।[1]

२—मेघकुमार के जीव को—पूर्वभव (मेरुप्रभ हस्ति) के भव में मिथ्यात्व अवस्था मे जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ—

तएणं तव मेहा! लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं अज्झवसाणेणं सोहणेणं सुभेणं परिणामेणं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूह-मग्गण-गवेसणं करेमाणस्स सन्निपुव्वे जाईसरणे समुप्पज्जित्था।

—ज्ञातासूत्र अ० १ सू० १७०

---

१—विशेषात् कर्मक्षपणं धर्मध्यानदीप्यत।
बभूव चावधिज्ञानं श्रीवीरस्वामिनोऽधिकम्॥
अनुत्तरस्थितस्यैव सर्वलोकावलोकनम्॥

—त्रिशलाका० पर्व १०। सर्ग ३। श्लो० ६२१, ६२२

अर्थात् मेघकुमार को अपने पूर्वभव में विशुद्धलेश्या, शुभ अध्यवसाय, शुभपरिणाम एवं तदावरणीय ( मतिज्ञानावरणीय ) कर्मों के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा करते हुए जातिस्मरण (संज्ञीज्ञान) ज्ञान उत्पन्न हुआ।

३—मेघ अणगार की अवस्था में ( सम्यग्दृष्टि की अवस्था मे )

तएणं तस्स मेहस्स अणगारस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म सुभेहिं परिणामेहिं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स सन्निपुव्वे जाइसरणे समुप्पण्णे।

—ज्ञाता० अ० १ सू० १६०

अर्थात् भगवान महावीर के अंतेवासी शिष्य मेघ ( अणगार ) को विशुद्ध लेश्या, शुभ परिणाम तथा प्रशस्त अध्यवसाय से एवं तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से ईहा, अपोह; मार्गणा, गवेषणा करते हुए जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ।

४—केवली आदि के पास से धर्मप्रतिपादक वचन सुनकर सम्यग्दर्शनादि प्राप्त जीव को सम्यक्त्व अवस्था मे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ :—

तस्स ( सोच्चा ) णं अट्ठम अट्ठमेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेण अप्पाणं भावेमाणस्स पगइभद्दयाए तहेव जाव ( पगइउवसतयाए, पगइपयणुकोह-माण-मायालोभयाए, मिउमद्दवसंपण्णाए, अल्लीणयाए, विणीययाए, अण्णया कयावि सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं-विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहा-अपोह-मग्गणगवेसणं करेमाणस्स ओहिणाणे समुप्पज्जइ।

—भग० श० ९। उ० ५५

अर्थात् केवली यावत् केवलिपाक्षिक के पास से धर्मप्रतिपादक वचन सुनकर सम्यग्दर्शनादि प्राप्त जीव को निरंतर तेले-तेले की तपस्या द्वारा आत्मा को भावित करते हुए प्रकृति की भद्रता आदि गुणों से—किसी दिन शुभ अध्यवसाय शुभ परिणाम, विशुद्ध लेश्या से एवं तदावरणीय कर्म ( अवधिज्ञानावरणीयकर्म )

के क्षयोपशम से ईहा, उपोह, मार्गणा, गवेषणा करते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ।

५—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकादि से केवलीप्ररूपित धर्म को बिना सुनकर ही ( अश्रुत्वा ) कतिपय जीवों को ज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षयोपशम से विभग अज्ञान उत्पन्न होता है। उस मिथ्यात्व अवस्था मे उनके विशुद्ध लेश्या, शुभ अध्यवसाय, शुभपरिणाम आदि होते हैं।

तस्स णं ( असोच्चा केवलिस्स णं ) भंते! छट्ठं छट्ठेण × × × अन्नया कयाइ सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेण, लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं-विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहा-पोह-मग्गणगवेसणं करेमाणस्स विब्भगे नामं अन्नाणे समुप्पज्जइ।

—भग० श० ९ उ० ३१। प्र ३३

अर्थात् किसी के पास से भी धर्म को न सुनकर अश्रुत्वा को निरंतर-छट्ठ-छट्ठ का तप करते हुए ××× किसी दिन शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम, विशुद्ध लेश्या एव तदावरणीय ( विभग ज्ञानावरणीय कर्म ) कर्मों के क्षयोपशम से ईहा-ऊपोह-मार्गणा और गवेषणा करते हुए विभंग अज्ञान उत्पन्न होता है।

६ —इस अवसर्पिणी काल के उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लीनाथ भगवान जिस दिन दीक्षित हुए, उसी दिन उन्हें शुभलेश्या, शुभपरिणाम तथा शुभ अध्यवसाय की अवस्था मे केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हुआ।

तए णं मल्ली अरहा जं चेव दिवसं पव्वइए तस्सेव दिवसस्स पच्चवरण्हकालसमयंसि असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलापट्टयंसि सुहासणवरगयस्स सुहेणं परिणामेणं ( पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं ) पसत्थाहिं लेसाहिं ( विसुज्झमाणीहिं ) तयावरणकम्मरयविकरणकरं अपुव्वकरणं अणुपविट्ठस्स अणंते जाव केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने।

—ज्ञातासूत्र अ० ८ सू २२५

अर्थात् मल्लीनाथ अरिहंत ने जिस दिन दीक्षा ली, उसी दिन शुभपरिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय, विशुद्धलेश्या से, तदावरणीय कर्मों के क्षय होने से केवलज्ञान तथा केवलदर्शन उत्पन्न हुआ।

७—जितशत्रु आदि छह प्रमुख राजा मल्लीकँवरी की पूर्वनिर्मित मूर्ति को देखते हैं, ( उस मूर्ति को साक्षात् मल्लीकँवरी समझते हैं। ) देखकर उस पर रागभाव लाते हैं। मल्लीकँवरी उस निर्मित मूर्ति का ऊपरी भाग का ढक्कन खोलती है। फलस्वरूप दुर्गन्ध आने लगती है ( क्योंकि उस निर्मित मूर्ति में ढक्कन खोलकर भोजन का ग्रास प्रतिदिन डाला जाता था। कई दिन का ग्रास होने से उसमे दुर्गन्ध आने लगी। ) जितशत्रु प्रमुख उन छहों राजाओं से दुर्गन्ध सहन नहीं हुआ। फलस्वरूप नाक कपड़े से ढांक लिया। तब मल्लीकुमारी ने उन छहों राजाओं को प्रतिबोध देते हुए कहा कि इस मूर्ति की की तरह मेरा शरीर भी अशुचि का भंडार है, आप इस ऊपरी चमड़े को देखकर क्यों ललचाते हैं। आप अपने पूर्व भव को याद कीजिये कि अपने सबोंने पूर्वजन्म मे एक साथ अनगार वृत्ति मे रहे, विचित्र प्रकार की तपस्याएँ कीं। मल्लीकुमारी से यह वृत्तान्त सुनकर उन छहों राजाओं को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ :—

तए णं तेसिं जियसत्तुपामोक्खाणं छण्हं रा ( या ) ईणं मल्लीए विदेहरायवरकन्नए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्मा सुभेणं परिणामेणं पसत्थेणं अज्झवसाणेणं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूह जाव सण्णिपुव्वे जाईसरणे समुप्पन्ने।

—ज्ञातासूत्र अ० ८ सू १८१

जितशत्रु प्रमुख राजाओं को ( मल्लीकुमारी से विविधप्रकार का उपदेश सुनकर ) शुभपरिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय, विशुद्धमान लेश्या से, तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से ईहा-ऊपोह-मार्गणा व गवेषणा करते हुए जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ।

८—वाणिज्यग्राम वासी सुदर्शन नामक सेठ को सम्यक्त्व अवस्था में जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ :—

तए णं तस्स सुदंसणस्स सेट्ठिस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म सुभेणं अज्झवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहा-पोह-मग्गण-गवेसणं करेमाणस्स सण्णीपुव्वे जाईसरणे समुप्पन्ने।

—भगवती श ११। उ ११ सू १७१

अर्थात् श्रमण भगवान महावीर स्वामी से धर्म सुनकर और हृदय में धारण कर सुदर्शन सेठ को शुभ अध्यवसाय, शुभपरिणाम और विशुद्धलेश्या से तदावरणीय कर्म का क्षयोपशम हुआ और ईहा, ऊपोह, मार्गणा और गवेषणा करते हुए संज्ञीपूर्व[1]—जातिस्मरण (ऐसा ज्ञान जिससे निरंतर—संलग्न अपने संज्ञी रूप से किये हुए पूर्व भव देखे जा सकें) ज्ञान उत्पन्न हुआ।

९—आणद श्रावक को पोषधशाला में विशेष रूप से धर्म की आराधना करते हुए अवधिज्ञान सम्यक्त्व अवस्था में उत्पन्न हुआ।

आणंदस्स समणोवासगस्स अन्नया कयाइ सुभेणं अज्झवसाणेण सुभेणं परिणामेणं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं खओवसमेणं ओहिनाणे समुप्पन्ने।

उपासकदशांग अ १ सू। ६६

(धर्मजागरणा करते हुए) आणंद श्रावक को किसी समय में शुभ अध्यवसाय, शुभपरिणाम और विशुद्धलेश्या से तदावरणीय कर्म (अवधिज्ञानावरणीय कर्म) के क्षयोपशम होने से अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ।

१०—भरतचक्रवर्ति को आरिसा भवन में अनित्य भावना को भावित करते हुए केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हुआ—(सम्यक्त्व तथा चारित्र अवस्था में)।

तए णं तस्स भरहस्स रण्णो सुभेणं परिणामेणं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं २ ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स तयावरणिज्जाणं कम्माणं खएणं कम्मरयविकिरणकरं अपुव्वकरणं

(१) समवायांग सूत्र में जातिस्मरण ज्ञान को संज्ञीज्ञान कहा है।

पविट्ठस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पण्णे ।

—जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति सू ७०

भरत चक्रवर्ती को आरिसाभवन मे शुभपरिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय, विशुद्ध लेश्या से ईहा-अपोह मार्गणा-गवेषणा करते हुए तदावरणीय कर्मों ( केवल ज्ञानावरणीय कर्म ) के क्षय होने के अणुतर केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ ।

११—शिवराजर्षि को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे तपस्या करते हुए शुभ-लेश्यादि से विभंग अज्ञान उत्पन्न हुआ ।

तए णं तस्स सिवस्स रायरिसिस्स छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं दिसाचक्कवालेणं जाव—आयावेमाणस्स पगइभद्दयाए जाव विणीययाए अण्णया कयावि तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहा-पोह-मग्गण-गवेसण करेमाणस्स विब्भगे णामं नाणे समुप्पण्णे ।

—भग० श० ११।उ६। सू ७१

अर्थात् निरतर बेले-बेले की तपस्यापूर्वक दिक्चक्रवाल तप करते यावत् आतापना लेने और प्रकृति की भद्रता यावत् विनीतता से शिवराजर्षि को किसी दिन तदावरणीय ( विभंगज्ञानावरणीय ) कर्मों के क्षयोपशम से ईहा, अपोह मार्गणा और गवेषण करते हुए विभग अज्ञान हुआ ।

१२—अणगार गजसुकुमाल श्रीकृष्ण के ससारपक्षीय छोटे भाई थे । उन्होंने कुमारावस्था में दीक्षा ग्रहण की थी । भगवान अरिष्टनेमि की आज्ञा से महाकाल नामक श्मशान मे काया को कुछ नमाकर चार अंगुल के अन्तर से दोनों पैरों को सिकोड़कर एक पुद्गल पर दृष्टि रखते हुए एक रात्रि की महा प्रतिमा ( भिक्षु प्रतिमा ) स्वीकार कर ध्यान मे खड़े रहे । सोमिल ब्राह्मण द्वारा शिर पर अंगारों को रखे जाने से गजसुकुमाल अनगार के शरीर मे महा वेदना उत्पन्न हुई । वह वेदना अत्यन्त दुःखमयी, जाज्वल्यमान और असह्य थी । फिर वे गजसुकुमाल अनगार उस सोमिल ब्राह्मण पर लेश मात्र भी द्वेष नहीं करते हुए समभावपूर्वक महा घोर वेदना को सहन करने लगे ।

तए णं तस्स गयसुकुमालस्स अणगारस्स तं उज्जलं जाव दुरहियासं वेयणं अहियासेमाणस्स सुभेणं परिणामेणं पसत्थज्झवसाणेणं तदावरणिज्जाणं कम्माणं खएणं कम्मरयविकरणकरं अपुव्वकरणं अणुप्पविट्ठस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पण्णे।

—अंत० वर्ग ३। अ ८। सू ६२

अर्थात् घोर वेदना को समभावपूर्वक सहन करते हुए गजसुकुमाल अनगार ने शुभपरिणाम और शुभ अध्यवसायों से तथा तदावरणीय कर्मों के नाश से कर्म विनाशक अपूर्वकरण में प्रवेश किया ; जिससे उनको अनंत अनुत्तर, निर्व्याघात निरावरण, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। मुनि गजसुकुमाल ने उसी रात्रि में सर्व कर्मों को अन्त कर सिद्ध, बुद्ध यावत् मुक्त हुए।

१३—श्रमणोपासक नंदमणियार का जीव मिथ्यात्व भाव को प्राप्त होकर अपनी नंदापुष्करणी मे मेढ़क रूप से उत्पन्न हुआ। वहाँ मेढ़क ने बारम्बार बहुत से व्यक्तियों से सुना कि नंदमणियार धन्य है जिसने इस नंदापुष्करणी को निर्मित किया। ईहा-अपोह-मार्गणा-गवेषणा करते हुए उस नंदमणियार के जीव को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। जैसा कि कहा है—

तए णं तस्स दद्दुरस्स तं अभिक्खणं-अभिक्खणं बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म इमेयारूवे अज्झत्थिए चिंतए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था—कहिं मन्ने मए इमेयारूवे सद्दे निसंतपुव्वे त्ति कट्टु सुभेणं परिणामेणं पसत्थेणं अज्झवसाणेणं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूहमग्गण-गवेसणं करेमाणस्स सण्णिपुव्वे जाईसरणे समुप्पण्णे, पुव्वजाइं सम्मं समागच्छइ।

—नायाधम्मकहाओ श्रु १ अ १३। सू ३५

अर्थात् नंदा पुष्करणी में स्थित उस मेढक ने बहुत व्यक्तियों से सुना कि इस नन्दा पुष्करणी को नन्दमणियार ने बनाया था। ईहा-अपोह-मार्गणा-

गवेषणा करते हुए, तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से, प्रशस्त, अध्यवसाय, विशुद्धमान लेश्या, शुभपरिणाम से उस मेंढक को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे उसने अपने द्वारा कृत पूर्व भव—नंदमणियार के भव को देखा।

१४—अंबड़ परिव्राजक वीर्यलब्धि ( विशेष शक्ति की प्राप्ति ) वैक्रिय-लब्धि ( अनेक रूप बनाने की शक्ति ) और अवधिज्ञानलब्धि ( रूपी पदार्थों को आत्मा से जानने की शक्ति ) के प्राप्त होनेपर मनुष्यों को विस्मित करने के लिए कंपिल्लपुर नगर मे सौ घरों में आहार करता था, सौ घरों मे निवास करता था। ये लब्धियाँ अंबडपरिव्राजक को स्वाभाविक भद्रता यावत् विनीतता से युक्त निरंतर बेले-बेले की तपस्या करते हुए भुजाएँ ऊँची रखकर और मुख सूर्य की ओर आतापना भूमि मे आतापना लेने वाले शुभ परिणामादि से प्राप्त हुई। कहा है—

अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स पगइभद्दयाए जाव विणीययाए छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहस्स आयावणभूमीए आयावेमाणस्स, सुभेणं परिणामेणं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं, अण्णया कयाइं तदावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिणाणलद्धी समुप्पण्णा।

—ओव० सू ११६

अंबड़ परिव्राजक को शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्धमान लेश्या के द्वारा किसी समय तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम होने पर ईहा, अपोह, मार्गणा तथा गवेषणा करते हुए वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि के साथ अवधिज्ञान लब्धि प्राप्त हुई।

१५—तेतलिपुत्र को शुभ परिणाम आदि से जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ—

तए णं तस्स तेयलिपुत्तस्स अणगारस्स सुभेणं परिणामेणं जाईसरणे समुप्पन्ने।

—ज्ञाता० अ १४। सू ८१

तए णं तस्स तेयलिपुत्तस्स अणगारस्स सुभेणं परिणामेणं पसत्थेणं अज्झवसाणेणं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं कम्मरयविकरणकरं अपुव्वकरणं पविट्ठस्स केवलवरणाण-दंसणे समुप्पण्णे।

—ज्ञाता० अ १४। सू ८१

अर्थात् तेतलिपुत्र को गृहस्थावस्था में शुभ परिणाम से जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ। इसके बाद उन्होंने संयम ग्रहण किया, गृहस्थ से अणगार बने विचित्र प्रकार की तपस्या की। स्वयं ही दीक्षित हुए तथा स्वयं ही चतुर्दश पूर्वों की विद्या प्राप्त की।

तेतलिपुर नगर के प्रमदवन उद्यान में तेतलिपुत्र अणगार को शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय, लेश्याकी विशुद्धि से, तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से कर्म रूपी रज को नष्टकर अपूर्वकरण मे प्रविष्ट हुए तथा केवलज्ञान-केवल-दर्शन उत्पन्न हुआ।

१६—संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय को शुभ परिणाम आदि से जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न होता है—उववाई सूत्र मे कहा है—

सेज्जे इमे सण्णि-पंचिंदिय-तिरिक्खजोणिया पज्जत्तया भवंति, तंजहा—जलयरा, थलयरा, खहयरा।

तेसि णं अत्थेगइयाणं सुभेणं परिणामेणं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापूह-मग्गण-गवेसणं करेमाणाणं सण्णीपुव्वजाइ-सरणे समुप्पज्जई।

—ओव० सू १५६

अर्थात् कतिपय सज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रियको शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्या से, तदावरणीय कर्मों के क्षयोपशम होने से, ईहा-अपोह-मार्गणा-गवेषणा करते हुए पूर्व भवों की स्मृति रूप जातिस्मरण रूप ज्ञान उत्पन्न होता है। आगमों में कहा—उस जाति स्मरण ज्ञान के पैदा होनेपर वे तिर्यंच पचेन्द्रिय (जलचर-स्थलचर-नभचर) स्वयं ही पाँच अणुव्रतों को स्वीकार करते हैं। बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत विरमण, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से आत्मा को

भावित करते हुए, बहुत वर्षों की आयुष्य पाते हैं। आयुष्य के नजदीक आनेपर वे भक्त का प्रत्याख्यान करते हैं—अनशन ग्रहण करते हैं, दोषों की आलोचना करते हैं, समाधि को प्राप्त करते हैं। भगवान् ने कहा है कि इसप्रकार के संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय शुक्ललेश्या में मरण को प्राप्त कर उत्कृष्टतः सहस्रार कल्प ( आठवें देवलोक मे) में उत्पन्न हो सकते हैं। किसी किसी को शुभ परिणाम, शुभलेश्या और प्रशस्त अध्यवसाय से अवधिज्ञान भी उत्पन्न हो जाता है।

१७—पार्श्वनाथ संतानवर्ती आचार्य मुनिचंद्र को शुभध्यान आदि के द्वारा अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में कहा है—

अत्रान्तरे निशा जज्ञे मुनिचन्द्राख्यसूरय।

× × ×

शुभध्यानादचलिता वेदनां तां सहिष्णवः।
सद्यो जातावधिज्ञाना मृत्वाचार्या दिवं ययुः॥

—त्रिशलाका० पर्व १०। सर्ग ३ श्लो ४६२, ४६५

अर्थात् मुनिचंद्राचार्य ने वेदना को समता से सहन किया—शुभ ध्यानादि के द्वारा अवधि ज्ञान उत्पन्न किया। आवश्यक सूत्र की मलयगिरि टीका मे कहा है कि उन्होंने केवलज्ञान उत्पन्न किया।[1]

१८—हस्तिनापुर के पद्मोत्तर राजा ने मुनिसुव्रतस्वामी के शिष्य सुव्रतसूरि से दीक्षित हुए। फिर शुद्ध अध्यवसाय से केवलज्ञान प्राप्तकर सिद्ध हुए। कहा है—

पद्मोत्तरमुनिरपि पालित निष्कलंकश्रामण्यः शुद्धाध्यवसायेन कर्मजाल क्षपयित्वा समुत्पन्नं केवलज्ञानः संप्राप्त सिद्धिमिति।

—उत्त अ १८। लक्ष्मीवल्लभ टीका

अर्थात् पद्मोत्तर मुनि ने निष्कलंक श्रामण्य का पालन किया। फलस्वरूपशुभ अध्यवसाय से कर्मजाल को खपाकर केवलज्ञान उत्पन्न किया। यह निश्चित है

---

१—मुणिचदायरिए, सो चिंतइ-चोरत्ति, तेणं ते गलिए गहिया, ते निरुस्सासा कया, न य झाणातो कंपिया, तेसिं केवलणाण उप्पन्नं।

—आव० नि० गा ४७६—मलयटीका

कि केवल ज्ञान-केवलदर्शन की उत्पत्ति के समय शुभ अध्यवसाय के साथ शुभ परिणाम तथा शुभलेश्या भी होती है।

१९—भगवान् महावीर के प्रमुख श्रावक महाशतक को सम्यक्त्व अवस्था में धर्म-आचरणा करते हुए शुभ अध्यवसाय आदि से अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ। महाशतक राजगृह नगर का वासी था।

तए णं तस्स महासतगस्स समणोवासगस्स सुभेणं अज्झवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं जाव खओवसमेणं ओहिणाणे समुप्पन्ने।

—उपासकदशांग अ० ८ सू० ३७

महाशतक श्रावकको शुभ अध्यवसाय ( शुभ परिणाम से, विशुद्धमान लेश्या से, अवधिज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम से ) यावत् क्षयोपशम से अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ।

२०—सुग्रीवनगर में बलभद्र नामक राजा था। उसके मृगा नाम की पटरानी थी। उनके 'बलश्री' नाम का पुत्र था, जो 'मृगापुत्र' के नाम से विख्यात था। एक दिन मृगापुत्र ने एक श्रमण को—जो तप, नियम और संयम को धारण करने वाले, शीलवान् और गुणों के भण्डार थे—जाते हुए देखा। मृगापुत्र उन मुनि को ध्यान से देखने लगा। उसे विचार हुआ कि मैंने इस प्रकार का रूप पहले देखा है। फलस्वरूप मृगापुत्र को प्रशस्त अध्यवसाय आदि से जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ।

साहुस्स दरिसणे तस्स, अज्झवसाणम्मि-सोहणे।
मोहं गयस्स संतस्स, जाइसरणं समुप्पण्णं ॥
देवलोग चुओ संतो, माणुसं भवमागओ।
सण्णिणाण-समुप्पण्णे, जाइं सरइ पुराणयं ॥
जाइसरणे समुप्पण्णो, मियापुत्ते महड्ढिए।
सरइ पोराणिय जाइं, सामण्णं च पुराकयं ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १९। गा०७ से ९

अर्थात् साधु के दर्शन के कारण एवं मोहनीय कर्म को क्षयोपशम होने से तथा शुभ अध्यवसाय से ( आत्मा का सूक्ष्म परिणाम अध्यवसाय कहलाता है। )

मृगापुत्र को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। संज्ञी ज्ञान (जातिस्मरणज्ञान)— यह ज्ञान संज्ञी जीवों को ही होता है, अतः इसे संज्ञी ज्ञान कहते हैं; उत्पन्न होने से, पूर्व जन्म का स्मरण हुआ। उसे ज्ञात हुआ कि मैं देवलोक से च्यवकर मनुष्य भव में आया हूं। जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त होने पर, महाऋद्धि वाले मृगा पुत्र, अपने पूर्व जन्म और उसमें पाले हुए संयम को याद करने लगे।

यद्यपि उपर्युक्त पाठ में केवल शुभ अध्यवसाय शब्द का व्यवहार है परन्तु शुभलेश्या, शुभ परिणाम आदि का व्यवहार नहीं है। अस्तु मृगापुत्र को जब जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ तब शुभ अध्यवसाय के साथ शुभ परिणाम और विशुद्ध लेश्या भी होनी चाहिए तथा तदावरणीय कर्म (नोइन्द्रिय मतिज्ञाना-वरणीय कर्म) का क्षयोपशम भी अवश्य था।

जातिस्मरण तथा विभंग अज्ञानकी उत्पत्ति के समयमें मिथ्यात्वी के भी लेश्या की उत्तरोत्तर विशुद्धि, शुभ परिणाम, शुभ अध्यवसाय तथा तदावरणीय कर्म का क्षयोपशम होना आवश्यक है। सम्यक्त्वी जीव के भी जातिस्मरणादि ज्ञान की उत्पत्ति के समय में शुभ लेश्यादि होते हैं।

जिस प्रकार मिथ्यात्वी मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं उस समय लेश्या शुभ होती है उसी प्रकार जातिस्मरण ज्ञान तथा विभंग ज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्यव ज्ञान तथा केवलज्ञानकी उत्पत्ति के समय में मिथ्यात्वी या सम्यक्त्वी के शुभ लेश्या होती है क्योंकि सिद्धान्त का यह नियम है कि अशुभ लेश्या में चाहे सम्यक्त्वी हो चाहे मिथ्यात्वी हो—जातिस्मरण आदि ज्ञान उत्पन्न नहीं होते हैं।

अस्तु निरवद्य क्रिया (शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम, शुभ लेश्या) के द्वारा ही मिथ्यादृष्टि सद्गति को प्राप्त होता है क्योंकि निरवद्य क्रिया के द्वारा ही पुण्य का बन्ध होता है। प्रशमरति प्रकरण में कहा गया है कि शुभयोग की प्रवृत्ति के बिना पुण्य का बन्ध नहीं होता है।[1]

---

(१) योगः शुद्ध पुण्या· स्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः

—प्रशमरति प्रकरण पृष्ठ २२०

आचार्य भिक्षु ने निर्जरा पदार्थ की ढाल १ में कहा है—

मिथ्याती रे यो जगन होय अग्यांन छें,
उतकष्टा तीन अग्यांन हो ।
देस उणो दस पूर्व उतकष्टो भणे,
इतरो उतकष्टो खयउपसम अग्यांन हो ॥१२॥

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर भाग १, पृष्ठ ४१

अर्थात् मिथ्यात्वी के कम से कम दो और अधिक से अधिक तीन अज्ञान होते हैं । उत्कृष्ट में देश-न्यून दस पूर्व पढ सके, इतना उत्कृष्ट क्षयोपशम अज्ञान उसको होता है । आगे कहा है—

मत ग्यांनावरणी खयउवसम हूआं,
नीपजें मत ग्यांन मत अग्यांन हो ।
सुरत ग्यांनावरणी खयउपसम हूआं,
नीपजें सुरत ग्यांन अग्यांन हो ॥१४॥

भले भणवो आचारांग आदिदे,
समदिष्टी रे चवदें पूर्व ज्ञान हो ।
मिथ्याती उतकष्टो भणे,
देस उणो पूर्व लग जांण हो ॥१५॥

अवधि ग्यांनावरणी खयउपसम हूआं,
समदिष्टी पामें अवध ग्यांन हो ।
मिथ्यादिष्टी नें विभंग नांण उपजें,
खयउपसम परमांण जांण हो ॥१६॥

ग्यांन अग्यांन सागार उपीयोग छें,
दोयां रो एक सभाव हो ।
करम अलगा हुआं नीपजे,
ए खयउपसम उजल भाव हो ॥१८॥

—भिक्षुग्रन्थरत्नाकर भाग १, पृष्ठ ४१

मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम होने से मतिज्ञान और मतिअज्ञान उत्पन्न होते हैं और श्रुतज्ञानावरणीय के क्षयोपशम होने से श्रुतज्ञान और श्रुतअज्ञान। सम्यग्दृष्टि आचारांग आदि चतुर्दश पूर्व का ज्ञानाभ्यास कर सकता है और मिथ्यात्वी देश-न्यून दस पूर्व तक का ज्ञानाभ्यास। अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञान प्राप्त करता है और मिथ्यादृष्टि को क्षयोपशम के परिणामानुसार विभंग अज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान-अज्ञान दोनों साकारोपयोग है और इन दोनों का स्वभाव एक सा है। वे कर्मों के दूर होने से उत्पन्न होते हैं और उज्ज्वल क्षयोपशम भाव हैं।

## ३ : मिथ्यात्वी के क्षयोपशम से विभिन्न गुणों की उपलब्धि

चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम प्राणी मात्र मे होता है अतः मिथ्यात्वी के भी उसका क्षयोपशम होता है। प्रशस्त अध्यवसाय और शुभलेश्या का वर्तन-चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होता है। आचार्य भिक्षु ने नवपदार्थ की चौपइ, निर्जरा पदार्थ की ढाल १ मे—कहा है—

मोहकरम खयउपसम हूआं,
नीपजें आठ बोल अमांम हो।
च्यार चारित नें देश विरत नीपजें,
तीन दिष्टी उजल होव तांम हो ॥२५॥
चारित्र मोह री पचीस प्रकत मभे,
केइ सदा खयउपसम रहें ताय हो।
तिणसूं अंस मात उजलो रहे,
जब भला वरते छे अधवसाय हो ॥२६॥
कदे खयउपसम इधको हुवें,
जब इधका गुण हुवें तिण मांय हो ॥
खिमा दया संतोषादिक गुण वधें,
भले लेस्यादि वरतें जब आय हो ॥२७॥

—भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर भाग १, पृष्ठ ४१

अर्थात् उज्ज्वल मिथ्यादृष्टि की प्राप्ति—मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होती है। चारित्र मोहनीय कर्म की पचीस प्रकृतियों में से कई सदा क्षयोपशम रूप में रहती है, इससे जीव अंशतः उज्ज्वल रहता है और इस उज्ज्वलता से शुभ अध्यवसाय का वर्तन होता है। कभी क्षयोपशम अधिक होता है तब उससे जीव के अधिक गुण उत्पन्न होते हैं। क्षमा, दया, सतोषादि गुणों की वृद्धि होती है और शुभ लेश्याएँ वर्तती हैं।

मिथ्यात्वी के अंतरायकर्म व मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से शुभ ध्यानादि भी होते है। नव पदार्थ की चोपई, ढाल १ मे आचार्य भिक्षु ने कहा है—

भला परिणाम पिण वरते तेहनें, भलाजोग पिण वरते ताय हो।
धर्मध्यान पिण ध्यावे किण समें, ध्यावणी आवें मिटीयां कषाय हो ॥२८
ध्यान परिणांम जोग लेश्या भली, वले भला वरते अधवसाय हो।
सारा वरते अंतराय खयउपसम हुआ, मोहकरम अलगा हुआं ताय हो॥२६

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर भाग १, पृष्ठ ४२

चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से मिथ्यात्वी के शुभपरिणाम तथा शुभ योगोंका वर्तन होता है। कभी-कभी धर्मध्यान भी होता है परन्तु बिना कषाय के दूर हुए पूरा धर्मध्यान नहीं हो सकता। शुभध्यान, शुभपरिणाम, शुभयोग, शुभ लेश्या और शुभअध्यवसाय—ये सब उसी समय वर्तते हैं जब अंतराय कर्म का क्षयोपशम हो जाता है तथा मोह कर्म दूर हो जाता है। मिथ्यादृष्टि में भी कतिपय पदार्थों मे शुद्धश्रद्धान है। नव पदार्थ की चोपई में कहा है—

दरसण मोहणी खयउपसम हुआं,
नीपजें साची सुध सरधांन हो।
तीनूं दिष्ट में सुध सरधान छें,
ते तो खयउपसम भाव निधान हो ॥३४॥
मिथ्यात मोहणी खयउपसम हुआं,
मिथ्यादिष्टी उजली होय हो।
जब केयक पदार्थ सुध सरधलें,
एहवो गुण नीपजें छें सोय हो ॥३५॥

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर भाग १, निर्जरा की ढाल १

अर्थात् दर्शन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से सच्ची एवं शुद्ध श्रद्धा उत्पन्न होती हैं। तीनों दृष्टियों में शुद्ध श्रद्धान हैं। क्षयोपशम भाव ऐसा उत्तम है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से मिथ्यादृष्टि उज्ज्वल होती है, जिससे जीव कई पदार्थों में ठीक ठीक श्रद्धा करने लगता है। मिथ्यात्व मोहनीय के क्षयोपशम से ऐसा गुण उत्पन्न होता है। आचार्य भिक्षु ने मिथ्यादृष्टि ( क्षयोपशम भाव रूप ) को क्षायिक सम्यक्त्व की बानगी—नमूना कहा है।[1]

अस्तु मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से मिथ्यादृष्टि उज्ज्वल होती है। इससे जीव कुछ पदार्थों की सत्य श्रद्धा करने लगता है। क्रोधादिक का रोकना, कलह आदि का निवारण करना —आदि सदनुष्ठान मिथ्यात्वी के भी हो सकते हैं।

तपस्या से जीव संसार का अंत करता है, कर्मों का अंत लाता है। और इसी तपस्या के प्रताप से घोर मिथ्यात्वी जीव भी सिद्ध हो जाते हैं। निर्जरा की अभिलाषा से जब मिथ्यात्वी तप करते हैं तब उनके सकाम निर्जरा होती है। देवानंदसूरि ने कहा है—

सकाम निज्जरा पुण निज्जराहिलासीणं ××× । छव्विह बाहिर ××× छव्विहमब्भतरं च ।

—नवतत्त्वसाहित्यसंग्रह—सप्ततत्त्वप्रकरण अ ६

अर्थात् कर्म क्षयकी अभिलाषा से बारह प्रकार के तपों के करने से जो निर्जरा होती है वह सकाम निर्जरा है। तपस्या से मिथ्यात्वी संसार को संक्षिप्त कर शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

आचार्य भिक्षु ने सकाम निर्जरा साधु-श्रावक, व्रती-अव्रती, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि आदि सभी के स्वीकार की है। तप निरवद्य और लक्ष्य कर्म-क्षय का हो वहाँ सकाम निर्जरा होगी। जहाँ लक्ष्य कर्म क्षय नहीं वहाँ शुद्ध तप भी सकाम

---

१—खयउपसम भाव तीनूं इ दिष्टी छें, ते सगलोइ सुध सरधान हो।
ते खायक समकत सांहिली बांनगी, मातर गुण निधान हो॥
—नव पदार्थ, निर्जरा की ढाल १, गा० ४०

निर्जरा का हेतु नहीं होता। वहाँ अकाम निर्जरा होगी। अकाम निर्जरा भी भगवान् की आज्ञा के अन्तर्गत की क्रिया है। श्री मज्जयाचार्य ने कहा है—

"बिना मन भूख तृषा शीत तावड़ादि खमैं, बिना मन ब्रह्मचर्य पाले ते निर्जरा रा परिणाम बिना तपसादि करे ते पिण अकाम निर्जरा आज्ञा मांहि छे। ×××। निर्जरा रो अर्थी थको न करै तिणसू अकाम निर्जरा छे। एह थकी पिण पुन्य बंधे छै पिण आज्ञा बारला कार्य थी पुन्य बंधे न थी।

—भगवती नी जोड़, खधक अधिकार

अर्थात् मिथ्यात्वी या सम्यक्त्वी यदि बिना मन भूख तृषा, शीत, ताप सहन करता है तथा ब्रह्मचर्य का पालन करता है, निर्जरा के परिणाम के बिना तपस्यादि करता है तो वह अकामनिर्जरा है। उस अकामनिर्जरा से भी पुण्य का बंध होता है क्योंकि वह भी आज्ञा के अंतर्गत की क्रिया है।

भारतीय दर्शन के महान चिंतनकार मुनिश्री नथमलजी ने कहा है— "ऐहिक सुख-सुविधा व कामना के लिए तप तपने वालों को, मिथ्यात्व दशा में तप तपने वालों को परलोकका अनाराधक कहा जाता है वह पूर्ण आराधना की दृष्टि से कहा जाता है। वे अंशतः परलोक के अनाराधक होते हैं। जैसे उनका ऐहिक लक्ष्य और मिथ्यात्व विराधना की कोटि मे आते हैं वैसे उनकी तपस्या विराधनाकी कोटि में नहीं जाती।"

"ऐहिक लक्ष्यमे तपस्या करने की आज्ञा नहीं है इसमें दो बाते हैं—तपस्या का लक्ष्य और तपस्या की करणी। तपस्या करने का सदा आज्ञा है। हिंसा रहित या निरवद्य तपस्या कभी आज्ञा बाह्य धर्म नहीं होता। तपस्या का लक्ष्य जो ऐहिक है उसकी आज्ञा नहीं है—निषेध लक्ष्य का है, तपस्या का नहीं तपस्या का लक्ष्य जब ऐहिक होता है तब वह आज्ञा में नहीं होता—धर्ममय नहीं होता। किंतु 'करणी' आज्ञा बाह्य नहीं होती। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने इस कोटि की करणी को जिन आज्ञा में माना है। यदि वह जिन आज्ञा में नहीं होती तो इसे अकामनिर्जरा नहीं कहा जाता।"

× × ×

"अभव्य आत्म कल्याण के लिए करणी नहीं करता सिर्फ बाह्य दृष्टि-पूजा प्रतिष्ठा; पौद्गलिक गुण की दृष्टि से करता है। क्या ऐसी क्रिया निर्जरा नहीं ? अवश्य अकाम निर्जरा है।

निर्जरा के बिना क्षयोपशमिक भाव यानि आत्मिक उज्ज्वलता होती नहीं। अभव्य के भी आत्मिक उज्ज्वलता होती है। दूसरे निर्जरा के बिना पुण्यबंध नहीं होता। पुण्य बंध निर्जरा के साथ ही होता है—यह ध्रुवसिद्धांत है। अभव्य के निर्जरा धर्म और पुण्यबंध दोनों होते हैं। निर्जरा के कारण वह अंशरूप मे उज्ज्वल रहता है। पुण्यबंध से सद्गति मे जाता है। इहलोक आदि की दृष्टि से की गई तपस्या लक्ष्य की दृष्टि से अशुद्ध हैं किन्तु करणी की दृष्टि से अशुद्ध नहीं हैं।"

कतिपय मिथ्यात्वी भी निदान रहित धर्म क्रिया करते हैं। वे मोक्षाभिलाषी भी होते हैं। जैसे धर्मक्रिया मोक्ष के लिए करना उचित है उसी तरह धर्म क्रिया करने के बाद उसके बदले मे सांसारिक फल की कामना करना भी उचित नहीं। आचार्य भिक्षु ने कहा है—

"करणी करे नीहांणो नहीं करें, ते गया जमारो जीत।
तामली तापस नीहांणो कीधो नहीं, तो इसाण इन्द्र हुवो वदीत।
—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर भाग १

अर्थात् बालतपस्वी तामली तापस ने देवताओं के कथनानुसार निदान नहीं किया ; फलस्वरूप तप से ईशानेन्द्र हुआ। निष्काम तप (आत्मशुद्धि की कामना के अतिरिक्त अन्य किसी कामना से नहीं किया हुआ तप ) कर्मों का क्षय विशेष रूप से करता हैं अतः वह निःश्रेयस् का कारण है। शुभयोग की प्रवृत्ति के कारण कर्मक्षय के साथ साथ पुण्य का भी बंध होता हैं जो सांसारिक अभ्युदय का हेतु होता है। तपसे मिथ्यात्वी पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करता है। कहा है—

तवेणं भंते ! जीवे किं जणयइ। तवेणं वोदाणं जणयइ।
—उत्त० २६।२७

अर्थात् तप से पूर्व बद्ध कर्मों का क्षय होता है। सम्यग्बोध न होने के कारण मिथ्यात्वी को मोक्ष प्राप्ति न होती हो परक्रियापरक होने से स्वाल्प

कर्मांशकी निर्जरा उसके भी होती है।[१] मिथ्यादृष्टि—चरक, परिव्राजक आदि हमारा कर्मक्षय हो ऐसी बुद्धि से तपश्चरणादि अज्ञान कष्ट करते हैं उनके सकाम निर्जरा सम्भव है। सकाम निर्जरा का हेतु बाह्य-आभ्यंतर—द्विविध तप है।

जब देवताओं ने बाल तपस्वी तामली तापस को चमरेन्द्र बनने के लिए निदान करने की प्रार्थना की, तब बाल तपस्वी तामली तापसने निदान नहीं करने का चिंतन किया। आचार्य भिक्षु ने कहा है—

मू'न साझ रह्यो पिण बोल्यो नहीं,
नीहाणो पिण न कियो कोय।
वले मन में विचार इसड़ो कीयो,
करणी वेच्यां आछो नहीं होय।
जो तपस्या करणी म्हारे अल्प छें,
घणो चितव्यां हुवे नहीं कोय।
जो तपसा करणी म्हारे अति घणी,
थोड़्यो चितव्यो सताव सूं होय।
जेहवी करणी तेहवा फल लागसी,
विण करणी तो बांझ न होय।
तो निहाणो करूं किण कारणे,
आछो कियां निश्चें आछो होय॥
× × ×
जिन मत मांहे पिण इम कह्यो,
नीहाणों करे तप खोय।
ते तो नरक तणों हुवें पावणों,
वले चिहूँ गति मांह दुखियो होय॥

—भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर, भाग १

१—सेन प्रश्नोत्तर, ४ उल्लास

अर्थात् देवों के द्वारा निदान सम्बन्धी वचनों को सुनकर बालतपस्वी तामली तापस मौन रहा। उसने सोचा कि निदान करना मुझे उचित नहीं है। करणी निष्फल नहीं जा सकती। निदान से तपको खोकर नरक गति मे जाता हैं, चारों गतियों में दुःख को प्राप्त होता है। अतः बालतपस्वी तामली तापस ने निदान नहीं किया। कोटि भवों के संचित कर्म निदान रहित तप द्वारा क्षीण होकर झड़ जाते हैं।[1]

आचार्य भिक्षु ने मिथ्याती री करणी री चोपई मे ढाल २ मे कहा है—

तामली तापस तप कीधों घणों रे,
साठ सहंस वरसां लग जांण रे।
बेले बेले निरंतर पारणों रे,
वैराग भावे सुमता आण रे ॥२८॥
तिण संथारों कीयों भलां परिणाम सू रे,
जब देव देवी आया तिण पास रे ॥३०॥ पूर्वार्ध
म्हे चमरचंचा राजध्यानी तणां रे,
देवदेवी हूआं म्हे सर्व अनाथ रे।
इन्द्र हूंतों ते म्हारो चव गायो रे,
थे नीहाणों कर हुवों म्हांरा नाथ रे ॥३१॥
इम कहे ने देवदेवी चलता रह्या रे,
पिण तामली न कीयो नीहाणों ताय रे।
तिण कर्म निरजरिया मिथ्याती थकां रे,
ते इसांण इन्द्र हुवों छे जाय रे ॥३२॥
ते देव चवी नें होसी मानवी रे,
महाविदेह खेतर मझार रे।
ते साध थइ नें सिवपुर जावसी रे
ससारनी आवागमन निवार रे ॥३३॥
इणकरणी कीधीं छे मिथ्याती थकें रे,
तिणकरणी सू घटीयो छे संसार रे।

१—भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ। —उत्त० ३०।६

इन्द्र हुवों छें तिणकरणी थकी रे,

इणकरणी सूं हुवों एका अवतार रे ॥३४॥

—भिक्षुग्रंथ रत्नाकर भाग १, पृष्ठ २६१

अर्थात् तामली तापस ने मिथ्यात्व अवस्था में ६० हजार वर्ष तक बेले-बेले की तपस्या की। अततः वैराग्य भाव से समतारस मे रमण करते हुए संथारा पच्चक्खा। तब उसको विचलित करने के लिए चमरचंचा राजधानी से देव-देवी आये। सोलह प्रकार के नाटक दिखलाये और कहा कि हमारे इन्द्र का च्यवन—उद्‌वर्तन हो गया है, हम अनाथ हो गये हैं आप निदान कीजिये जिससे हमारे इन्द्र हों। ऐसा कहकर देव-देवी चले गये। किंतु तामली तापस ने निदान नहीं किया। मिथ्यात्वी अवस्था मे बहुत से कर्मो की निर्जरा की ; फलस्वरूप ईशानेन्द्र हुआ। वहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र मे मनुष्य होगा, साधुत्व को अंगीकार कर सिद्ध-बुद्ध मुक्त होगा।

निष्कर्ष यह निकला की तामली तापस के भव मे मिथ्याती अवस्था मे सद्-क्रियाओं से ससार को घटाया, फलस्वरूप ईशानेन्द्र हुआ—एकाभवतारी हुआ।

यद्यपि मिथ्यात्वी तेजो-पद्म-शुक्ललेश्या मे तिर्यंच आयुष्य का भी बंधन करते हैं, देवायु तथा मनुष्य आयुष्य का भी। वह तिर्यंच आयुष्य पुण्य रूप प्रकृति विशेष है। कहा है—

तेउलेस्सा णं भंते ! जीवा अकिरियावाई किं णेरइयाउयं—पुच्छा। गोयमा ! णो णेरइयाउय पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, तिरिक्ख-जोणियाउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति। एवं अण्णाणियवाई वि, वेणइयवाई वि। जहा तेउलेस्सा एवं पम्हलेस्सा वि सुक्कलेस्सा वि णायव्वा।

—भगवतीसूत्र श ३० । उ १ । प्र १६

अर्थात् तेजोलेशी अक्रियावादी, विनयवादी, अज्ञानवादी ( जो नियमतः मिथ्यादृष्टि होते हैं) तिर्यंच-मनुष्य-देवायु का बंधन करते हैं। इसी प्रकार तिर्यंच मे—संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय मे उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार पद्मलेशी-शुक्ललेशी जीव के संबंध में जानना चाहिये। अस्तु मिथ्यात्वी शुभ लेश्या में नरकगति को बाद देकर अवशेष तीन गति के आयुष्य का बंधन करती है।

कहीं कहीं संज्ञी तिर्यंच पचेंद्रिय ( स्थलचर अथवा नभचर ) युगलियों का आयुष्य भी शुभ माना गया है। जलचर, उरपरिसर्प तथा भुजपरिसर्प सज्ञी पंचेन्द्रिय युगलिये नहीं होते हैं। तिर्यञ्च का युगलिये का आयुष्य भी मिथ्यात्वी बांधते है—कहा है—

तस्यापि युगलिकतिर्यगपेक्षया प्रधानत्वं, पुण्यप्रकृतित्वात् ।

—नवतत्त्वप्रकरणम् ६।१६ —वृत्ति

अर्थात् तिर्यञ्चों मे युगलिक तिर्यंच भी आते हैं ; उनका आयुष्य शुभ है। उनकी अपेक्षा से तिर्यञ्चायुष्य को शुभ कहा है। आचार्य भिक्षु ने नवपदार्थ की चौपई, पुण्य पदार्थ की ढाल १, गाथा ७ मे कहा है—

केइ देवता नें केइ मिनख रो, सुभ आउखो पुन ताय हो लाल ।
जुगलीया तिर्यंच रो आउखो, दीसे छै पुन रं मांय हो लाल —

--भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर पृष्ठ ११७

अर्थात् कई देवता, कई मनुष्यों के शुभ आयुष्य होता है जो पुण्य को प्रकृति है। तिर्यञ्च युगलियो का आयुष्य भी पुण्य रूप मालूम होता है। पुण्य रूप आयुष्य का बंधन मिथ्यात्वी सद्क्रियाओं के द्वारा करते हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रिय मिथ्यात्वी भी सद्क्रियाओं से शुभायु बांधते हैं।

इस अनादि ससारचक्र मे आत्मा ने अनेक बार जन्म-मरण किये। किन्तु अपने स्वरूप को भूलकर परगुणों मे रत होने से यह जीव दु.खों का ही अनुभव करता रहा। श्रुत, श्रद्धा और संयम से पराङ्मुख होकर पुद्गल द्रव्यों को अपनाता हुआ मनुष्य अपने गुणों को भूल गया। इसी से अज्ञान वश होकर वह शारीरिक और मानसिक दुःखों का अनुभव कर रहा है। उन दुःखों से छुटकारा पाने के लिये सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र की आराधना एकमात्र उपाय है। जैसे पुष्पों की प्रतिष्ठा सुगध से होती है वैसे आत्म-द्रव्य की पूजा प्रतिष्ठा रत्नत्रय से होती है। अतः मिथ्यात्वी रत्नत्रयी की आराधना का अभ्यास करे।

जैसे धागे मे पिरोई गई सुई गुम हो जाने पर भी मिल जाती है वैसे ही ज्ञानी व्यक्ति का मन इधर-उधर चला जाता है तो वह फिर मोड़ ले लेता है। कहा है—

जहा सूई ससुत्ता, पडिया ण विणस्सइ
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे ण विणस्सई ॥

—उत्तराध्ययन अ २६। सू ५९

अर्थात् जिस प्रकार डोरे सहित सूई कूड़े कचरे में गिर जाने पर भी गुम नहीं होती वैसे ही श्रुतज्ञानी जीव संसार में नहीं भटकता है। मिथ्यात्वी के श्रुत अज्ञान होता ही है। अतः वह श्रुत का अभ्यास करे। दृष्टि को निर्मल बनाने का प्रयास करे।

मिथ्यात्व का निरोध सम्यक्त्व से होता है। मिथ्या श्रद्धान जीव करता है, अजीव नहीं कर सकता। मिथ्याश्रद्धा जीव का भाव परिणाम है। मिथ्यात्वी के भी पुण्य का आगमन निरवद्य योग से होता है। आचार्य भिक्षु ने नवपदार्थ की ढाल में कहा है—

पुन निरवद जोगां सूं लागे छें आय,
ते करणी निरजरा री छें ताय।
पुन सहजां लागे छें आय,
तिण सूं जोग छे आस्रव मांय।

—आश्रव पदार्थ की ढाल १, ५८

अर्थात् पुण्य का आगमन निरवद्य योग से होता है। निरवद्य करनी निर्जरा की हेतु है। पुण्य तो सहज ही आकर लगते हैं इसलिए योग को आश्रव में डाला है। मिथ्यादर्शन की विजय से जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना मे तत्पर होता है। कहा है—

पिज्ज-दोस-मिच्छादंसण-विजएणं णाण-दंसण-चरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ।

—उत्तराध्ययन अ २६। सू ७१

अर्थात् राग-द्वेष मिथ्यादर्शन के विजय से जीव सबसे पहले ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है। अतः मिथ्यात्वी सद्क्रियाओं के द्वारा अनंतानुबंधीय चतुष्क से निवृत्त होकर—मिथ्यादर्शन से

---

१—तेरहद्वार मे दृष्टान्तद्वार

छुटकारा पाने की प्रचेष्टा करता रहे। सद्क्रिया से ग्रन्थिका भेदन अवश्य होगा।

धर्म कथा से मिथ्यात्वी शुभ कर्म का बंध करता है तथा धर्मकथा से निर्जरा होने का भी उल्लेख है। आचार्य भिक्षु ने मिथ्याती री करणी री चोपई ढाल १ तथा ढाल २ में कहा है—

निरवद करणी करे समदिष्टी, तेहीज करणी करे मिथ्याती तांय।
यां दोयां रा फल आछा लागें, ते सूतर में जोवों ठांम ठांम ॥३६॥
पेंहले गुणठाणे करणी करें, तिणरे हुवे छें निरजरा धर्म।
जो घणों घणों निरवद प्राक्रम करें, तो घणा घणा कटे छे कर्म दो०३॥

—भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर खं० १, पृ० २५८, २५६

उपर्युक्त उद्गारों से स्पष्ट है कि आचार्य भिक्षु ने मिथ्यात्वी के लिए भी निरवद्य करनी का फल अच्छा बतलाया है और सम्यक्त्वी के लिये भी। मिथ्यात्वी गुणस्थान में स्थित व्यक्ति के भी निरवद्य करणी में निर्जरा धर्म होता है। यह निर्जरा धर्म—मिथ्यात्वी के मोहनीय कर्म के क्षयोपशम तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से होता है। स्वामी कार्त्तिकेय ने कहा है—

वारसविहेण तवसा, णियाण रहियस्स णिज्जराहोदि।
वेरग्गभावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स ॥

द्वादशानुप्रेक्षा, निर्जरा अनुप्रेक्षा गा १०२

अर्थात् निदान रहित, अहंकार शून्य ज्ञानी के बारह प्रकार के तप से तथा वैराग्य भावना से निर्जरा होती है यत्किंचित् बारह प्रकार का तप तथा वैराग्य भावना मिथ्यात्वियों में देखी जाती है। मिथ्यात्वीका निरवद्य पराक्रम जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे उसे अधिक निर्जरा होती है। मिथ्यात्वी के शुभयोग होता है वह भी निरवद्य करनी से कर्मों को चकचूर करता है।[1] आचार्य भिक्षु ने मिथ्याती री करणी री चोपई में कहा है—

---

१—मिथ्याती रे पिण सुभ जोग जाण हो। —आचार्य भिक्षु
ते पिण कर्म करे चकचूर रे ,,

सीलें आचार करें सहीत छें रे, पिण सूतरनें समकततिणरें नांहि रे।
तिणनें आराधक कह्यो देशथी रे, विचार कर जोवो हीया मांहि रे ॥२४॥
देश थकी तो आराधक कह्यो रे, पेंहलें गुणठांणे ते किणन्याय रे।
विरत नहीं छें तिणरें सर्वथा रे, निर्जरा लेखें कह्यो जिणराय रे ॥२५॥

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर खण्ड १, पृष्ठ २६०, २६१

अर्थात् शीलसम्पन्न, पर श्रुत और सम्यक्त्वरहित मिथ्यात्वी को मोक्षमार्ग का देश आराधक कहा है। यद्यपि सम्यग् ज्ञानरहित होने के कारण मिथ्यात्वी व्रत नहीं होता—परन्तु वह शीलसम्पन्न ( पापों से विरत होना ) होता है तो उसके निर्जरा धर्म होता है। इस अपेक्षा से उसे मोक्षमार्ग का देश आराधक कहा है। मिथ्यात्वी वैराग्यपूर्वक शील का पालन कर सकता है, वैराग्यपूर्वक तपस्या कर सकता है, वैराग्यपूर्वक वनस्पति का त्याग कर सकता है—इस तरह वह क्षयोपशम विशेष से वैराग्यपूर्वक अनेक निरवद्य कार्य कर सकता है।[1] मिथ्यात्वी के जैसे वैराग्य सम्भव है वैसे ही उसके शुभलेश्या, शुभपरिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय आदि हो सकते हैं। कतिपय मिथ्यात्वी धर्म को सुने बिना निरवद्य क्रिया करते करते सम्यक्त्व तथा चारित्र की प्राप्ति कर, केवली बन जाते हैं। यदि उनके मिथ्यात्व दशा में निर्जरा नहीं होती तो केवली कैसे बनते। आचार्य भिक्षु ने मिथ्याती री करणी री चोपई में ढाल नं० २ में कहा है :—

असोच्चा केवली हुआ इण रीत सूं रे,
मिथ्याती थकां तिण करणी कीध रे।
कर्म पतला पड्या मिथ्याती थकां रे,
तिण सूं अनुक्रमें सिवपुर लीध रे ॥४७॥
जो मिथ्यात्वी थकों तपसा करतों नहीं रे,
मिथ्यात्वी थकों नहीं लेतो आताप रे।
क्रोधादि नहीं पाड़तो पातला रे,
तो किणविध कटता इण रा पाप रे ॥४८॥

---

१—भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर खण्ड १, मिथ्याती री करणी चोपई।

—ढाल १, गा २६।३०

जो लेश्या परिणाम भला हुंता नहीं रे,
तो किणविध पामत विभग अनांण रे।
इत्यादिक कीर्यां सूं हुवो समकती रे,
अनुक्रमें पोहंतो छें निरवांण रे ॥४६॥
पेंहलें गुणठांण मिथ्याती थकां रे,
निरवद करणी कीधी छें तांम रें।
तिण करणी थी नींव लागी छें मुगतरी रे,
ते करणी चोखी ने सुध परिणांम रे ॥५०॥

भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर खण्ड १ पृ० २६२

भगवती सूत्र मे ( शतक ८ उ १० ) मे कहा है—बालतपस्वी 'देसाराहए' देशाराधक होता है। सम्यग् ज्ञान-सम्यग् दर्शन के न होने से स्वल्प कर्मांश की निर्जरा उसके भी होती है।

मिथ्यात्वी संयतियों के निकट बैठे, धर्म सुने, धर्म पर श्रद्धा रखने का अभ्यास करे। यदि मिथ्यात्वी संयतियों—साधुओं को देखकर वंदन-नमस्कार करता है तो वह नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है और उच्च गोत्र कर्म को बांधता है। भद्रनन्दी ने अपने पूर्व भव में—विजयकुमार के भव मे मिथ्यात्व अवस्था मे युगबाहु तीर्थंकर को वंदन-नमस्कार किया। बड़ी विशुद्ध भावना से उन्हें आहार दिया फलस्वरूप उसने उच्च गोत्र कर्म का बंधन किया, नीच गोत्र कर्म का क्षय किया तथा संसार परीत्त कर मनुष्य की आयुष्य बांधी। वहाँ की भवस्थिति पूरी करने के बाद उस सुपात्र दान के प्रभाव से वह ऋषभपुर नगर मे धनावाह राजा की सरस्वती रानी की कुक्षी से उत्पन्न हुआ। भद्रनन्दी नाम रखा गया। कालान्तर मे उसने भगवान् महावीर से पंचाणुव्रतिक गृहस्थ धर्म भी स्वीकार किया। तत्पश्चात् भगवान् के निकट दीक्षा भी ग्रहण की। गृहीत संयमव्रत

---

१—भद्रनन्दी कुमारे XXX पुव्वभवपुच्छा। महाविदेहे वासे पुण्डरीगिणी णयरी। विजयकुमारे। जुगबाहू तित्थंगरे पडिलाभिते। मणुस्साउए बद्धे इह उप्पन्ने।

विवागसूयं श्रु २ अ २। सु० १

की सम्यग् आराधना से आत्मशुद्धि द्वारा आत्मिक विकास को भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार मिथ्यात्वी सद्‌क्रियाओं से आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं। आचार्य भिक्षु ने कहा है—

सुलभ थी सुमुख नामें गाथापति रे,
तिण प्रतिलाभ्या सुदत्त नामें अणगार रे।
तिण परत संसार कीधो तिण दांन थी रे,
विपाक सूतर में छें विस्तार रे।
ए निरवद करणी में छें जिण आगना रे ॥२॥[1]
समुख गाथापति ज्यूं दसां जणां रे,
त्यां पिण प्रतिलाभ्या अणगार रे।
त्यां परत संसार कीयां सगला जणां रे,
विपाक में जूवों जूवों विस्तार रे ॥३॥
जब देवता बजाई थी देव दुन्दुभी रे,
तिण दांन रा कीयां घणां गुणग्राम रे,
थे मिनष जन्म तणों लाहो लीयो रे,
जस कीरत कीधी छें तिण ठांम रे ॥४॥

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर, ( खण्ड १)
मिथ्याती री निर्णय री ढाल २ गा० २, ३, ४

अर्थात् सुमुख गाथापति, विजय कुमार, ऋषभदत्त गाथापति, धनपाल राजा मेघरथ राजा, धनपति राजा, नागदत्त गाथापति, धर्मघोष गाथापति, जितशत्रु राजा तथा विमलवाहन राजा ने ( मिथ्यात्व अवस्था में ) अणगार को देखकर वन्दन-नमस्कार किया तथा सुपात्र दान दिया फलस्वरूप संसार परीत कर मनुष्य की आयुष्य बाँधी।[2]

मिथ्यात्वी अपने दोषों की निन्दा करने का प्रयास करे, कमजोरियों को दूर करे। पश्चात्ताप करने से वैराग्य उत्पन्न होता है आत्मगर्हा से अपुरस्कार भाव ( गर्व भंग ) की उत्पत्ति होती है और आत्म-नम्रता प्राप्त होती है।

---

१ यह आंकड़ी प्रत्येक गाथा के अन्त में है।
२—विवागसूयं श्रु २। अ १ से १०

यद्यपि सम्यग्दर्शन के उपगूहन, स्थिति, करण, वात्सल्य और प्रभावना—ये सम्यग्दर्शन के चार गुण पूर्वाचार्यों ने कहे हैं।[1] अतः किंचित् देशाराधक मिथ्यात्वी में भी उपर्युक्त गुण मिलते हैं। लोकव्यवहारज्ञ और धार्मिक जन तप और तपस्वियों का बड़ा आदर करते हैं, मैं मासक्षमण आदि कठिन तप करता हूँ तो भी ये लोग मेरा आदर नहीं करते है—इस विचारधारा को मिथ्यात्वी छोड़े; प्रत्युत अकाम निर्जरा की जगह सकाम निर्जरा होगी। जैसे दुष्टपुरुष में कृतज्ञता गुण पाना दुर्लभ है वैसे ही मिथ्यात्वी को बोधि की प्राप्ति होना कठिन है। मिथ्यात्वी तपस्या से पूर्वकाल मे बंधे हुए कर्मों की निर्जरा कर डालते हैं। सद्गुरु की अवज्ञा करना, निंदा करना, उनका आदर न करना, उनके विरुद्ध चलना—ये सब कुचेष्टायें मिथ्यात्वी को छोड़ देनी चाहिए। आध्यात्मिक विकास मे सहयोगी गुणों का मिथ्यात्वी अवलंबन लें। विनय से ऋजुगुण—सरलता प्रगट होती हैं; विनय लाघव गुण का मूल है। जो विनय नहीं करता है, लोक उसकी निर्भत्सना करते हैं अतः अविनयी मनुष्य हमेशा दुःखी रहता है। विनयी की कोई भी निंदा—निर्भर्त्सना नहीं करता है, अतः वह सुखी है। मिथ्यात्वी विनय गुणों को प्रधानता दे। धर्म के आचरण से मिथ्यात्वी शांति प्राप्त कर सकते हैं। मिथ्यात्वी उत्तरोत्तर शुभ परिणाम से कर्म रूपी वृक्ष को रस हीन बनाकर उसको धाराशाही कर देता है फलस्वरूप सम्यग्दर्शन सम्मुख हो जाता है। स्वाध्याय से कर्मों का क्षय होता है।[2]

आचार्य भिक्षु ने मिथ्याती री करणी री चौपई मे कहा है—

पेंहलें गुणठाणे दान सांधानें देइ
परत संसार कीधों छे जीव अनंत।

---

(१) उपगूहणादिया पुव्वुत्ता तह भत्तियादिया य गुणा।
सकादिवज्जणं पि य णेओ सम्मत्तविणओ सो॥

मूलाराधना २।१०४

(२) कम्ममसंखेज्जभवं खवइ अणुसमयेव उवउत्तो।
अन्नयरम्मि वि जोए सज्झायम्मि य विसेसणं॥

—उत्त० २६।१८ की नेमीचन्द्रीय टीका में उद्धृत

तिण दान रा गुण देवता भी कीधां,
ठांम ठांम सूतर में कह्यो भगवंत ॥२४॥

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर पृष्ठ २५७

अर्थात् प्रथम गुणस्थान में स्थित जीव—मिथ्यात्वी साधुओं को सुपात्र दान देकर अनन्त जीवों ने संसार अपरीत से संसार परीत किया है। उस सुपात्र दान की प्रशंसा-देवों ने भी की है-ऐसा भगवान ने स्थान-स्थान पर सूत्रों में कहा है।

निरवद्य क्रिया के द्वारा मिथ्यात्वी कर्मों का चकनाचूर कर देता है। जो मिथ्यात्वी की निरवद्य क्रिया अशुद्ध कहता है उसकी सम्यग् श्रद्धा नहीं है। प्रश्न उठता है कि मिथ्यात्वी को जीव, अजीव आदि नव तत्त्वों, धर्मास्तिकाय आदि षट् द्रव्यों की सम्यग् जानकारी नहीं होती है अतः उसके सम्यग्दर्शन भी नहीं होता—इसलिए वह जो कुछ शुद्ध क्रिया-उपवासादि करेगा—वह भौतिक सुखों को पारलौकिक सुखों की इच्छा से करेगा। अतः उस क्रिया का फल कुछ नहीं होता है। इसका स्पष्टीकरण युगप्रधान आचार्य तुलसी ने इस प्रकार किया है—

"लक्ष्य की गलती से करणी गलत हो नहीं सकती, यदि वह निरवद्य है। हाँ, लक्ष्य के गलत होने से उतना लाभ नहीं होता है, जितना होना चाहिए। लेकिन करणी का विराधना में चला जाना सम्भव नहीं। इस तरह करणी विराधना में चली जाय तो फिर मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी हो ही कैसे?"

—११ जून १९५३ जैनभारती

कतिपय मिथ्यात्वी शुद्ध लक्ष्य से भी क्रिया करते हैं अतः उनके सकाम निर्जरा भी होती है। इस प्रकार क्षयोपशम से मिथ्यात्वी को विविध गुणों की उपलब्धि होती है।

—•○—

## सप्तम अध्याय

### १ : मिथ्यात्वी के संवर नहीं होता

मिथ्यात्वी के संवर व्रत न होने के कारण उसके प्रत्याख्यान—दुष्प्रत्याख्यान कहे हैं। इसी दृष्टिकोण को लेकर उत्तराध्ययन मे कहा है—

मासे मासे तु जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स अग्घइ सोलसिं ॥

—उत्त० अ ६। गा ४४

अर्थात् यदि मिथ्यात्वी महीने महीने की तपस्या करता रहे तथा पारण के दिन सूची की नोक के बराबर अन्नका पारण करे तब भी सम्यक्त्वी के चारित्र धर्म-संवरधर्म की सोलहवीं कला समान नहीं है। कला सोलह ही होती है अतः सोलहवीं कला का कथन किया गया है। अस्तु सोलहवीं कला का कथन रूप है—संवरधर्म के शतांश, सहस्रांश, लक्षांश यावत् असंख्यातवें भाग की भी प्राप्ति नहीं होती[1] परन्तु निर्जरा धर्म की अपेक्षा उसकी तप रूप क्रिया सावद्य नहीं हो सकती। मिथ्यात्वी की शुद्ध क्रिया—निर्जराधर्म को जो वीतराग देव की आज्ञा के बाहर कहता है उसे मिथ्यात्वी जानना चाहिए।

उववाई प्र० २० व सूयगडांग श्रु० २ अ २ मे तीन प्रकार के पक्ष कहे गये हैं—धर्मपक्ष, अधर्मपक्ष तथा धर्माधर्मपक्ष। धर्मपक्षमे सर्वव्रती-श्रमणनिग्रंन्थों को ग्रहण किया गया है अतः धर्मपक्ष मे छट्ठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के श्रमण निग्रंन्थों का समावेश हो जाता है। धर्माधर्मपक्षमे पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों के जितने जितने त्याग प्रत्याख्यान है उनकी अपेक्षा से धर्मपक्ष मे व शेष अव्रत की अपेक्षा से अधर्म पक्ष समझना चाहिए। अतः पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों का समावेश धर्माधर्म पक्ष मे हो जाता है। प्रथम चार गुणस्थानवर्ती जीवों का समावेश अधर्म पक्ष मे हो जाता है क्योंकि उनमे से किसी भी गुणस्थान मे संवर व्रत की प्राप्ति नहीं होती है।

---

१—भ्रमविध्वसनम् १।७

अस्तु, मिथ्यात्वी का गुणस्थान प्रथम है अतः मिथ्यात्वी के संवर नहीं होता है।[1] कहा है—

जस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्व सत्तेहिं पच्चक्खायमिति वयमाणस्स णो एवं अभिसमण्णागयं भवइ-इमे जीवा, इमे अजीवा, इमे तसा, इमे थावरा, तस्स ण सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं पच्चक्खायमिति वयमाणस्स णो सुपच्चक्खायं भवइ, दुपच्चक्खायं भवइ।

—भगवती श ७। उ २। सू० २८

अर्थात् जो पुरुष जीव, अजीव, त्रस और स्थावर को नहीं जानता है वह यदि सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्वों की हिंसा का प्रत्याख्यान करता है तो उस पुरुष का प्रत्याख्यान-सुप्रत्याख्यान नहीं होता, किन्तु दुष्प्रत्याख्यान है।

यहाँ संवर धर्म की अपेक्षा से मिथ्यात्वी के प्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान कहे हैं। वह मिथ्यात्वी संवर धर्म की अपेक्षा तीनकरण तथा तीनयोग से असंयत, अविरत, पापकर्म का अत्यागी एवं अप्रत्याख्यानी, सक्रिय, संवररहित, एकांतदंड और एकांत अज्ञानी है। सिद्धान्त का नियम है कि प्रथम चार गुणस्थान में संवरव्रत की प्राप्ति नहीं होती है। आचार्य भिक्षु ने मिथ्याती री निर्णयरी ढाल के दोहे मे[2] कहा है—

जीव अजीव जाणें नहीं तेहनें, पेंहलें गुणठाणे कह्यो जिणराय।
त्यांरा पचखांण कह्या, तिणरों मूढ न जाणे न्याय॥ १॥
पेंहलें गुणठांणे विरत न नीपजें, तिण लेखें कह्या दुपचखांण।
पिण निर्जरा लेखें पचखांण निरमला, उत्तम करणी बखांण॥२॥
पेंहलें गुणठांणे करणी करें, तिणरे हुवें छें निरजरा धर्म।
जो घणों घणों निरवद्य प्राक्रम करे, तो घणा घणा कटे छें कर्म॥३॥
पेंहलें गुणठाणे दांन दया थकी, कीयों छें परत संसार॥४॥

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर पृष्ठ २५६

(१) दशवै० अ ४, गा १२

(२) भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर खंड १, पृष्ठ २५६

अर्थात् प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव-जीव-अजीव नही जानने के कारण उसके प्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान कहे हैं। प्रथम गुणस्थान मे व्रत नहीं उत्पन्न होने के कारण उसके प्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान कहें हैं। परन्तु निर्जरा धर्म की अपेक्षा उसके प्रत्याख्यान निर्मल हैं, उत्तम करणी है। शुद्ध करणी करने से मिथ्यात्वी के निर्जरा धर्म होता है। वह जैसे-जैसे निरवद्य पराक्रम अधिक करता है वैसे-वैसे उसके निर्जरा अधिक होती है। मिथ्यात्वी दान, दया से संसार अपरीत्त से संसारपरीत होकर मनुष्य किंवा देवायुष्य का बंधन किया है। संवर रहित निर्जरा धर्म नही है, इसमे कोई भी तथ्य नही है। ज्ञान रहित होने के कारण मिथ्यात्वी के संवर व्रत भले हो न हो परन्तु उसका शुद्धपराक्रम—निर्जरा का हेतु अवश्य बनता है क्योंकि तप को मोक्ष का मार्ग और धर्म का विशेषण बतलाया गया है। उसके व्रत—संवर नही होता। आचार्य भिक्षु ने कहा है—

देश थकी तो आराधक कह्यो रे, पेंहलं गुणठांणे ते किण न्याय रे।
विरत नहीं छं तिणरें सर्वथा रे, निर्जरा लेखे कह्यो जिणराय ॥२५॥

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर खण्ड १, मिथ्याती री करणी री चौपई, ढाल १

अर्थात् मिथ्यात्वी के सर्वथा प्रकार व्रत का संवर नहीं होता है परन्तु निर्जरा की अपेक्षा से देशाराधक कहा है। मिथ्यात्वी निरवद्य क्रिया के द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त किया है। सम्यक्त्व के प्राप्त होने से यदि कोई प्रत्याख्यान करे तो उसके सुप्रत्याख्यान हैं, दुष्प्रत्याख्यान नहीं। अतः मिथ्यात्वी-मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यक्त्व प्राप्त करने का अभ्यास करे।

मिथ्यात्वी के सम्यग्ज्ञान नहीं होता है सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति होने से संवर-चारित्र गुण प्रगट हो सकता है। कहा है :—

णत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
णादंसणिस्स णाणं, णाणेण विणा ण हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, णत्थि अमोक्खस्स णिव्वाणं।

—उत्त॰ अ २८। गा २९ पूर्वार्ध,३०

अर्थात् सम्यक्त्व के बिना चारित्र नहीं होता और सम्यक्त्व होने पर चारित्र की भजना है। सम्यग्दर्शन रहित पुरुष के सम्यग्ज्ञान नही होता, सम्यग्ज्ञान

के बिना चारित्र गुण-संवर रूप गुण प्रगट नहीं होते। अतः सिद्ध हो जाता है कि मिथ्यात्वी के सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन नहीं है अतः उसके संवर धर्म की अपेक्षा प्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान कहे गये हैं। निर्जरा धर्म की अपेक्षा उसके प्रत्याख्यान —शुद्ध हैं, जिनाज्ञा में हैं। श्री मज्जयाचार्य ने कहा है—

"मिथ्यात्वी नो मास मास क्षमण तप सम्यग्दृष्टि ना चारित्र धर्म ने सोलमी कला न आवे एहवं कह्यो छै। ते चारित्र धर्म तो संवर छै तेहनें सोलमी कलां इ न आवे कह्यो। ते सोलमी कला इज नाम लेइ बतायो। पिण हजार में इ भाग न आवे। तेहने संवर धर्म इज न थी। पिण निर्जरा धर्म आश्रय कह्यो न थी। ××× पिण एतो संवर चारित्र धर्म आश्रय कह्यो छै। ते चारित्र धर्म रे कोड में ही भाग न आवे। पिण सोलमा रो इज नाम लेइ बतायो।"

—भ्रमविध्वंसनम् अधि १।६। पृ० १६

अर्थात् मिथ्यात्वी के संवर धर्म नहीं होता है परन्तु निर्जरा धर्म होता है। जिस प्रकार अव्रती सम्यग् दृष्टि ज्ञान सहित होने पर भी चारित्र के अभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है उसी प्रकार मिथ्यात्वी के सम्यग् श्रद्धा न होने से मोक्ष नहीं है परन्तु मोक्ष मार्ग का निषेध नहीं है क्योंकि मोक्ष मार्ग की आराधना के वे भी अधिकारी हैं। कहा है —

"पचखाण नाम संवर नो छै। मिथ्याती के संवर नहीं। ते भणी तेहना पचक्खाण दुपचखांण छै। पिण निर्जरा तो शुद्ध छै। ते निर्जरा रे लेखे निर्मल पचखाण छै। मिथ्यात्वी शीलादिक आदरे, ते पिण निर्जरा रे लेखे निर्मल पचखाण छै। तेहना शीलादिक आज्ञा मांही जाणवा।"

—भ्रमविध्वंसनम् १।९ पृष्ठ १९

अर्थात् जो जीव, अजीव, त्रस, स्थावर को नहीं जानता और कहता है कि हमें सर्व जीव के हनन करने का प्रत्याख्यान है। जीव जाने बिना मिथ्यात्वी किसको न हने, किसके त्याग पाले। इस न्याय से मिथ्यात्वी के दुष्प्रत्याख्यान

कहे हैं ।[1] यदि मिथ्यात्वी शीलादिक व्रत को ग्रहण करता है तो निर्जरा की अपेक्षा उसके निर्मल प्रत्याख्यान हैं ।

आचार्य भिक्षु ने जिनग्या री चौपई, ढाल १ में कहा है :—

ग्यांन दर्शण चारित्तनें तप, एतो मोख रा मारग च्यार रे ।
यां च्यारां में जिणजी री आगना, यां बिना नहीं धर्म लिगार रे ॥२॥
श्री जिण धर्म जिन आगना मभे रे ॥

भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर (खण्ड १) पृ० २९५

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप —ये मोक्ष के चार मार्ग है । इनके सिवाय धर्म नहीं हैं । यहाँ दर्शन का अर्थ सम्यक्त्व है । चारित्र रूप संवर मिथ्यात्वी के नही होता है, तप की आराधना—मिथ्यात्वी कर सकते हैं । मिथ्यात्वी के संसर्ग से उनका ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है अतः सम्यग्ज्ञान नही है । अस्तु सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन के न होने के कारण मिथ्यात्वी के संवर हो नही सकता है । आगे कहा है —

मिथ्यात छोड़ं समकत आदरयों रे,
अबोध छोड़ं ने आदरीयों बोध रे ।
उनमारग छोड़ं सनमारग लीयों,
तिण सूं आतम होसी सोध रे ॥४१॥

—भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर (खड १) पृ० २९८

अर्थात् जब मिथ्यात्वी, मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व को ग्रहण करता है, अबोध को छोड़कर बोध को प्राप्त होता है तथा कुमार्ग को छोड़कर सन्मार्ग को पकड़ता है उससे उसके आत्मविशुद्धि होती है । जब मिथ्यात्वी विशुद्ध लेश्यादि से सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है तब उसके प्रत्याख्यान-सुप्रत्याख्यान (संवर धर्म की अपेक्षा) हो जाते हैं । संवर धर्म की प्राप्ति से वह चतुर्थ गुणस्थान से भी ऊँचा उठ जाता है । जिन आज्ञा के बाहर की क्रिया मे धर्म नहीं है चाहे उस क्रिया का आचरण सम्यक्त्वी क्यों न करे—पाप-कर्म का बन्ध होगा । इसके विपरीत

---

१—भ्रमविध्वंसनम् १।६

जिन आज्ञा के अंतर्गत की क्रिया—मिथ्यात्वी करे वा सम्यक्त्वी करे—धर्म होगा।[1]

अर्थात् ज्ञान-हीन (सम्यग् ज्ञान हीन) होने के कारण मिथ्यात्वी के संवर व्रत भले ही न हो। संवर व्रत नहीं होने के कारण उसके प्रत्याख्यान—निर्जरा धर्म की अपेक्षा दुष्प्रत्याख्यान नहीं कहे जा सकते। बंधे हुए जो उसके पुराने कर्म हैं, उनकी निर्जरा शुभ परिणाम आदि के द्वारा अवश्यमेव होती है—ऐसा सिद्धांत में कहा गया है।[2] आगे देखिये ३०६ बोल की हुंडी में क्या कहा है।

"तिण त्याग किया ते व्रत नहीं नीपजै रे,
ते पिण संवर आश्री जाण रे।
शुभ जोग वर्त छै, मिथ्याती तणै रे,
तिण रे कर्म निर्जरा, शुद्ध बखांण रे।
तिण सूं निर्जरा हुवै, तिणसूं जिन आगन्यां रे,
असुद्ध कहै मूढ गिंवार हो।
ठाम ठाम सूत्रे जिन कह्यो रे,
मिथ्याती री करणी जिन आज्ञा मझार रे।"

—३०६ बोल की हुंडी

अर्थात् मिथ्यात्वी के त्याग-प्रत्याख्यान करने पर भी संवर व्रत नहीं होता है परन्तु शुभ योग से निर्जरा होती है। वह कर्म निर्जरा शुद्ध है। स्थान-स्थान पर आगम मे मिथ्यात्वी की करणी को जिन आज्ञा में कहा है—

समकत विण हाथी रा भव मझे रे,
सुसला री दया पाळी छें ताहि रे।
तिण परत संसार कीयों दया थकी रे,
जोवों पेंहला गिनाता मांहिरे ॥५२॥
मिथ्याती निरवद करणी करतां थकां रे,
समकत पाय पोहता निरवांण रे।

---

१—जिनाज्ञारी चोपई—ढाल २, गा २२, २६।

२—भगवती श ९ उ ३१

तिण करणी ने असुध कहै छें पापीया रे,
ते निश चेंइ पूरा मूढ अयांण रे ॥५३

—भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर (खंड १)—मिथ्यातीरी निर्णय
री ढाल २ । पृ० २६२

अर्थात् मेघकुमार ने अपने पूर्व भव—हाथी के भव में सम्यक्त्व रहित होने पर भी पेर को अढ़ाई दिनरात तक ऊँचा रखा परन्तु खरगोश को नहीं मारा। यह अहिंसा का ज्वलंत उदाहरण है कि तिर्यंच मिथ्यात्वी भी अहिंसा के प्रतिपालन करने के अधिकारी हैं फलस्वरूप उस अहिंसा के कारण वह हाथी संसारअपरीत से ससार परीत्त बना। निरवद्य करणी करते हुए मिथ्यात्वी सम्यक्त्व को प्राप्त कर क्रमशः निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। प्रज्ञापना मे आचार्य मलयगिरि ने कहा है—

"तस्मान्मिथ्यादृष्टय ××× असयताश्च सत्यप्यनुष्ठाने चारित्र-परिणाम शून्यत्वात् ।

—प्रज्ञापना पद २०।सू १४७०।टीका

अर्थात् मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व रहित सद्अनुष्ठान होता है, अत. उनके चारित्र रूप सवर नहीं होता। यदि सम्यक्त्वी ने एक भी प्राणी के वध की विरति की है तो उसके देशतः चारित्र रूप सवर होगा ही।[1] भगवान ने चतुर्थ गुणस्थान मे भी संवर नही कहा है तब प्रथम गुणस्थानमे संवर होनेका प्रश्न नहीं उठ सकता। यदि एक द्रव्य अथवा पर्याय मे मिथ्यात्व होता है; तब भी मिथ्यादर्शन विरमण (संवर रूप अवस्था) असंभव है।[2] श्री मज्जयाचार्य ने प्रथम चार गुणस्थान मे संवर नहीं माना है परन्तु अहिंसा और तप—दोनों धर्म स्वीकृत किया है। कहा है—

"संयम ते सवर धर्म अनेतप ते निर्जरा धर्म छै। अने त्याग बिना जीव री दया पाले ते अहिंसा धर्म छै। अने जीव हणवारा त्यागने संयम पिण कहीजे अने अहिंसा पिण कहीजे। अहिंसा तिहाँ संयम नी भजना छै। अने संयम तिहाँ अहिंसा नी नियमा छे।"

---

१—भगवती श १७ उ २। सू २६
२—प्रज्ञापना पद २२ सू १६४०। टीका

"ए अहिंसा धर्म और तप ते पहिला चार गुणठाणा पिण पावै छै।

—भ्रमविध्वंसनम् अधिकार १।१

अर्थात् मिथ्यात्वी अहिंसा धर्म और तप धर्म की आराधना कर सकते है परन्तु संयम रूप संवर धर्म की आराधना नहीं कर सकते हैं।

सम्यक्त्वी जीव भी अविशुद्ध लेश्या के प्रवर्तन से मिथ्यात्व भाव को प्राप्त हो सकता है। भगवान् ने कहा है—

"पुंडरिक और कुण्डरिक दो भाई थे। कालांतरमें कुण्डरिकने वैराग्य वृत्तिसे संयम ग्रहण किया। संयम का बहुत वर्षों तक पालन किया। किन्तु आहारवृत्ति में गृद्ध हो जाने के कारण वह संयम से भ्रष्ट हो गया। संयम छोड़ दिया। राज्य मे गृद्ध होकर सम्यक्त्व को खोकर मिथ्यात्व अवस्था मे महा कृष्णलेश्या में मरण प्राप्त होकर सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ।"[1]

इस प्रकार संयमी भी अशुभलेश्या के प्रवर्तन से संयम-सम्यक्त्व को खो देते हैं अतः मिथ्यात्वी सिद्धांत के मर्म को समझे, प्रतिपल जागरूक रहे। सद्क्रिया से—लेश्या विशुद्धि से अवश्यमेव उसका क्रमिक विकास होगा। कर्म के फल को भोगे बिना छुटकारा नहीं होगा। वास्तव मे ही सद्संगति का संयोग और भगवान् का भजन—ये दो चीजें संसार में दुर्लभ हैं—ऐसा तुलसी दासजी ने भी कहा है—

सद्संगत हरी भजन, तुलसी दुर्लभ होय।
सुत दारा अरु लक्ष्मी, पाप के भी होय॥

अस्तु मिथ्यात्वी क्रोध-मान-माया-लोभ से अधिक से अधिक छुटकारा पाने का प्रयास करे। सद्संगति और नमस्कार महामन्त्र का जाप करे।

जैन दर्शन में पदार्थ को परिणामी नित्य माना गया है। मिथ्यात्वी परिणामी नित्य से ही आध्यात्मिक विकास करता हुआ सम्यक्त्वी होता है। एकांत नित्य और एकांत अनित्य में मिथ्यात्वी—सम्यक्त्वी हो नहीं सकता। भारतीय

---

१—ज्ञातासूत्र अ १४, सू ३२ से ४१

दर्शन में श्रद्धा का स्थान सर्वोपरि माना गया है। यथातथ्य वस्तु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन[1] कहते हैं। ऋग्वेद में कहा है—

श्रद्धे श्रद्धा पयेह न।

—ऋ० १०।१५।१५

अर्थात् हे श्रद्धा देवि! तुम हमें श्रद्धालु बनाओ। महाभारत में कहा है—

अश्रद्धा परमं पापं, श्रद्धा पाप प्रमोचनी।
जहाति पाप श्रद्धावान्, सर्पा जीर्ण मिवत्वचम्॥

—महा० पर्व ४२।२६४।१५

अर्थात् अश्रद्धा महापाप है। श्रद्धा पाप से मुक्त करती है। जैसे—सर्प जीर्ण त्वचा को छोड़ देता है, वैसे ही श्रद्धालु को पाप छोड़ देता है। मनुस्मृति में कहा है—

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारे प्रतिपद्यते॥७४॥

—मनुस्मृति० अ० ६

अर्थात् जो सम्यग् दर्शन से संपन्न है, वह कर्म का बंधन नहीं करता है इसके विपरीत जो सम्यग् दर्शन से विहीन है वह संसार में भटकता-फिरता है। उपनिषद में ब्रह्म का मस्तिष्क ही श्रद्धा है—ऐसा कहा है।[2] वैदिक दर्शन में सम्यग्दर्शन व मिथ्यादर्शन को क्रमशः विद्या-अविद्या नाम से अभिहित किया गया है तथा बौद्धदर्शन मे मार्ग-अमार्ग नाम से अभिहित किया गया है तथा योग दर्शन मे भेद ज्ञान ( विवेक ख्याति ) व अभेद ज्ञान की अविद्या से पुकारा गया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।

षट्खंड पाहुड दर्शन प्राभृत—गाथा २

---

१—सम्यग् दर्शन, सम्यग्दृष्टि, सद्बोध, बोधि और सम्यक्त्व—ये सब एकार्थक हैं।

२—तस्य श्रद्धैव शिरः—तैत्तिरिय ब्रह्मानंदवल्ली अनुवाक ४

अर्थात् धर्म का मूल दर्शन (सम्यग्दर्शन) है। भगवती आराधना में आचार्य शिवकोटि ने कहा है—

मा कासितं पमादं सम्मत्ते सव्वदुक्खणासयरे।
सम्मत्तं खु पदिट्ठा णाणचरणवीरियतवाणं ॥
णगरस्स, जह दुवारं, मुहस्स चक्खू, तरुस्स जह मूलं।
तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियणतवाणं ॥

—भगवती आराधना गा ७३५, ७३६

अर्थात् नगर के लिये द्वार का, चेहरे के लिये चक्षु का और वृक्ष के लिये मूल का जो महत्व है, वही महत्व धर्म के लिये श्रद्धा का है। ज्ञान, दर्शन, वीर्य और तप की प्रतिष्ठा सम्यक्त्व ही है।

जो मिथ्यात्वी करणलब्धि द्वारा प्रथम सम्यक्त्व के सम्मुख होता है उसके क्षयोपशम आदि चार लब्धियों का सद्भाव नियम से होता है। कहा है—

खओवसम-विसोहिदेसण-पाओग्ग-सण्णिदाओ चत्तारि लद्धीओ करणलद्धिसव्वपेक्खाओ सूचिदाओ, ताहि विणा दंसणमोहोवसामणाए पवुत्तिविरोहादो।

—कषायपाहुडं भाग १२ गा ९५। टीका। पृ० २०१

अर्थात् मिथ्यात्वी के करणलब्धि, सव्यपेक्षक्षयोपशम, विशुद्धि देशना और प्रायोग्य संज्ञक—चार लब्धियाँ कही गयी हैं क्योंकि उनके बिना दर्शन मोह रूप के उपशम करने रूप क्रिया में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

जातिस्मरणज्ञान, धर्मश्रवण: देवर्धिदर्शन जिन-महिमादर्शन आदि के कारण भी मिथ्यात्वी-सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।[1]

कई मिथ्यात्वी अपने उसी भव में सद्क्रिया के द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्तकर चारित्र ग्रहण कर, केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष पद को प्राप्त किया भी है। वर्तमान में कई मिथ्यात्वी सद्क्रिया के द्वारा सम्यक्त्व प्राप्त करने की प्रचेष्टा कर रहे हैं और भविष्यत् काल में अनंत जीव सद्क्रिया के द्वारा सम्यक्त्व को

---

१—कषायपाहुड भाग १२ गा ९७। टीका। पृ० २०१

प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे। सूयगडांग सूत्र में सम्यग्दृष्टि का पराक्रम संसार का कारण नहीं माना है—बंधन का कारण नहीं माना है। कहा है—

जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कतं अफलं होइ सव्वसो॥

—सूयगडांग १।८।२४

अर्थात् सम्यग्दृष्टि के शुद्ध पराक्रम को निर्जरा का कारण माना गया है परन्तु संसार का कारण नहीं हो सकता है। यहाँ सम्यग्दृष्टि के अशुद्ध-पराक्रम का कथन नहीं किया गया है। जैसे मिथ्यादृष्टि का अशुद्ध पराक्रम सावद्य है वैसे ही सम्यग्दृष्टि का अशुद्धपराक्रम सावद्य है। जैसे सम्यग्दृष्टि का शुद्ध पराक्रम निरवद्य है वैसे ही मिथ्यादृष्टि का शुद्ध पराक्रम निरवद्य है। मिथ्यात्वी को प्रथम गुणस्थान में रखा है। गुणस्थान निरवद्य है। श्री मज्जाचार्य ने भ्रमविध्वंसनम् के प्रथम अधिकार में कहा है—

"मिथ्याती प्रथम गुणठाणे अनेक सुलभ बोधि जीव सुपात्रदान देई, दया पालन कर, तपस्या शीलादि भली उत्तम करणी, शुभयोग, शुभलेश्या, निरवद्य व्यापार थी परित संसार कियो छै। ते करणी शुद्ध आज्ञा मांहिली छै। ते करणी लेखै देशथकी मोक्ष मार्ग को आराधक कह्यो छै।"

—भ्रमविध्वंसम् अधि० १

अर्थात् मिथ्यात्वी सुपात्र दान देकर, शील का पालन कर आदि निरवद्य अनुष्ठान से परीत संसार कर सकता है। भगवती सूत्र के २४ वें शतक में मिथ्यादृष्टि-मिथ्यात्वी के प्रशस्त अध्यवसाय तथा अप्रशस्त अध्यवसाय-दोनों माने गये हैं—यह निर्विवाद है कि प्रशस्त अध्यवसाय—निरवद्य अनुष्ठान हैं।

मिथ्यात्वी की सद्‌क्रिया यदि अध्यात्म का हेतु नहीं बनती तो उसके लिये अग्रिम विकास के द्वार नहीं खुलते। वह हमेशा मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादृष्टि ही बना रहता। लेकिन ऐसा नहीं होता। सबके लिए अध्यात्म विकास का द्वार समान रूप से खुला हुआ है। अभव्य ( मिथ्यादृष्टि ) सद् क्रिया करता भी है तो वह भौतिक सुखों की उपलब्धि के लिये करता है। उसके मन में कभी भी

मोक्षमंजिल को प्राप्त करने की भावना नहीं उठती। अस्तु अभव्य के लिये भी अध्यात्म विकास का रास्ता बंद नहीं है। सत्प्रयत्न करते समय उसके भी कर्म निर्जरण होता है। भव्य (मिथ्यादृष्टि) सद् प्रयत्न के द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है।

अब प्रश्न उठता है कि मिथ्यात्वी किस प्रकार की सद्क्रिया-सदनुष्ठान करे कि जिससे उनकी आत्मा का विकास उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता रहे। सावद्य और निरवद्य के भेद से करणी क्रिया दो प्रकार की कही गई है। सावद्य करणी पाप सहित होती है व निरवद्य करणी पाप रहित; सावद्य करणी की भगवान आज्ञा नहीं देते हैं।[1] अब हमें यह चिंतन करना है कि मिथ्यात्वी को निरवद्य—शुद्ध क्रिया करने का अधिकार है या नहीं। जिस प्रकार अमृत को यदि अज्ञानी भी पीयेगा तो वह फल दिये बिना नहीं रहता, उसी प्रकार निरवद्य क्रिया मिथ्यात्वी भी करेगा तो वह फल दिये बिना नहीं रहती। निरवद्य क्रिया संवर और निर्जरा के भेद से दो प्रकार की होती है। संवर का अर्थ है कर्मों के आने के द्वारों को रोकना व निर्जरा का अर्थ है—कर्मों को तोड़ना। संवर व्रत तो मिथ्यात्वी उपार्जन नहीं कर सकता है। चूंकि पहले गुणस्थान से चौथे गुणस्थान तक संवरतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती है। मिथ्यात्वी को जीवादि नव तत्त्वों की सम्यग् रूप से जानकारी, सम्यग् श्रद्धा हुए बिना संवर व्रत की प्राप्ति नहीं होती है। आगमों में मिथ्यात्वी के प्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान कहे गये हैं। क्योंकि उनके संवर व्रत की प्राप्ति नहीं होती है—

मिथ्यात्वी यथाशक्ति दान-शील तप-भावना—इन चार मार्गों की आराधना कर सकता है। जिससे आत्मा की शुद्धि होती है उसे धर्म कहते हैं—जैसा कि युग प्रधान आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धांत दीपिका के सातवें प्रकाश में कहा है—

"आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः ॥२३॥

चूंकि तप धर्म की आराधना से मिथ्यात्वी के आत्म शुद्धि—आत्म उज्ज्वलता होती है इसी दृष्टिकोण को लेकर ही मिथ्यात्वी को मोक्ष मार्ग

---

१—वृहत्कल्प उ १ तथा उ १

का देश आराधक भगवती सूत्र के टीकाकार ने भी स्वीकार किया है।[1] टीकाकार ने सिद्ध किया है कि मिथ्यात्वी सद्क्रिया कर मोक्षमार्ग की आंशिक आराधना कर सकता है। परन्तु श्रुत की आराधना करने की क्षमता उसमें नहीं है—"श्रुत शब्देन ज्ञानदर्शनयोर्ग्रहीत्वात्"[2] अर्थात् श्रुत शब्द से ज्ञान और दर्शन दोनों का ग्रहण हो जाता है। संवर धर्म की आराधना नहीं होने से क्या मिथ्यात्वी तप धर्म—निर्जरा धर्म की आराधना नहीं कर सकते कारणे कार्योपचारात् तपोऽपि निर्जराशब्दवाच्यं भवति—जैन-सिद्धांतदीपिका ५।१५) कारण में कार्य का उपचार होने से तप को भी निर्जरा कहते हैं। सूत्र में यह कहीं नहीं कहा गया है कि जिसके संवर धर्म नहीं होता—उसके निर्जरा धर्म भी नहीं होता, अस्तु मिथ्यात्वी भी तप और अहिंसा धर्म की आराधना करने के अधिकारी माने गये हैं।

आत्म विकास की अभिलाषा से शुद्ध क्रिया करते हैं वहाँ मिथ्यात्वी के सकाम निर्जरा होती है। जैसा कि युगप्रधान आचार्य तुलसी ने जैनसिद्धांत दीपिका में कहा है।—

सहकामेन मोक्षाभिलाषेण विधीयमाना निर्जरा-सकामा। तद्परा अकामा। द्विधाऽपि सम्यक्त्वीनां मिथ्यात्वीनां च।

—जैन सि० प्रकाश ५ सू १४

अर्थात् निर्जरा दो प्रकार की होती है—सकाम और अकाम। मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से की जाने वाली निर्जरा सकाम और इसके अतिरिक्त निर्जरा अकाम होती है। यह दोनों प्रकार की निर्जरा सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी दोनों के होती है। श्री मज्जयाचार्य ने भ्रमविध्वंसनम् में कहा है—

'जे अव्रती सम्यग्दृष्टि रे त्याग बिना शीलादिक पाल्यां व्रत नीपजे नहीं तो मिथ्यात्वी रे व्रत किम निपजे। जिम अव्रती सम्यग्-

(१) देशाराहए त्ति (बालतपस्वी) स्तोकमंश मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थ. सम्यग्बोध-रहितत्वात् क्रियापरत्वात्।

—भगवती श ८। उ १०। सू ४५०—टीका

(२) भगवती श० ८। उ० १०। सू ४५० – टीका

दृष्टि रे शीलादिक थी घणीनिर्जरा हुवे छै। तिम प्रथम गुणठाणे पिण सुपात्र दान देवे, शील पाळे, दयादिक भली करणी सूं निर्जरा हुवे छै।"

—भ्रमविध्वंसनम् अधिकार १।१० पृ०२०

अर्थात् जैसे अव्रत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवों के त्याग बिना शीलादिक का पालन करने से व्रत रूप संवर नहीं होता; वैसे ही मिथ्यात्वी के व्रत रूप संवर कैसे हो सकता है। जैसे सम्यग्दृष्टिके शीलादिकसे बहुत निर्जरा होती है। वैसे ही प्रथम गुणस्थान में भी सुपात्र दान देने से, दया आदि सम्यग् करणी से निर्जरा होती है।

अतः मिथ्यात्वी के संवर नहीं होता है। परन्तु सद्‌क्रिया से निर्जरा होती है। निर्जरा की अपेक्षा उसके प्रत्याख्यान निर्मल हैं।

## २ : मिथ्यात्वी को सुव्रती कहा है

जैन दर्शन स्याद्‌वाद, अपेक्षावाद या अनेकांतवाद को लेकर चलता है। जैन दर्शन किसी भी वस्तु को एक दृष्टि से नहीं देखता है, क्योंकि वस्तु को एक दृष्टिकोण से देखने से विविध प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। वस्तु अनंत-धर्मात्मक होती है। जैनदर्शन कहता है कि यह भी हो सकती है परन्तु वह नहीं कहता है कि यह ही होगी। 'भी' और 'ही' के प्रयोगों की ओर थोड़ा दृष्टिपात कीजिये। 'ही' शब्द का प्रयोग करने से ऐकांतिक दृष्टिकोण का बोध होता है तथा 'भी' शब्द का प्रयोग करने से अनेकांतिक दृष्टिकोण का।[1]

अस्तु, मिथ्यात्वी के विषय में आगमों में जो अनेक अपेक्षाओं से कहा गया है, उन्हें स्याद्‌वाद की कसौटी पर कसकर देखिये; जिससे आपको महसूस होगा कि मिथ्यात्वी भी धर्म की आराधना करने के अधिकारी माने गये हैं।

१—भगवती सूत्र (शतक ७ उ० २) में मिथ्यात्वीके प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान' कहे हैं, क्योंकि उसके संवर-व्रत की निष्पत्ति नहीं होती। संवर व्रत की अपेक्षा से

---

१—प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार, न्यायदीपिका, प्रकाश ३

उसके प्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान कहे गये हैं जिसका समर्थन १०६ बोल की हुंडी में (४।१८।१९) किया गया है।

२—मिथ्यात्वी को शुद्ध क्रिया की अपेक्षा से उत्तराध्ययन सूत्र में ( अ०७। गा० २० ) सुव्रती कहा गया है अर्थात् उसका शुद्ध पराक्रम सुव्रत है, जिसका समर्थन भ्रमविध्वंसनम् के पहले अधिकार में श्री मज्जयाचार्य ने किया है।

जो (मिथ्यात्वी)—गृहस्थाश्रम में रहते हुये जो विविध प्रकार की शिक्षाओं के द्वारा सुव्रत वाले अर्थात् प्रकृति-भद्रता आदि गुण वाले हैं वे मनुष्य योनि को प्राप्त करते हैं क्योंकि प्राणी, सत्य कर्म वाले होते हैं अर्थात् जैसा शुभ या अशुभ कर्म करते हैं वैसा ही शुभ या अशुभ फल पाते हैं।[1]

अतः मिथ्यात्वी को शुद्धक्रिया—निर्जरा धर्म की अपेक्षा सुव्रती कहने से किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं आती। श्री मज्जयाचार्य ने कहा है—

"वली मिथ्यात्वी ने भली करणी रे लेखे सुव्रती कह्यो छे।"

"मिथ्यात्वी अनेक भला गुणां सहित (प्रकृति भद्रपरिणाम, क्षमादि गुण ) ने सुव्रती कह्यो। ते करणी भली आज्ञा मांहीं छै। अने जे क्षमादि गुण आज्ञा में नहीं हुवे तो सुव्रती क्यूं कह्यो। ते क्षमादि गुणांरी करणी अशुद्ध होवे तो कुव्रती कहता। ए तो सांप्रत भली करणी आश्रय मिथ्यात्वी ने सुव्रती कह्यो छै × × × ते निर्जरा री शुद्ध करणी आश्रय कह्यो छै।

—भ्रमविध्वंसनम् अधिकार १।५

अर्थात् मिथ्यात्वी को निरवद्य क्रिया की अपेक्षा सुव्रती कहा गया है। मिथ्यात्वी के क्षमादि गुण-सुव्रत हैं। अस्तु निर्जरा की शुद्ध करणी की अपेक्षा—मिथ्यात्वी को सुव्रती कहा गया है। यदि मिथ्यात्वी शीलादिका आचरण करता है तो निर्जरा की अपेक्षा निर्मल प्रत्याख्यान है। कहा है—

---

१—वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहि-सुव्वया।
उवेंति माणुसं जोणिं—कम्मसच्चा हु पाणिणो।

—उत्त० अ ७, गा २०

"प्रथम गुणठाणे मिथ्यात्वी रा सुपात्र दान, शीलादिक ए पिण भला गुण आज्ञा माहीं कहिणां पड़सी।"

—भ्रमविध्वंसनम् १।११। पृ० २१

अर्थात् प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव —मिथ्यात्वी का सुपात्र दान देना, शीलादिक पालन करना—ये सब सम्यग् क्रिया —भगवान की आज्ञा में हैं। कहा है—

वली ते मिथ्यात्वी ना दान शीलादिक अशुद्ध कह्या। तेहनो न्याय इम छै अशुद्ध दान कुपात्र ने देवो, कुशील ते खोटो आचार तप ते अग्नि नो तापवो, भावना ते खोटी भावना, भणवो ते कुशास्त्र नो—ए सर्व अशुद्ध छै। ते कर्मबंधन रा कारण छै पिण सुपात्र दान देवो, शील पालवो, मास खमणादिक तप करवो—भली भावनानु भाविवो, सिद्धांत नो सुणवो। ए अशुद्ध नहीं छै एतो आज्ञा मांही छै।

—भ्रमविध्वंसनम् अधिकार १,११। पृ० २१,२२

अर्थात् यदि मिथ्यात्वी कुपात्र दान देता है, अनाचार का सेवन करता है, अग्नि का आरम्भ-समारम्भ करता है, कंदर्प आदि अशुभ भावना का चिंतन करता है, कुशास्त्र का अध्ययन करता है आदि अशुद्ध पराक्रम है, कर्म बंधन के कारण हैं। इसके विपरीत सुपात्र दान देना, शील पालन करना, मास क्षमण आदि तप करना, अनित्यादि सद्भावनाओं से भावित रहना, सूत्र-सिद्धांत का श्रवण करना—ये शुद्ध पराक्रम हैं, जिनाज्ञा के अन्तर्गत की क्रिया हैं। इन सद्क्रियाओं की अपेक्षा मिथ्यात्वी को सुव्रती कहा है।

यद्यपि सर्व आराधना तथा सम्यक्त्व की आराधना की अपेक्षा मिथ्यात्वी को अनाराधक कहा है।[1] परन्तु देश आराधना तथा निर्जरा धर्म की अपेक्षा आराधक कहा है।[2] श्री मज्जयाचार्य ने कहा है—

"ज्ञान बिना जे करणी करे ते देश आराधक छै। ××× ! सर्वथकी तथा संवर आश्री आराधक न थी। अने निर्जरा आश्री तथा

१—उववाई सूत्र सूत्र ६६ से ११४

२—भ्रमविध्वंसनम् अधिकार १।१३। पृ० २५

देशथकी आराधक तो छै। पिण श्रावक "किंचिन्मात्र पिण आराधक न थी एहवी ऊँधी थाप करणी नहीं।"

—भ्रमविध्वंसनम् अधिकार १।१४। पृ० २५

अर्थात् संवर की अपेक्षा मिथ्यात्वी को आराधक नहीं कहा है परन्तु निर्जरा की अपेक्षा आराधक है। किंचित् भी मिथ्यात्वी आराधक नहीं है ऐसी ऊँधी स्थापना नहीं करनी चाहिए। अतः शुद्ध क्रिया की अपेक्षा सुव्रती कहा है।

### ३ : मिथ्यात्वी और अणुव्रत

आज इस भौतिकवादी युग में युगप्रधान आचार्य तुलसी ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—इन पाँच अणुव्रतों के बहुत सुन्दर नियमों की रचना की है। आपने विश्व को एक महान देन दी है।

अणुव्रतों को प्रत्येक व्यक्ति ग्रहण कर सकता है। प्राणीमात्र के लिए ग्रहण योग्य नियम हैं, चाहे मिथ्यात्वी भी क्यों न हो। यदि मिथ्यात्वी उन नियमों का यथाशक्ति पालन करे, उनके अनुसार आचरण करे तो मिथ्यात्वी अपनी आत्मा का विकास उत्तरोत्तर कर सकता है। कतिपय प्रमुख विद्वानों से सुना जाता है कि अणुव्रती संघ के नियमों के अनुसार कदम उठाया जाय तो व्यक्ति अपनी आत्मा का उत्थान जल्द ही कर सकता है।

प्रश्न उठ सकता है कि यदि कोई मिथ्यात्वी अहिंसादि अणुव्रतोंके नियमों को ग्रहण कर, उनका पालन विधिवत् करता है तो उसे अणुव्रती नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अणुव्रती शब्द संवर की ओर संकेत करता है।

प्रश्न कुछ टेढ़ा है। पहले कहा जा चुका है कि यद्यपि मिथ्यात्वी के संवर-व्रत समुत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि सम्यक्त्व का अभाव है[1] लेकिन निरवद्य क्रिया से निर्जरा धर्म हो सकता है। मिथ्यात्वी के लिये इस निरवद्य क्रिया के दृष्टिकोण की अपेक्षा उत्तराध्ययन सूत्र में सुव्रती शब्द का व्यवहार हुआ है अर्थात् उसकी शुद्ध क्रिया—सुव्रत है जिसे श्रीमज्जयाचार्य ने भ्रमविध्वंस-

---

१ —नत्थि चरित्तं सम्मत्तं, विहूण दंसणे उ भयव्वं ॥
समत्तचरित्ताइं जुगवं, पुव्वं च सम्मत्तं ॥

—उत्त० २८:२९

सम् में प्रमाणित किया है। जब निर्जरा धर्म की अपेक्षा मिथ्यात्वी के लिये सुव्रती शब्द का व्यवहार हुआ है तब निर्जरा धर्म की अपेक्षा—शुद्ध क्रिया की अपेक्षा मिथ्यात्वी के लिये अणुव्रती शब्द का व्यवहार करना चाहिये। थोथा तर्क चाहे कितना भी क्यों न किया जाय; उसका कोई अंत नहीं होता, क्योंकि तर्क करी रस्सी बहुत लम्बी-चौड़ी होती है। अणुव्रती और सुव्रती की ओर दृष्टिपात कर खुले दिमाग से सोचिये अर्थात् अणुव्रती और सुव्रती दोनों को तुलनात्मक दृष्टि से देखिये। मिथ्यात्वी के अणुव्रत-शुद्ध क्रिया—निर्जरा धर्म की अपेक्षा बहुत सुन्दर है।

अणुव्रत नियमों को आप जानते ही होंगे कि वे बुराइयों का प्रतिकार करने के लिये एक प्रकार का सुशस्त्र हैं। उनके नियम भी अच्छे हैं। हर व्यक्ति इन्हें अपना सकता है। इन नियमों को ग्रहण कर, इनका विधिवत् पालन किया जाय तो हर एक व्यक्ति, यहाँ तक कि मिथ्यात्वी भी आत्मा को उज्ज्वल बना सकता है। इस प्रकार उसके आत्मा की उज्ज्वलता क्रमशः होते-होते, उसका ज्ञान, जो मिथ्यात्वी के संसर्ग से अज्ञान कहलाता था, वह सम्यक्त्व की प्राप्ति होने से सम्यग्ज्ञान कहलाने लगेगा। बुराइयों को खदेड़ने के लिए 'अणुव्रत' एक अमोघ शस्त्र है। अन्ततः बुराइयों का नाश होने पर (अनंतानुबंधी चतुष्क—क्रोध, मान, माया, लोभादि) ही तो सम्यग्दर्शन आदि सद्गुणों की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन आत्मा की निर्मल अवस्था है।

उपर्युक्त न्याय से यदि मिथ्यात्वी पाँच अणुव्रतों के नियमों का यथाविधि पालन करे तो निर्जरा धर्म की अपेक्षा उसके लिये अणुव्रती शब्द का व्यवहार किया जाय तो उसमें आपत्ति का प्रश्न आ ही कैसे सकता है? अणुव्रती शब्द का अर्थ है—छोटे-छोटे नियमों-व्रतों का पालन करने वाले।

उववाई तथा भगवती सूत्र के आधार पर यह हम कह सकते हैं कि यदि मिथ्यात्वी सत्संगति करे तो बहुत-से कर्मों की निर्जरा कर, सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। आचारांग सूत्र के छट्ठे अध्याय के दूसरे उद्देशक में कहा गया है कि जो आज्ञा का उल्लंघन करके चलता है, उसे भगवान ने ज्ञान-रहित कहा है।

तब फिर आज्ञा के बाहर की करणी में धर्म व पुण्य का बंध हो ही कैसे सकता है ? प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध में श्री मज्जयाचार्य ने कहा है—

आज्ञापिण देवै नहीं, तिहाँ धर्म तणो नहीं अंश । २६
ते धर्म-पुण्य पिण को नहीं, धर्म जिन आज्ञा मांही ।

—सुभद्राधिकार

संवर नें वलि निरजरा, दोय प्रकारे धर्म ।
जिन आज्ञा में ए बिहुं, ते थी शिवपुर पर्म ।। २७ ।।

—गोशालाधिकार

तो सावद्य मांही धर्म पुण्य, केम कहीजे तेह । १६
सावद्य पाप कहित में, धर्म पुण्य किम थाय । १७

—धर्मार्थहिंसाधिकार

जिन आज्ञा चित्त स्थाप रे, आज्ञा बिन नहि धर्म पुण्य
सावद्य कार्य ताहि रे, गृही कीधें पिण पाप छे ।
अनुमोदै मुनिराय रे, प्रायश्चित आवै तसु ।।

—प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध

अर्थात् जिन आज्ञा के अन्तर्गत की सदनुष्ठानिक क्रिया करने से धर्म तथा पुण्य होता है, परन्तु आज्ञा के बाहर की क्रिया में नहीं । जब सावद्य क्रिया की अनुमोदना करने से मुनिराज को प्रायश्चित आता है तब आप सोचिये कि सावद्य-अनुष्ठान में धर्म कैसे हो सकता है ? आचारांग अ० ४।४ में कहा गया है कि जो जिनाज्ञा को नहीं जानता है उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होनी महादुर्लभ है ।

अस्तु मिथ्यात्वी अणुव्रतों को ग्रहण कर अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है । जिस प्रकार आगमों में[1] बालतपस्वी (मिथ्यात्वी का विशिष्ट तप) के लिये भावितात्मा अणगार का व्यवहार है उसी प्रकार छोटे-छोटे व्रतों का पालन करने वाले मिथ्यात्वी के लिये अणुव्रती, शब्द का का व्यवहार क्यों नहीं होगा अर्थात् अवश्य होगा ।

---

१—भगवती श० ३। उ ३। प्र० १ ०७

आत्मविकास के मार्ग पर चलने वाले सब लोग समान शक्ति वाले नहीं होते। कोई ऐसा दृढ़ होता है जो मन, वचन और काय से सब पापों को छोड़कर एकमात्र आत्मविकास को अपना ध्येय बना लेता है। वह अनगार धर्म के अनुसार धर्म को स्वीकार कर लेता है। किन्तु गृहस्थाश्रम में विविध प्रकार के मनुष्य होते हैं—सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, मिथ्यादृष्टि भी और सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी। कतिपय सम्यग्दृष्टि मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहते हुए पूर्ण त्याग का सामर्थ्य न होने पर भी त्याग की भावना से यथाशक्ति अहिंसादि पाँच अणुव्रतों को स्वीकार करते हैं; वे पंचम गुणस्थानवर्ती होते हैं। उनके प्रत्याख्यान संवर धर्म की अपेक्षा सुप्रत्याख्यान हैं क्योंकि वे सम्यक्त्वी हैं। तीसरे गुणस्थान की स्थिति मात्र अंतर्मुहूर्त की है। वे सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं वे किसी भी प्रकार का प्रत्याख्यान नहीं करते हैं परन्तु पूर्व प्रत्याख्यान की अपेक्षा—निर्जरा धर्म की अपेक्षा प्रत्याख्यानी भी हो सकते हैं, संवर व्रत नहीं होता है।

मिथ्यादृष्टि जीव वैराग्यभावना से अहिंसादि अणुव्रतों को ग्रहण कर सकते हैं। यथा—

१—क्रोधादिवश किसी को गाली न देना।

२—जल में डूबोकर त्रस प्राणियों की हत्या न करना।

३—कूटतोल-कूटमाप न करना।

४—स्त्री-पुरुष की मर्मभेदी बात प्रकाशित न करना।

५—किसी पर कूड़ा आळ न देना।

६—असत्य बोलने का उपदेश न देना।

७—चोर की चुराई हुई वस्तु न लेना।

८—चोर को चोरी करने में सहायता न देना।

९—वस्तु में मेळ-संभेळ न करना—यथा—अच्छी वस्तु दिखाकर बिक्री के समय नकली वस्तु देना।

१०—परस्त्री व वेश्या गमन न करना।

११—परिग्रह की मर्यादा उपरांत रखने का प्रत्याख्यान करना।

१२—पैशून्य-चुगली न करना।

१३—कटु वचन का व्यवहार न करना आदि।

जगत का एकमात्र सर्वश्रेष्ठ मंगल, समस्त पापों के गाढ़ अंधकार को नष्ट करने वाली, सूर्य के समान यथार्थ वस्तु रूप को प्रकाशित करने वाली जिनेंद्र भगवान् की वाणी सदा उत्कर्षशालिनी होकर देदीप्यमान है। अतः मिथ्यात्वी-साधुओं की संगति मे रहकर श्रोता बने। भगवद् वाणी पर चिंतन करे। मिथ्यात्वी परिणामी है अतः वह अणुव्रत के माध्यमसे सम्यक्त्वी भी हो सकता है। यद्यपि अभव्य के कर्म चिकने हैं, इतने चिकने हैं कि वे मिथ्यात्व से छुटकारा नहीं पा सकते। उसके कर्मों का मूल से नाश नहीं होता। यह उनका स्वभाव है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है, जल का स्वभाव ठंडा है वैसे ही अभव्य में मोक्ष गमन की अयोग्यता है। फिर भी वह सद्क्रिया करने का अधिकारी है। देखा जाता है कि अभव्य सद्क्रिया से क्रमशः आध्यात्मिक विकास करते हैं। वे भी निर्जरा धर्म की अपेक्षा अणुव्रती हो सकते हैं। कतिपय अभव्य भी आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत को भी धारण करते हैं।

सिद्धांत ग्रन्थों के अध्ययन करने से मालूम होता है कि मिथ्यात्वी भी अणुव्रत नियमों को ग्रहणकर ससार अपरीत्त से संसार परीत्त हुआ। मरण के समय काल प्राप्त होकर अच्छे कुल मे मनुष्य रूप मे अवतरित हुआ। अथवा देवत्व को प्राप्त किया।[1] यदि सम्यक्त्वी भी अज्ञान, प्रमाद आदि दोषों का सेवन बहुलता से सेवन करते हैं तो वे सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो सकते हैं। अतः मिथ्यात्वी प्रमाद को छोड़े, धर्म क्रिया दत्तचित होकर करे। विषय भोगों मे आसक्त रहना, अशुभ क्रिया मे उद्यम तथा शुभ उपयोग का न होना प्रमाद है। मिथ्यात्वी यथाशक्ति प्रमाद से दूर रहने का अभ्यास करे।

अणुव्रत के माध्यम से मिथ्यात्वी स्थूल रूप क्रोध, मान, माया, लोभ पर विजय प्राप्त कर सकता है। दोषों से छुटकारा पाने के लिये अणुव्रत एक तीव्र हथियार है। न्यायशास्त्र मे जिस ज्ञान का विषय सत्य है उसे सम्यग्ज्ञान कहते है।

उपरोक्त अणुव्रत नियमों का मिथ्यात्वी प्रत्याख्यान कर सकता है। यद्यपि संवरधर्म की अपेक्षा उसके प्रत्याख्यान-दुष्प्रत्याख्यान हैं परन्तु शुद्ध क्रिया—निर्जरा

१—औपपातिक, भगवती, विपाक, ज्ञातासूत्र आदि

धर्म की अपेक्षा उसके प्रत्याख्यान-सुप्रत्याख्यान है। निर्जरा धर्म की अपेक्षा उसके लिये 'अणुव्रती' शब्द का व्यवहार किया जाय तो आगम सम्मत बात होगी।

चूँकि प्रत्येक व्यक्ति छोटे अथवा बड़े, सूक्ष्म अथवा बादर —सब प्रकार के जीवों की हिंसा का त्याग नहीं कर सकते। अतः मिथ्यात्वी साधुओं की संगति में रहने का अभ्यास करे। 'अणुव्रत' के रहस्यको समझने का प्रयास करे। जीवन क्षण-भंगुर है, काया अस्थिर है, यौवन चंचल है—ऐसा समझकर सद्क्रियायें दत्त-चित्त होकर करे। कतिपय मिथ्यात्वी भी सद्क्रियाओं के द्वारा क्रमशः आध्यात्मिक विकास करते रहते हैं। सुकृत्य-दुष्कृत्य—दोनों का फल भोगना पड़ता है, बिना भोगे छुटकारा नहीं है। जयाचार्य ने कहा है कि पुण्य-पाप, सुख-दुःख के कारण हैं। कोई दूसरी चीज नहीं है —ऐसा विचार करना चाहिये।[1] मिथ्यात्वी के भी परस्पर अणुव्रत नियमों के ग्रहण करने में तरतमता रहती है। कतिपय मिथ्यात्वी गृहस्थाश्रम को छोड़कर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत की साधना करते हैं और विविध प्रकार के अणुव्रतों को ग्रहण करते हैं। मिथ्यात्वी का सद्-अनुष्ठानिक प्रयास—आत्मोत्कर्ष का मार्ग है। जिनका विषय असत्य हैं उसे मिथ्याज्ञान कहा जाता है। अध्यात्म शास्त्र मे यह विभाग गौण हैं। यहाँ सम्यग्ज्ञान से उसी ज्ञान का ग्रहण होता है जिससे आत्म का विकास हो और मिथ्याज्ञान से उसी ज्ञान का ग्रहण होता है जिससे आत्मा का पतन हो या संसार की वृद्धि हो।

अस्तु मिथ्यात्वी कन्दर्प भावना, आभियोगिकी भावना, किल्विषी भावना, मोह भावना और आसुरी भावना—जो दुर्गति की हेतुभूत है और मरण के समय इन भावनाओं से जीव विराधक हो जाते हैं—छोड़ने का प्रयास करे। शुभ भावनाओं में अपना ध्यान केन्द्रित करे।

जो मिथ्यात्वी जिन वचनों में अनुरक्त हो जाते हैं वे अणुव्रत के माध्यम से

---

१—पुण्य-पाप, पूर्व कृत सुख दुःख ना कारण रे,
पिण अन्य जन नहीं; एम करे विचारण रे।
भावे भावना। —आराधना की आठवीं ढाल गा १

आत्मकी सम्यिका सेवन कर सकते हैं। अणुव्रत बुराइयों को दूर करने के लिए तीखी कुल्हाड़ी के समान है। श्री मलयगिराचार्य ने कहा है—

"प्रथम गुणठाणे शुक्ल लेश्या वर्ते ते वेलां आर्त रुद्रध्यान तो वर्ज्यों छै अनें धर्मध्यान पावे छै।"

—भ्रमविध्वंसनम् अधिकार १।१८

अर्थात् प्रथम गुणस्थान में जब शुक्ललेश्या का प्रवर्तन होता है तब आर्तध्यान और रौद्र ध्यान का निषेध किया गया है और धर्म ध्यान होता है। भगवान् ने कहा है—

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, धम्म-सुक्काणि झायए।

—उत्त० अ ३४, गा ३१

अर्थात् आर्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़ कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान ध्यावें। मिथ्यात्वी में शुक्लध्यान नहीं होता है परन्तु धर्मध्यान हो सकता है अस्तु शुक्ललेश्या का लक्षण धर्मध्यान भी है। अतः प्रथम गुणस्थान में शुक्ल-लेश्या भी होती है। तेजो और पद्म लेश्या के न होने का प्रश्न भी नहीं उठता है। तेजो आदि तीन विशुद्ध लेश्या से मिथ्यात्वी आध्यात्मिक विकास की भूमिका की उत्तरोत्तर वृद्धि कर सकता है।

जीवन विकास का 'अणुव्रत' एक अच्छा उपक्रम है। युग प्रधान आचार्य तुलसी ने 'अणुव्रत आन्दोलन भी चालू कर रखा है। मिथ्यात्वी के आत्मविकास में अणुव्रत नियमावली काफी उपयोगी सिद्ध हुई है। मिथ्यात्वी धर्मध्यान का अधिकारी हो सकता है—ऐसा आगम के अनेक स्थान पर विवेचन मिलता है। मिथ्यात्वी के जितने पदार्थों पर सच्ची श्रद्धा है वह गुण निष्पन्न भाव है तथा जितने अणुव्रतों को ग्रहण किया है तथा और भी अणुव्रत नियमों को भी ग्रहण करने की भावना रखता है वह भी गुण निष्पन्न भाव है।

अधः प्रवृत्त करण की प्राप्ति के पूर्व भी मिथ्यात्वी के विशुद्धि होती है। कषायपाहुड की चूर्णी में यतिवृषभाचार्य ने कहा है—

पुव्वं पि अंतोमुहुत्तप्पहुडि अणंतगुणाए विसोहीए विसुज्झमाणो आगदो।

—कसायपाहुड गा ९४। चूर्णी। भा० १२। पृ० २००

अर्थात् केवल अधः प्रवृत्तकरण के आरम्भ के समय से ही मिथ्यात्वी परिणाम विशुद्धि रूप कोटि को स्पर्श नहीं करता, किंतु इसके पूर्व ही अन्तर्मुहूर्त से लेकर अनंतगुणी विशुद्धि से विशुद्ध होता हुआ आता है। उत्तरोत्तर विशुद्ध अवस्था में लेश्या भी तेजो पद्म-शुक्ल—इन तीनों में से किसी एक विशुद्ध लेश्या होती है। आचार्य वीरसेन ने कहा है—

मिथ्यात्वमगर्त्तादतिदुस्तरादात्मानमुद्धर्त्तमनसोऽस्य सम्यक्त्व-रत्नमलब्धपूर्वमासिसादयिषोः प्रतिक्षणं क्षयोपशमोपदेशलब्ध्यादिभिरुप-बृंहितसामर्थ्यस्य संवेगनिर्वेदाभ्यामुपर्युपरि उपचीयमानहर्षस्य समयं प्रत्यनन्तगुणविशुद्धिप्रतिपत्तेरविप्रतिषेधात्।

—कसायपाहुडं गा २४।टीका। पृष्ठ २००। भाग १२

अर्थात् जो अति दुस्तर मिथ्यात्व रूपी गर्त से छुटकारा पाना चाहता है जो अलब्ध पूर्व सम्यक्त्व रूपी रत्न को प्राप्त करने का तीव्र इच्छुक है जो प्रति समय क्षमोपशमलब्धि और देशनालब्धि आदि के बल से वृद्धिंगत सामर्थ्य वाला है और जिसके संवेग और निर्वेद के द्वारा उत्तरोत्तर हर्ष में वृद्धि हो रही है उसके प्रति समय अनंत गुणी विशुद्धि अधःप्रवृत्तकरण के पूर्व भी तथा बाद में भी होती है।

उववाई सूत्र में सर्वश्रावकों को परलोक के आराधक कहे हैं। यह सम्यक्त्व तथा देश व्रत अपेक्षा से कहा गया है, परन्तु अव्रत की अपेक्षा नहीं। भगवती सूत्र (शतक ३, उ १, सू ७३) में तीसरे देवलोक के इन्द्र को आराधक कहा है। यह भी सम्यक्त्व की अपेक्षा से कहा है परन्तु अव्रत की अपेक्षा नहीं। इसी प्रकार उववाई सूत्र में मिथ्यात्वी को परलोक का अनाराधक कहा है—यह सम्यक्त्व की अपेक्षा है परन्तु निर्जरा धर्म की अपेक्षा नहीं। भगवती में मिथ्यात्वी को निर्जरा धर्म की अपेक्षा देशाराधक भी कहा है। आचार्य भिक्षु ने नव पदार्थ की चौपई में क्या कहा है, थोड़ा दृष्टिपात कीजिए—

पुन्य निपजे शुभ जोग सूं रे लाल।
ते शुभ जोग जिन आज्ञा म्हांय हो॥

ते करणी छै निरजरा तणी रे लाल ॥
पुन्य सहजां लागे छै आय हो ॥१॥
जे करणी करे निरजरा तणी रे लाल ।
तिणरी आगना दे जगनाथ हो ॥
तिण करणी करतां पुन्य निपजे रे लाल ।
ज्यूं खाखलो गोहा हुवे साथ हो ॥२॥
पुन्य निपजै तिहाँ निरजरा हुवै रे लाल ।
ते करणी निरवद्य जाण हो ।
सावद्य सूं पुन्य नहीं निपजे रे लाल ॥३॥

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर ख० १, पुण्य पदार्थ की ढाल २

अर्थात् पुण्य शुभ योग से उत्पन्न होता है । शुभ योग जिन आज्ञा में है । शुभ योग निर्जरा की करनी है । उससे पुण्य सहज ही आकर लगते हैं । जिस करनी से निर्जरा होती है, उसकी आज्ञा स्वयं जिन भगवान् देते हैं । निर्जरा की करनी करते समय पुण्य अपने ही आप उत्पन्न ( सचय ) होता है जिस तरह गेहूं के साथ तुष । जहाँ पुण्योपार्जन होगा वहाँ निर्जरा निश्चय ही होगी, जिस करनी से पुण्य की उत्पत्ति होगी वह निश्चय ही निरवद्य क्रिया होगी । सावद्य करनी से पुण्य नहीं होता ।

अस्तु सावद्य करणी से पुण्य का बंध नहीं होता है । निरवद्य करणी की भगवान ने आज्ञा दी है, चाहे कोई भी करे । जैसा कि श्रीमज्जयाचार्य ने प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध में—स्याद्वाद अधिकार मे कहा है :—

"किन्हीं प्रकार हुवै नहीं, सावद्य मांही धर्म ।
किणही प्रकार बंधै नहीं, निरवद्य थी अघकर्म ॥
किणही प्रकार हुवै नहीं, जिन आज्ञा बिन धर्म ।
किण हीं प्रकार नहीं बंधे, आज्ञा थी अघकर्म ॥

—प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध पा० ४१।४२

फिर श्रीमज्जयाचार्य ने प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध में क्या कहा है कि वीतराग देव की आज्ञा के बाहर को करणी मे न धर्म होता है और न पुण्य—

आज्ञा बिन नहीं धर्मपुण्य, देखो आँख उघार —विजय सुधीभाधिकार ११

निरवद्य कर्तव्य करने की भगवान ने आज्ञा दी है, परन्तु सावद्य कर्तव्य की नहीं। देखिए, इसके विषय में श्रीमज्जयाचार्य ने प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध के नदी अधिकार के विवेचन में क्या कहा है—

जो घणों घणों निरवद्य प्राक्रम करै।
तो घणां घणां कटै छै कर्म॥
पेंहलें गुणठाणें दान दया थकी।
कीयो छै परत संसार॥

—प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध

अर्थात् प्रथम गुणस्थान में—मिथ्यात्वी के व्रत रूप संवर नहीं होता है परन्तु निर्जरा धर्म की आराधना हो सकती है। दान, शील, तप, भावना रूप धर्म के द्वारा अनेक मिथ्यात्वी जीवों ने अपरिमित संसार से परीत संसार किया है। गोम्मटसार जीवकांड मे सिद्धांत चक्रवर्ती नेमीचन्द्राचार्य ने कहा है—

चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागरो।
जागारो सल्लेसो सलद्धिगो सम्मसुवगमई॥६५१॥

—गोम्मटसार, जीवकाण्ड

अर्थात् भव्य, संज्ञी, विशुद्धियुक्त, जागृति, उपयोग युक्त, शुभलेश्या और करणलब्धि से संपन्न आत्मा को सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है। चूंकि सम्यग्दर्शन यथार्थ मे आत्म-जागरण है। आत्म-जागरण आत्म-गम्य है।

अतः मिथ्यात्वी को सद् प्रयत्न के द्वारा सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हो सकती है। आचार्य भिक्षुने भिक्षुग्रंथ रत्नाकर भाग १, पृष्ठ २५८ में कहा है—

जे खोटी करणी मिथ्याती करें रे।
ते जिण आगना बाहिर जाण रे॥
असुध प्राक्रम तिणरो कह्यौ रे लोल।
तिणसूं पापकर्म लागें आंण रे॥२॥
असुध करणी रो असुध प्राक्रम कह्यो रे।
ते विकलां ने खबर न कांय रे॥

तिणसूं निरवद करणी मिथ्याती तणी रे लाल।
तिणनें असुध कहें ताय रे ॥ ३ ॥

—मिथ्याती री निर्णय री ढाल ३

अर्थात् मिथ्यात्वी की सावद्य करणी आज्ञा के बाहर है तथा वह अशुद्ध पराक्रम है, परन्तु विवेक-विकल जीव मिथ्यात्वी की निरवद्य करणी को भी अशुद्ध कहते हैं। आगे देखिए, आचार्य भिक्षु ने क्या कहा है—

मिथ्याती निरवद करणी करतां थकां रे।
समकत पाय पौंहता निरवांण रे॥
तिण करणी नें असुध कहें छें पापीयारे।
ते निश्चेंइ पूरा मूढ अयांण रे॥

—भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर भाग १, मिथ्याती री निर्णय री ढाल २ पृष्ठ २६२

अर्थात् मिथ्यात्वी ने निरवद्य क्रिया के द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त कर मोक्ष-पद को प्राप्त किया है। यदि इस निरवद्य करणी को कोई सावद्य—अशुद्ध कहता है तो वह विवेक-विकल है, मूर्ख है, अज्ञानी है।

जब मिथ्यात्वी सम्यक्त्व के सम्मुख होता है तब हीयमान कषाय वाला होता है क्योंकि विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होने वाले उसके वर्धमान कषाय के साथ रहने का विरोध है। कषाय पाहुड में कहा है—

"विसुद्धीए वड्ढमाणस्सेदस्स वड्ढमाणकसायत्तेण सह विरोहादो। तदो कोहादिकसायाणं विट्ठाणाणुभागोदयजणिदं-तप्पाओग्गं मंदयरकसायपरिणाम मणुभवंतो एसो सम्मत्तमुप्पादाए-दुमाढवेइ त्ति सिद्धो सुत्तस्स समुदायत्थो।"

—कषायपाहुडं गा ९४। भाग १२ पृ० २०३ टीका-वीरसेनाचार्य

अर्थात् विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होने वाले मिथ्यात्वी के वर्धमान कषाय नहीं होती है; इसलिए क्रोधादि कषायों के द्विस्थानीय अनुभाग के उदय से उत्पन्न हुए तत्प्रायोग्य मंदतरकषाय परिणाम का अनुभव न करता हुआ सम्यक्त्व को उत्पन्न करने के लिए आरम्भ करता है। अर्थात् जो मिथ्यात्वी संसार से विरक्त होकर अनित्यादि भावना का चिंतन करते रहते हैं वे सम्यक्त्व ग्रहण के

सम्मुख हो सकते हैं उसके अन्य कर्मों के साथ मोहनीय कर्म का अनुभाग विशुद्धिवश द्विस्थानीय हो जाता है। उसमें भी प्रतिसमय उसमें अनंतगुणी हानि होती जाती है इसलिए उस मिथ्यात्वी के हीयमान कषाय परिणाम का ही उदय रहता है। तथा उस मिथ्यात्वी के शुभलेश्या होती है। यतिवृषभाचार्य ने कहा है—

तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साणं णियमा वड्ढमाणलेस्सा।

कषाय पाहुडं गा १४ चूर्णी, भाग १२ पृ० २०४

अर्थात् सम्यक्त्व के सम्मुख हुए मिथ्यात्वी के अशुभ लेश्या नहीं होती है, शुभलेश्या ही होती है। तेजो, पद्म और शुक्ललेश्याओं में से नियम से कोई एक वर्धमान लेश्या मिथ्यात्वी के होती है।[1]

कतिपय जैन आचार्यों की परम्परागत मान्यता रही है कि सद्क्रिया—अहिंसादि अणुव्रतों के माध्यम से मिथ्यात्वी के निम्नलिखित पाँच लब्धियाँ भी मिल सकती हैं[2] जो सम्यग्दर्शन में अनन्यतम रूप से सहायक बन सकती हैं—

१. क्षायोपशमिकलब्धि—ज्ञानावरणीयादि कर्मों के क्षयोपशम होने पर प्राप्त होती है।

२. विशुद्धलब्धि—शुभ अध्यवसाय-शुभपरिणाम, विशुद्धलेश्या से आत्मा की निर्मलता।

३. देशनालब्धि—सत्संग करने पर प्राप्त होती है। अर्थात् सज्जन व्यक्तियों के उपदेश से प्राप्त होती है।

---

१—ण च तिरिक्ख-मणुस्सेसु सम्मत्तं पडिवज्जमाणेसु सुह-तिलेस्साओ मोत्तूणण्ण लेस्साणं संभवो अत्थि।

—कषायपाहुडं भाग १२। गा १४ टीका पृ० २०५

२—खयउवसमियविसोहि देसणपाउग्गकरणलद्धीय।
चत्तारि वि सामण्णा, करणं पुण होदि सम्मत्ते॥

—गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गा ६५०

४. प्रायोगिक लब्धि—आयुष्य कर्म को बाद देकर शेष सात कर्मों की स्थिति एक कोटाकोटि सागरोपम से न्यून हो जाना।

५. करणलब्धि—यथाप्रवृत्ति आदि करणों की प्राप्ति होना।

उपर्युक्त पाँचों लब्धियाँ—निरवद्य अनुष्ठान हैं। इन लब्धियों के द्वारा मिथ्यात्वी के आध्यात्मिक विकास होता है। जब मिथ्यात्वी मिथ्यात्व भाव को छोड़कर सम्यक्त्वी होता है तब लब्धि का अनन्यतम सहयोग रहता है। मिथ्यात्वी के जब शुभ अनुष्ठान से मिथ्या तिमिर परत क्रमशः हटते जाते हैं, तब अध्यात्म के सम्मुख गति होने लगती हैं। षट्खंडागम में आचार्य वीरसेनने कहा है—

अणादिय-मिच्छाइट्ठी वा सादियमिच्छाइट्ठी वा चदुसु वि गदीसु उवसमसम्मत्तं घेत्तूणट्ठिदजीवा ण कालं करेंति ××× चारित्रमोह उवसामगा मदा देवेसु उववज्जंति।

—षट्० खं० १,१। पु० २ पृ० ४३०

अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टि अथवा सादि मिथ्यादृष्टि जीव चारों ही गतियों में उपसम-सम्यक्त्व को ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु मरण को प्राप्त नहीं होते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व की तरह मिथ्यात्वी शुभ क्रिया से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को भी प्राप्त कर सकता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय में संज्ञी-पर्याप्त, साकारोपयोगी होना चाहिए। प्रासंगिक रूप से यहाँ यह कह देना उचित होगा कि दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम करने वाले मिथ्यात्वी के मिथ्यात्व कर्म का उदय जानना चाहिए किंतु दर्शन मोह की उपशान्त अवस्था में मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं होता, तदनन्तर उसका उदय भजनीय है।[1]

अर्थात् दर्शन मोह के उपशामक जीव का जब तक अंतर प्रवेश नहीं होता है तबतक उसके मिथ्यात्व का उदय नियम से होता है। उसके बाद उपशमसम्यक्त्व

१—मिच्छत्तवेदणीयं कम्मं उवसामगस्स बोद्धव्वं।
उवसंते आसाणे तेणंपर होइभजियव्वो।

—कषायपाहुडं भाग १२। पृ १०७

के काल के भीतर मिथ्यात्व का उदय नहीं होता। परन्तु उपशमसम्यक्त्व के काल के समाप्त होनेपर मिथ्यात्व का उदय भजनीय है।

जब जीव मिथ्यात्व अवस्था को छोड़कर सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है तब उसके दर्शन मोहनीय ( मिथ्यात्व मोहका ) कर्म का बंध नहीं होता है।[1]

कहा जाता है कि ऐहिक या पारलौकिक सुख-सुविधा के लिए जो भी शुद्ध क्रिया की जाती है उससे सकाम निर्जरा नहीं होती, क्योंकि उसका लक्ष्य गलत है परन्तु अकाम निर्जरा आवश्यमेव होती है चूँकि क्षयोपशम निष्पन्न भाव प्राणी मात्र में मिलेगा। अकाम निर्जरा भी वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के बिना नहीं होती। नारकी तथा निगोद के जीवों के वीर्यान्तराय-बालवीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से अकाम निर्जरा होती है। जैसा कि आचार्य भिक्षुने इसके विषय में नवपदार्थ की चोपई में कहा है।

इह लोक अर्थे तप करें, चक्रवर्त्यादिक पदवी काम।
केइ परलोक नें अर्थे करें, नहीं निर्जरा तणा परिणाम
केइ जश महिमा वधारवा, तप करें छें ताम।
इत्यादिक अनेक कारण करें, ते निर्जरा कहीं छें अकाम॥

—भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर, खं० १ निर्जरा पदार्थ (ढाल-२) दोहा-५-६, पृ० ४४

अर्थात् कई इसलोक के सुख के लिए, चक्रवर्ती आदि पदवियों की कामना से, कई परलोक के लिए तप करते हैं। इत्यादि अनेक कारणों से जो तप किया जाता है तथा जिस तप मे कर्म क्षय करने के परिणाम नहीं होते वह अकाम निर्जरा कहलाती है।

श्री मज्जयाचार्य ने भी लक्ष्य के गलत होने पर मिथ्यात्वी की तपस्या-शुद्ध क्रिया को सावद्य नहीं माना है, जैसा कि आपने ३०६ बोल की हुंडी में कहा है—

---

१—सम्मामिच्छाइट्ठी दंसणमोहस्सऽबंधगोहोइ।
वेदयसम्माइट्ठी खीणो वि अबंधगो होइ॥

—कसायपाहुडं गा १०२। भाग १२। पृ० ३१६

"तपस्या पिण अशुद्ध नहीं छै तेहणी रे
जे तपस्या कर गृहस्थ ने देवै जताय रे॥
ते पूजा श्लाघा रा अर्थी थकारे।
सूयगडांग आठमाध्ययने मांय रे॥"

—३०६ बोल की हुण्डी

अस्तु अब प्रश्न यह रह जाता है कि अकाम निर्जरा वीतराग देव की आज्ञा में है या नहीं! "निर्जरा" शब्द ही आत्मा की उज्ज्वलता का द्योतक है, वह चाहे अकाम निर्जरा हो, चाहे सकाम निर्जरा हो। दोनों प्रकार की निर्जरा में परस्पर तारतम्य भाव हो सकता है। कर्म दोनों प्रकार की निर्जरा से कटते हैं। जैसा कि अनुकम्पा की ढाल में आचार्य भिक्षु ने कहा है—

"निर्जरा की करणी निरमली, जिन आज्ञा में जाण रे।
ते शुभ जोग निर्वद्य त्यां, पुण्य बंध पहिछाण रे॥

—भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर ख० २ अनु० १४

अर्थात् निर्जरा की निर्मल करणी जिन आज्ञा में जाननी चाहिए। वहाँ शुभ योग का प्रवर्तन होता है तथा शुभयोग निरवद्य है जिसमें पुण्य का भी बंध होता है। मिथ्यात्वी या सम्यक्त्वी के जो तप से निर्जरा होती है उसे उपक्रम कृत निर्जरा भी कहते हैं।[1] माननीय पण्डित सुखलालजी की यह मान्यता है कि सकाम तप अभ्युदय को साधता है, और निष्काम तप निःश्रेयस् को साधता है।[2] जैन दर्शन के अद्भुत विद्वान् मुनि श्री नथमलजी ने कहा है—

"धर्म हेतुक निर्जरा नवतत्त्वों में सातवाँ तत्त्व है। मोक्ष उसीका उत्कृष्ट रूप है। कर्म की पूर्ण निर्जरा ( विलय ) जो है, वही मोक्ष है, कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है, दोनों में मात्रा भेद हैं, स्वरूप भेद नहीं है।"

—जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व पृ० १४

---

(१) तपसा निर्जरा या तु सा चोपक्रमनिर्जरा।

—चन्द्रप्रभचरित्रम् १८।११० पूर्वार्ध।

(२) तत्त्वार्थसूत्र अ ९। सू ३ की व्याख्या

कर्म ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने कहा है—

तथाहि समुन्नतातिबहलजीमूतपटलेन दिनकररजनिकरकर-निकरतिरस्कारेऽपिनैकान्तेन तत्प्रभानाशः संपद्यते, प्रतिप्राणिप्रसिद्ध-दिनरजनीविभागाभावप्रसंगात्। एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदये काचिदविपर्यस्तापि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्या दृष्टेरपि गुणस्थान-संभवः।

—कर्मग्रन्थ २ टीका

अर्थात् अत्यन्त घोर बादलों द्वारा सूर्य और चन्द्रमा की किरणें तथा रश्मियों का आच्छादन होने परभी उसका एकांत तिरोभाव नहीं हो पाता। अगर ऐसा हो तो फिर रात और दिन का अंतर ही न रहे। प्रबल मिथ्यात्व के उदय के समय भी दृष्टि किंचित् शुद्ध रहती है। इसीसे मिथ्यादृष्टि के भी गुणस्थान सभव होता है।

प्रत्येक जीव के कुछ न कुछ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रहते ही है। मति ज्ञाना-वरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय कर्मों का किंचित् क्षयोपशम नित्य रहने से, उस क्षयोपशम के अनुपात से जीव कुछ मात्रा में स्वच्छ-उज्ज्वल रहता है। जीव की यह उज्ज्वलता निर्जरा है। नंदीसूत्र में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को तथा मति अज्ञान और श्रुतअज्ञान को एक दूसरे का अनुगत कहा है।[१]

जिस प्रकार सदोष स्वर्ण प्रदीप्त अग्नि द्वारा शुद्ध होता है, वैसे ही मिथ्यात्वी की तपाग्नि से विशुद्धि होती है। बाह्य और आभ्यंतर तप रूप अग्नि के देदीप्य-मान होने पर मिथ्यात्वी पूर्व कर्मों को भस्म कर देता है।

कतिपय विद्वानों की मान्यता है कि जिसके संवर नहीं है उसके सकाम निर्जरा नहीं है।[२] किन्तु संवर के बिना भी सकाम निर्जरा होती है। यथाज्ञान्

१—जत्थ आभिणिबोहियनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्था-भिणिबोहियनाणं दोऽवि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं।

—नंदी० सूत्र २४

२—सा सकामा स्मृता जैनैर्या यतोपक्रमैः कृता।
अकामा स्वविपाकेन यथाश्वभ्रादिवासिनाम्।

—धर्मसमोभ्युदयम् २१।१२२

महावीर ने अभिनिष्क्रमण के पहले गृहस्थावास में साधिक दो वर्ष तक शीतोदक-सचित्त जल का भोग नहीं किया। उस समय भगवान् चतुर्थ गुणस्थान में स्थित थे। चूँकि चतुर्थ गुणस्थान में संवर नहीं होता है परन्तु निर्जरा—सकाम-अकाम दोनों हो सकती है। कहा है—

अविसाहिए दुवे वासे, सीतोदं अभोच्चा णिक्खंते।

—आया० श्रु १। अ ६। उ १। ११ पूर्वार्ध

टीका—शीलांकाचार्य—XXX 'अविसाहिए' इत्यादि अपि साधिके द्वे वर्षे शीतोदकमभुक्त्वाऽनभ्यवहृत्या पीत्वेत्यर्थः, अपरा अपि पाद-धावनादिकाः प्रासुकेनैव प्रकृत्या, ततो निष्क्रांतो यथा च प्राणातिपातं परिहृतवानेवं शेषव्रतान्यपि पालितवानिति। ×××।

अर्थात् भगवान महावीर ने कुछ अधिक दो वर्ष तक पानी पीने के लिए सचित्त जल का व्यवहार नहीं किया। टीकाकार ने कहा है कि अपरा-पैर वगैरह धोने के लिये भी प्रासुक जल का सहज उपयोग नहीं किया था। प्राणातिपात का परिहार किया तथा इसीप्रकार अन्य व्रतों का भी (सहज भाव से) पालन किया।

आवश्यक निर्युक्ति[1] के टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने कहा है कि साधिक दो वर्ष तक भगवान् महावीर ने प्रासुक ऐषणीय आहार ग्रहण किया, सचित्त जल का भोग नहीं किया। प्रासुक जल से सर्व स्नान नहीं किया, केवल लोकमर्यादा से प्रासुक जल से हस्त, पाद, मुख मात्र धोये। केवल निष्क्रमण महोत्सव के अवसर पर ही भगवान् ने सचित्त उदक से स्नान किया। यावज्जीव विशुद्ध ब्रह्मचर्य व्रत पालन किया। भगवान् नित्य कायोत्सर्ग करते, ब्रह्मचर्य में तत्पर रहते, स्नान करते, विशुद्ध ध्यान ध्याते।[2]

१—आव० नि० गा ४५८—टीका

२—कायोत्सर्गपरो नित्यं ब्रह्मचर्यपरायणः।
स्नानांगरागरहितो विशुद्धध्यानतत्परः।

—त्रिशलाका० पर्व १०। सर्ग २। गा १६७

एकत्व भावना और सम्यक्त्व भावनाओं से भगवान् भावित चित्त वाले थे।[1]

इस प्रकार भगवान् महावीर ने दीक्षा ग्रहण के दो वर्ष पूर्व सावद्य आरम्भ छोड़ा था। प्रत्याख्यान रूप संवर चतुर्थ गुणस्थान में भी नहीं होता है। इससे हम समझ सकते हैं कि मिथ्यात्वी के भी प्रत्याख्यान रूप संवर नहीं होता है परन्तु मोक्षाभिलाषा से अनित्य भावना का चिंतन करना, एकत्व भावना का चिंतन करना, यथाशक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करना, आदि निरवद्य क्रिया से मिथ्यात्वी के भी संवर के बिना सकाम निर्जरा होती है।

अस्तु मिथ्यात्वी निरवद्य क्रिया—निर्जरा धर्म की अपेक्षा अणुव्रती हो सकता है। मिथ्यात्वी भी वैरागी हो सकता है। उसकी निरवद्य करनी-क्रिया वैराग्य भावनाओं से उत्पन्न हो सकती है।

### ४ : मिथ्यात्वी और सामायिक

जिसके द्वारा समता की प्राप्ति हो सके उसे सामायिक कहते हैं। सामायिक के चार भेद हैं, यथा—१. सम्यक्त्व सामायिक, २. श्रुतसामायिक, ३. विरति सामायिक तथा ४. विरताविरति सामायिक।

१—सम्यक्त्व सामायिक—जीवादि तत्त्वों में यथार्थ प्रतीति—यथार्थतत्त्व श्रद्धा को सम्यक्त्व सामायिक कहते हैं।

२—श्रुत सामायिक-श्रुत—ज्ञान विशेष की आराधना करने को श्रुत-सामायिक कहते है।

३—विरति सामायिक—सावद्य वृत्ति के प्रत्याख्यान को विरति सामायिक कहते हैं। पापकारी प्रवृति और अन्तर्लालसा—इन दोनों को सावद्यवृत्ति कहते हैं। इनका त्याग करना विरति सामायिक ( संवर ) है। यह सामायिक छट्ठे से चौदहवें गुणस्थान तक होती है।

४—विरताविरति सामायिक—यह सामायिक पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों के होती है। जो एक देश से विरत होते हैं। इसे देशचारित्र भी कहते हैं।

श्रुत आदि सामायिक के द्वारा संसार रूपी अटवी को पार किया जा सकता है। मिथ्यात्वी में उपर्युक्त चार सामायिक में से एक श्रुत सामायिक होती है।

---

१—एगत्तगए पिहियच्चे, से अहिन्नायदंसणे संते।

—आया० श्रु १। अ ९। गा ११। उत्तरार्ध

वे श्रुत सामायिक द्वारा अनंत संसारी से परिमित संसारी हो सकते हैं। श्रुत संपन्नता से पदार्थों का ज्ञान होता है—श्रुतसंपन्न जीव चतुर्गति रूप संसार वन मे नहीं भटकता।

यह श्रुत सामायिक—अभवसिद्धिक मिथ्यात्वी और भवसिद्धिक मिथ्यात्वी—दोनों में हो सकती है। कतिपय मिथ्यात्वी श्रुत सामायिक द्वारा रागद्वेष रूपी ग्रंथि के रहस्य को समझकर उसका छेदन-भेदन कर डालते हैं। फलस्वरूप वे मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यक्त्व सामायिक को भी प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् दर्शन संपन्नता से युक्त हो जाते हैं। आगम में कहा है—

दंसणसंपण्णयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? दंसणसंपण्णयाए णं भवमिच्छत्तछेयणं करेइ।

—उत्त०२९।६०

अर्थात् दर्शन संपन्नता से जीव भव-भ्रमण के कारण मिथ्यात्व का नाश कर देता है। अतः मिथ्यात्वी श्रुत-ज्ञान का अभ्यास करता रहे। निश्चय नय से सम्यग्-दृष्टि सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं, व्यवहार नय से मिथ्यादृष्टि भी सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं।[1] आचार्य मलयगिरि ने कहा है—

सामायिकं, किं तदित्याह—चतुर्णां—सम्यक्त्वसामायिकश्रुत-सामायिकदेशविरतिसामायिकसर्वविरतिसामायिकानाम्।

—आव० नि गा १०५—टीका

अर्थात् सामायिक चार प्रकार की है, यथा—सम्यक्त्व, श्रुत, देशविरति और सर्वविरति सामायिक। अभव्यसिद्धिक मिथ्यात्वी को भी श्रुत लाभ हो सकता है। कहा है—

अभव्यस्यापि कस्यचिद्यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्यार्हदादिविभूतिसन्दर्शनतः प्रयोजनान्तरतो वा प्रवर्त्तमानस्य श्रुतसामायिक-लाभो भवति, न शेष सामायिकलाभः।

—आव० नि गा १०७—टीका

---

१—निश्चयनयस्य सम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, व्यवहार-नयस्य तु मिथ्यादृष्टिः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते।

—विशेषा० गा २७१९—टीका

अर्थात् अभव्य भी कदाचित् यथाप्रवृत्तिकरण के निकट आनेपर श्रुतसामायिक का लाभ ले सकते हैं। तीर्थङ्करादि की पूजा सत्कार को देखकर अभव्य भी कभी-कभी श्रुतसामायिक का लाभ ले सकते हैं।[1]

यद्यपि यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के द्वारा भव्यात्मा ही सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकती है, ( अभव्यात्मा नहीं। अभव्यात्मा निर्जरा धर्म के द्वारा आध्यात्मिक विकास कर सकती है परन्तु स्वभावतः अभव्यात्मा सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकती है। आगम में यह कथन है कि सम्यक्त्व के बिना संवर धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है।) तत्पश्चात् आध्यात्मिक विकास करते हुए श्रुतादि सामायिक का लाभ ले सकते हैं परन्तु अभव्यात्मा केवल यथाप्रवृत्तिकरण को प्राप्त कर रह जाता है अर्थात् अभव्यात्मा शेष के दो करण ( अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण ) को प्राप्त नहीं कर सकती है परन्तु यथाप्रवृत्तिकरण में प्रविष्ट जीव श्रुत सामायिक का लाभ ले सकते हैं। जैसा कि विशेषावश्यक भाष्य की टीका में कहा है—

अर्हदादिविभूतिमतिशयवतीं दृष्ट्वा 'धर्मादेवंविधः देवत्व-राज्यादयो वा प्राप्यन्ते' इत्येवमुत्पन्नबुद्धेरभव्यस्यापि ग्रन्थिस्थानं प्राप्तस्य, 'तद्विभूतिनिमित्तम्' इति शेषः ; देवत्व-नरेन्द्रत्व-सौभाग्य-रूप-बलादिलक्षणेनाऽन्येन वा प्रयोजनेन सर्वथा निर्वाणश्रद्धानरहितस्याऽभव्यस्यापि श्रुतसामायिकमात्रस्य लाभो भवेत्, तस्याप्येकादशांग-पाठानुज्ञानात्। सम्यक्त्वादि लाभस्तु तस्य न भवत्येव।

—विशेषा० गा १२१९—टीका

अर्थात् तीर्थंकरादिकी विभूति को देखकर तथा सत्कार-सम्मान राज्यादि की कामना से—सर्वथा मोक्ष की अभिलाषा के बिना भी वे अभव्यात्माएँ किंचित् भी यदि इष्टकारी अनुष्ठान ( सद्-अनुष्ठान ) करती है तो उन्हें

---

१—तित्थंकराइपूयं, दट्ठुं अण्णेण वा वि कज्जेण।
सुयसामाइयलाहो होज्ज अभव्वस्स गंठिम्मि।

—विशेषा० गा १२१९

अज्ञान ( ज्ञान ) रूप श्रुत सामायिक मात्र का लाभ होता है क्योंकि अभव्यात्मा भी ग्यारह अंग का अध्ययन कर सकती है।

जन परम्परागत यह भी मान्यता रही है कि कोई एक अभव्यात्मा पूर्व विद्या का भी अध्ययन कर सकती है।

मिथ्यात्वी श्रुत सामायिक के द्वारा भव रूपी अटवी से पार हो सकते हैं। जिस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत की सम्यग् आराधना से भव रूपी समुद्र को पार किया जा सकता है उसी प्रकार श्रुतसामायिक की आराधना से मिथ्यात्वी सम्यक्त्व को प्राप्त कर भव रूपी समुद्र को पार कर सकते हैं। श्रुत सामायिक की आराधना करनी-कल्प वृक्ष, कामधेनु और चिंतामणि से भी बढ़कर है और अनुपम सुखको देने वाली है।

कहीं कहीं आगम में मिथ्यात्वी श्रुत की आराधना के अधिकारी नहीं माने गये हैं वहाँ सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन की अपेक्षा है। किस विषय का प्रतिपादन किस समय, देश, स्थिति, नियति आदि के अनुसार कहा गया है। व्यापक दृष्टि से अध्येता को चिंतन करना चाहिए। एकांत आग्रह में दृष्टि सम्यग् नहीं बन सकती है।

सूत्र अर्थ और तदुभय भेद से श्रुत सामायिकके तीन भेद होते हैं अथवा अक्षर, संज्ञी, सम, सादि आदि भेद से श्रुत सामायिक के अनेक प्रकार हैं—कहा है—

"अक्खर सण्णी सम्मं साइयं खलु सपज्जवसियं च, गमियं अंगपविट्ठं" इत्यादिना प्रतिपादितादक्षरश्रुतानक्षरश्रुतादिभेदाद् बहुधा वा श्रुतसामायिकं भवति।"

—विशेभा० गा २१७७—टीका

अर्थात् अक्षर श्रुत, ( अक्षरों द्वारा कहने योग्य भाव की प्ररूपणा करना ) अनक्षर श्रुत, संज्ञी श्रुत, (मनवाले प्राणी का श्रुत) सम्यग्श्रुत, (सम्यग्दृष्टि का श्रुत) सादिश्रुत, सपर्यवसितश्रुत, गमिकश्रुत ( १२ वाँ अंग दृष्टिवाद। इसमें आलापक पाठ-सरीखे पाठ होते हैं—सेसं तहेव भाणियव्वं—कुछ वर्णन चलता है और बताया जाता है—शेष उस पूर्वोक्त पाठ की तरह समझना चाहिए। इस प्रकार एक सूत्र पाठ का संबंध दूसरे सूत्र पाठ से जुड़ा रहता है।)

अंगप्रविष्ट श्रुत ( गणधरों के रचे हुए आगम—१२ अंग, जैसे आचारांग, सूयगडांग आदि ) आदि। इस प्रकार अक्षर श्रुत, अनक्षरश्रुतादि के भेद से श्रुत सामायिक के बहुत प्रकार हैं।

सिद्धांत ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मिथ्यात्वी श्रुत सामायिक के द्वारा अपना आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं।

प्रासंगिक रूप से यह कह देना उचित है कि कारक, रोचक और दीपक के भेद से सम्यक्त्व के तीन भेद होते हैं जिसमें दीपक सम्यक्त्व मिथ्यात्वी में हो सकती है। कहा है—

अथवा, कारक-रोचक-दीपकभेदात् ××× त्रिधा सम्यक्त्वं भवति। ××× यस्तु स्वयं तत्त्वश्रद्धानरहित एव मिथ्यादृष्टिः परस्य धर्मकथादिभिस्तत्त्वश्रद्धानं दीपयत्युत्पादयति तत्संबन्धिसम्यक्त्वं दीपकमुच्यते, यथाऽङ्गारमर्दकादिनाम्, इदं सम्यक्त्वहेतुत्वात् सम्यक्त्वमुच्यते, परमार्थतस्तु मिथ्यात्वमेवेति।

—विशेभा० गा २६७७ टीका

अर्थात् कारक, रोचक और दीपक के भेद से[1] सम्यक्त्व के तीन भेद हैं। जिसमें दीपक सम्यक्त्व—जो मिथ्यादृष्टि स्वयं तत्त्वश्रद्धान से शून्य होते हुए दूसरों में उपदेशादि द्वारा तत्त्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है। दीपक सम्यक्त्व वाले मिथ्यादृष्टि जीव के उपदेश आदि रूप परिणाम द्वारा दूसरों में सम्यक्त्व उत्पन्न होने से उसके परिणाम दूसरों की समकित में कारण रूप हैं। समकित के कारण में कार्य का उपचार होने पर आचार्यों ने इसे समकित कहा है। इसलिये मिथ्यात्वी मे दीपक समकित होने के संबध मे शंका का स्थान नहीं है। परमार्थतः वह मिथ्यात्वी ही है।

इस प्रकार मिथ्यात्वी में दीपक सम्यक्त्व के होने से यत्किंचित् सम्यक्त्व सामायिक भी हो सकती है। तत्त्वतः सम्यक्त्व सामायिक नहीं होती है क्योंकि मिथ्यात्वी ने अभी सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं किया है।

---

१—धर्म संग्रह अधिकार—२

# अष्टम अध्याय

## १ : मिथ्यात्वी-आराधक और विराधक

आगम में कहीं-कहीं मिथ्यात्वी को संपूर्ण रूप से अनाराधक कहा गया है वह पूर्ण आराधना की दृष्टि की अपेक्षा कहा गया है। रायप्रसेणी सूत्र में सुर्याभदेव को तथा भगवती सूत्र में ईशानेन्द्र तथा चमरेन्द्र को जो आराधक कहा गया है वह सम्यक्त्वी की अपेक्षा आराधक जानना चाहिये, परन्तु व्रत की अपेक्षा उन्हें आराधक नहीं कहा जा सकता।[1]

धर्म-अधर्म-मिश्र पक्ष की अपेक्षा सुर्याभदेव, चमरेन्द्र, ईशानेंद्र की ओर थोड़ा ध्यान दीजिये। उपर्युक्त तीनों देवों में सिद्धान्त के अनुसार चतुर्थ गुणस्थान पाया जाता है। चतुर्थ गुणस्थानमें अधर्म पक्ष होता है। संवरधर्म की अपेक्षा सुर्याभदेव अनाराधक कहे जायेंगे। भगवान ने सम्यक्त्व धर्म की अपेक्षा उन्हें परलोक के आराधक भी कहे हैं।

वस्तु पूर्ण आराधना की दृष्टि से बाल तपस्वी को उववाई सूत्र मे अनाराधक कहा गया है तथा भगवती सूत्र में ( श०८।उ१० ) में देश आराधक कहा है। जिसके श्रुत अर्थात् सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन हैं, परन्तु शील—आचार नहीं है। ऐसे पुरुष को देश विराधक कहा है।[2] अर्थात् उसने धर्म की आराधना प्रायः की है, देश-किंचित् बाकी है, अतः उसे देश विराधक कहा है। मूल पाठ इसप्रकार है—

"तत्थणं जे से दोच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलवं सुयवं अणुवरए, विण्णाय धम्मे एस णं गोयमा। मए पुरिसे देसे विराहए पन्नत्ते।"

—भग० श ८। उ १० सू ४१०

जिस प्रकार पूर्व दिशा मे स्कंधरूप धर्मास्तिकाय नहीं है किन्तु धर्मास्तिकाय के देश हैं, प्रदेश हैं। उसी प्रकार बालतपस्वी को संपूर्ण आराधना की दृष्टि

(१) भ्रमविध्वसनम् अधिकार १

(२) भगवती श ८। उ १०

से अनाराधक कहा गया है तथा देश आराधना की दृष्टि से देश आराधक कहा गया है। आगम में कहा है—

इंदाणं भंते! ××× नोधम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पएसा, नोअधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पएसा, नोआगासत्थिकाए, आगासत्थिकायस्स देसे, आगासत्थिकायस्स पएसा।

—भग० श० १० उ १। सू १

ऐन्द्री (पूर्व) दिशा में स्कंध रूप धर्मास्तिकाय नहीं है, किन्तु धर्मास्तिकाय का देश है, धर्मास्तिकाय के प्रदेश हैं। अधर्मास्तिकाय नहीं है, किन्तु अधर्मास्तिकाय का देश है, अधर्मास्तिकाय के प्रदेश हैं। आकाशास्तिकाय नहीं है किन्तु आकाशास्तिकाय का देश है आकाशास्तिकाय के प्रदेश हैं। इस न्याय से प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव—मिथ्यात्वी, सद्क्रिया करते हुए भी सम्पूर्ण आराधना की दृष्टि से अनाराधक हैं।[1] परन्तु देश आराधना की दृष्टि से आराधक हैं।

मिथ्यात्वी को उववाई सूत्र में—सम्यक्त्व और संवर की अपेक्षा अनाराधक कहा है परन्तु निरवद्य क्रिया की अपेक्षा नहीं।

भगवती सूत्र में शुद्धक्रिया-निर्जराधर्म की अपेक्षा मिथ्यात्वी को देशाराधक तथा उत्तराध्ययन में सुव्रती कहा है।

## १ : (क) मिथ्यात्वी की शुद्ध क्रिया और आराधना—विराधना

मिथ्यात्वी निर्जरा रूप निरवद्य करणी की आराधना कर सकता है। मिथ्यात्वी की निर्जरा की करणी आज्ञा के अंतर्गत है या बाहर।[2]

यदि मिथ्यात्वी की निरवद्य क्रिया—शुद्ध क्रिया सर्वथा प्रकार आज्ञा के बाहर होती तो भगवान् ने भगवती सूत्र में ( श ८। उ १० ) जहाँ चार पुरुषों का निरूपण किया गया है उसमें मिथ्यात्वी के दो विभाग करके एक पुरुष को देशाराधक तथा दूसरे पुरुष को सर्व विराधक क्यों कहा ?

"अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि—एवं खलु मए चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तंजहा—१—सीलसंपण्णे नामं एगे नो

१—उववाई सूत्र
२—सेन प्रश्नोत्तर

सुयसंपण्णो, २—सुयसंपण्णो नामं एगे नो सीलसंपण्णो, ३—एगे सीलसंपण्णे वि सूयसंपण्णो वि, ४—नो सीलसंपण्णे नो सुयसंपण्णे।"

तत्थ णं जे से पढमे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं असुयवं, उवरए, अविण्णायधम्मे, एसणं गोयमा! मए पुरिसे देसाराहए पन्नत्त ×××।

तत्थणं जे से चउत्थे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलवं, असुयवं, अणुवरए, अविण्णायधम्मे, एस णं गोयमा! मए पुरिसे सव्वविराहए पन्नत्ते।"

—भगवती श ८। उ १०। सू ४५०

अर्थात् चार प्रकार के पुरुष होते हैं; यथा—

१—कोई शील संपन्न है, परन्तु श्रुत संपन्न नहीं है।

२—कोई श्रुत संपन्न है, परन्तु शील संपन्न नहीं है।

३—कोई पुरुष श्रुत संपन्न भी है और शील संपन्न भी है।

४—कोई पुरुष शील संपन्न भी नहीं है और श्रुत संपन्न भी नहीं हैं।

१—इनमें से प्रथम प्रकार का पुरुष, वह शीलवान् है, परन्तु श्रुतवान् नहीं है। वह पाप कर्म से उपरत (पापादि से निवृत्ति) है, परन्तु धर्म को नहीं जानता है। इस प्रकार के पुरुष को देश आराधक कहा गया है।

४—जो चौथा पुरुष है, वह शील और श्रुत दोनों से रहित है। वह अनुपरत है और धर्म का भी ज्ञाता नहीं है। ऐसे पुरुष को सर्व विराधक कहा है।

भगवान् ने मिथ्यात्वी की निरवद्य क्रिया के दृष्टिकोण को लेकर एक को मोक्ष का देश आराधक कहा तथा दूसरे प्रकार का मिथ्यात्वी जो सद्क्रिया का आचरण नहीं करता, उसे मोक्षमार्ग का सर्वविराधक कहा है। जो मिथ्यात्वी सद्क्रिया अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करना, सुपात्रदान देना, अहिंसा का पालन करना, सत्य का आचरण करना, चोरी नहीं करना, आदि) करने में तत्पर रहता है उसे प्रथम पुरुष की श्रेणी में और जो मिथ्यात्वी कुछ भी सद्क्रिया नहीं करता उसे चतुर्थ पुरुष की श्रेणी मे रखा गया है।

यहाँ पर 'चतुर्थ पुरुष' अर्थात् वह मिथ्यात्वी जो किंचित् भी सद्क्रिया का व्यावहारिक दृष्टि में आचरण नहीं करता, उसका संक्षेप में यहाँ वर्णन कर देना उचित होगा। यह मिथ्यात्वी सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय में से किसी की भी आराधना नहीं करता। वह हरदम महारंभ तथा महापरिग्रह मे तल्लीन रहता है, क्रूर से क्रूर कर्मों का करने वाला होता है तथा जो अत्यन्त क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, कलहकारी विषयासक्त, द्वेषी तथा चुगलखोर होता है—वह हरदम पाप कार्यों मे तत्पर रहता है—हिंसा करने में, झूठ बोलने मे, चोरी करने में, व्यभिचार सेवन करने में, परिग्रह का संचय करने में हरदम लवलीन रहता है तथा उन कार्यों के करने में अपना परम धर्म भी समझ बैठता है। वह मिथ्यात्वी महाकपट से झूठ बोलने में हिचकिचाता नहीं है। वह व्यक्तियों को हरदम यही प्रेरणा देता रहता है कि क्षुद्र प्राणियों की हिंसा करने में कोई दोष नहीं है।[1] हिंसादि पाँच आस्रव द्वारों के सेवन करने से कभी महासुख की प्राप्ति हो सकती है। वह मिथ्यात्वी कट्टर नास्तिक होता है। जो पर पुरुष की संपत्ति को अनेक छल-छिद्र से लूटने वाला होता है, उसे धर्म के प्रति आन्तरिक द्वेष होता है। जिसके अध्यवसाय-परिणाम प्रायः कृष्णादि तीन हीन लेश्या के होते हैं। तथा वह मिथ्यात्वी कहता है कि उपदेश को तो मेरे से लो। इस प्रकार जो मिथ्यात्वी महान् पापों के करने मे भी संकुचाता नहीं है, उसे भगवान् ने मोक्ष मार्ग का सर्वविराधक कहा है अर्थात् उस मिथ्यात्वी ने ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र में से किसी की भी किंचित् भी आराधना नहीं की है, अतः वह किंचित् भी मोक्ष मार्ग की साधना करने का अधिकारी नहीं है। इसके विषय में गौतम गणधर के प्रश्न करने पर प्रत्युत्तर में भगवान् ने कहा है—हे गौतम! जिस प्रकार नाव के बिना अथाह समुद्र को पार करना महा कठिन हो जाता है उसी प्रकार हे गौतम! इस महा घोर मिथ्यात्वी के लिये संसार रूपी भवभ्रमण से पार हो जाना महा कठिन हो जाता है। इस मिथ्यात्वी के लिये भगवान् ने बड़ा ही रोचक दृष्टांत दिया है जीव रूपी गेंद के समान अपने कृत महाघोर कर्मों रूपी डंडों से अनंतकाल से भव रूपी समुद्र मे

1—आचारांग सूत्र

भटक रहा है, और भटकता रहेगा, परन्तु उसको शांति के लिये स्थान की प्राप्ति होना महादुर्लभ कहा गया है। वह बड़ा धूर्त और मांस लोलुपी होता है। उत्तराध्ययन में कहा है।

माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेयणं जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं॥
दुहओ गई बालस्स, आवई वहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलया सढे॥
तओ जिए सई होई, दुविहं दुग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मगा, अद्धाए सुचिरादवि॥

—उत्त० अ ७, गा १६ से १८

अर्थात् इस महाघोर मिथ्यात्वी की गति नरक और तिर्यंच की कही है। वह मनुष्यत्व को सपूर्ण रूप से खो बैठता है। मूर्ख और लोलुपी जीव देव और मनुष्यत्व को हार जाता है। वह महाघोर मिथ्यात्वी जीव सदा नरक और तिर्यंच मे बहुत लम्बे काल तक दुःख पाता है जहाँ से निकलना महादुर्लभ है। इस प्रकार के मिथ्यात्वी को अव्रती बाल अज्ञानी कहा जाता है परन्तु बाल तपस्वी नहीं कहा जा सकता है। वह नारकियों मे भी दक्षिणगामी नारकियों में अधिकतर उत्पन्न होता है। दशाश्रुतस्कंध में कहा है।

से भवइ महिच्छे, महारंभे, महापरिग्गहे, अहम्मिए, अहम्माणुए, अहम्मसेवी, अहम्मिट्ठे, अहम्मक्खाई, अहम्मरागी, अहम्मपलोई, अहम्मजीवी, अहम्मपलज्जणे, अम्मसीलसमुदायारे अहम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ।

—दशाश्रुतस्कंध अ ६। सू ३

अर्थात् वह (महामिथ्यात्वी) नास्तिक राज्य, विभव, परिवार आदि की बड़ी इच्छा वाला होता है, इच्छा परिणाम की मर्यादा रहित पचेन्द्रिय आदि जीवों का उपमर्दन करने वाला महारम्भी, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, वास्तु-घर और क्षेत्रादि का महापरिग्रही, श्रुत-चारित्र रूप धर्म से विपरीत चलनेवाला, सावद्य मार्ग पर चलने वाला, पुत्र कलत्रादि के लिये षट्काय का उपमर्दन करनेवाला, महा-

अधर्मी, अधर्म की प्ररूपणा करने वाला, अधर्म में ही अनुराग रखने वाला, अधर्म को देखने वाला, अधर्म से जीने वाला, अधर्म से खुश होने वाला, अधर्म स्वभाव वाला और वह केवल अधर्म से ही जीविका उपार्जन करता हुआ विचरता है। आगे कहा है—

"हण छिन्द, भिंद, विकत्तए, लोहियपाणी, चंडो, रुद्दो, खुद्दो असमिक्खियकारी, साहसिओ, उक्कंचणे, वंचणे, माई, नियडी, कूडमाई, साइसंपओगबहुले, दुस्सीले दुप्परिचये, दुच्चरिए, दुरणुणए, दुव्वए, दुप्पडियाणंदे, निस्सीले, निव्वए, निग्गुणे, निम्मेरे, निप्पच्चक्खाण-पोसहोववासे असाहू।"

—दशाश्रुतस्कंध अ० ६। सू ४

अर्थात् वह मिथ्यात्वी कहता है—जीवों को मारो, छेदन करो, भेदन करो। स्वयं जीवों को काटने वाला होता है, उसके हाथ रुधिर से लिप्त रहते हैं, प्रचंड क्रोधी, प्राणियों को भय उपजाने वाला, जीवों को पीड़ा उत्पन्न करने वाला, बिना विचारे हिंसा करनेवाला, साहसिक, किसी को शूली फांसी पर चढ़ाने के लिए उत्कण्ठित अथवा घूस लेनेवाला, वंचना करनेवाला ठग, मायावी, गूढ़ मायावी, अनेक प्रकार की क्रिया से दूसरों को ठगने वाला, दूसरों को ठगने के लिए मँहगा द्रव्य के साथ सस्ते द्रव्य का संयोग करनेवाला, खराब स्वभाव वाला, बहुत समय तक उपकार किया हो तो भी थोड़ी देर में कृतघ्नता करने वाला, दुष्ट आचरण करने वाला, दुःख से काबू में आने वाला, दुष्ट प्रतिज्ञा वाला, दूसरों के दुःख में आनन्द मनाने वाला, अथवा उपकारी का उपकार न मानकर उलटा उसका दोष निकालने वाला, ब्रह्मचर्य की मर्यादा रहित, नियम रहित, दर्शन, चारित्र आदि गुणों से रहित अथवा क्षान्ति आदि गुणों से रहित, धर्म नियम की मर्यादा से रहित, सर्व पापमयी प्रवृत्ति करने वाला होता है।

प्रायः उसके अशुभ परिणाम रहते हैं और अशुभ परिणाम से बन्धे हुए कर्मों का भविष्य में कैसा कडुवा फल भोगना पड़ेगा—इस बात का विचार नहीं करने वाला होता है। मस्तक अथवा अंगुली आदि को हिलाकर "अरे मूर्ख! तुझे पता लगेगा, ऐसे तिरस्कार से बोलने वाला व्यंग आदि से बात करने वाला भूख, प्यास आदि से दुःख देने वाला होता है।" कहा है—

से जहा नामए—केइ पुरिसे कलम-मसूर-तिलमुग्गमासनिप्फाव-कुलत्थ-आलिसिंदग-जवजवाएवमाइएहिं अयत्ते कूरे मिच्छादंडं पउंजइ। एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए तित्तर-वट्टग-लावग-कवोय-कविंजल-मिय-महिस-वराहगाहगोह-कुम्मसरीसिवाइएहिं अयत्ते कूरे मिच्छादण्ड पउंजइ।

—दशाश्रुतस्कंध अ ६। ८

जैसे कोई पुरुष कलम, मसूर, तिल, मूंग, उड़द, निष्पाव—वालेल, कुलत्थ, आलिसिंदक,—चवला, जवजव—जवार आदि धान्य को अयत्नशील हो क्रूरता से उपमर्दन करता हुआ मिथ्यादंड का प्रयोग करता है इसी प्रकार (महामिथ्यात्वी) नास्तिक वादी तित्तिर, बटेर, लावक, कबूतर, कुरज, मृग, महिष, शूकर, मकर, गोह, कच्छप, सर्प आदि निरपराध प्राणियों को अयत्नशील होकर क्रूरता से अर्थात् इनके वध में कोई पाप नहीं है—इस बुद्धि से हिंसा करता है। छोटे से अपराध के होने पर वह अपने आप ही उनको बड़ा भारी दंड देता है। अपराधियों का खाना-पीना बंद कर दो आदि। कहा है—

एवामेव ते × × × सचिणिता बहुइं पावाइं कम्माइं ओसण्ण समारकडेणं कम्मुण्णा, से जहा नामए—अयगोलेइ वा सेलगोलेइ वा उदयंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता अहे धरणी तलपइट्ठाणे भवइ, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाए वज्जबहुले धूणबहुले पकबहुले वेरबहुले दंभनियडिसाइबहुले आसायणबहुले अजसबहुले बहुले उस्सण्ण तसपाणघाई कालं मासे काल किच्चा धरणितलमइवइत्ता अहेनरग-धरणितलपइट्ठाणे भवइ।

—दशाश्रुतस्कंध अ ६।१४

अर्थात् वह महामिथ्यात्वी—नास्तिकवादी वेरभावों का सचय कर अनेक पापों का उपार्जन करते हुए प्रायः भारी कर्मों की प्रेरणा से—जैसे लोहे का गोला अथवा पत्थर का गोला जल मे फेंका हुआ जल का अतिक्रमण करके नीचे भूमि के तल पर जा बैठता है उसी प्रकार पापी पुरुष—महाघोर मिथ्यात्वी अतिपापिष्ठ पापों से भरा हुआ अथवा वज्र जैसे कर्मों से भारी क्लेशकारी कर्मों

से भारी, पापरूप कीचड़ से भरे हुए, बहुत जीवों को दुःखदायी होने से वैरभाव वाले महारंभी, महाकपटी और महाधूर्त, देवगुरु-धर्म की आशातना करने वाले, जीवों को दुःख देने से अप्रतीति अविश्वास वाले, प्रतिषिद्ध आचरण से अपकीर्ति वाले, प्रायः द्वीन्द्रियादि प्राणियों की हिंसा करने वाले पापी पुरुष मरण के समय कालधर्म को प्राप्त कर, पृथ्वीतल का अतिक्रमण कर अधोनरकधरणीतल में—तमतमादि नरक में जाते हैं। कहा है—

से जहा नामए रुक्खे सिया, पव्वयग्गे जाए मूलच्छिन्ने अग्गे गुरुए जओ निन्नं, जओ दुग्गं, विसमं, तओ पवडंति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाए गब्भाओ गब्भं जम्माओ जम्मं माराओ मारं दुक्खाओ दुक्खं दाहिणगामिनेरइए कण्हपक्खिए आगमेस्साणं दुल्लभबोहिए यावि भवइ।

—दशाश्रुतस्कंध अ ६।१६

अर्थात् जैसे कोई वृक्ष पर्वत के शिखर पर उत्पन्न हुआ हो और उसका मूल कट गया हो एवं ऊपर का भाग बड़ा ही बोझा वाला हो—ऐसा वृक्ष नीचे दुर्गम विषमस्थान में गिरता है इसी प्रकार महामिथ्यात्वी कर्मरूप वायु से प्रेरित होकर नरक रूप खड्डे में गिर जाते हैं। फिर वहाँ से निकलकर एक गर्भ से दूसरे गर्भ में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक मरण से दूसरे मरण में और एक दुःख से दूसरे दुःख में प्राप्त होते हैं। वह महामिथ्यात्वी—नास्तिकवादी दक्षिणगामी नैरयिक अर्थात् नरकावास में भी दक्षिण दिशा के नरकावासों में उत्पन्न होने वाला, कृष्णपाक्षिक अर्थात् अर्धपुद्गल परावर्तन से अधिक संसार चक्र में परिभ्रमण करने वाला होता है और वह जन्मान्तर में भी दुर्लभ बोधि होता है। अर्थात् जिनेश्वर देव द्वारा प्ररूपित धर्म की प्राप्ति होनी दुर्लभ है।

मिथ्यात्वी की शुद्ध करणी को आज्ञा के बाहर नहीं कहा जा सकता। यदि मिथ्यात्वी सुपात्र दान दे, अहिंसा का पालन करे, मृषा न बोले, चोरी नहीं करे ब्रह्मचर्य का पालन करे, सत्संगति करे, शुद्ध भावना-अनित्य, अशरण आदि भावना भावे, महारम्भ नहीं करे तथा इस प्रकार के जो कुछ भी सुकृत कार्य करे तो उसके पुराने बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा अवश्यमेव होती है। उसके जितने भी

शुद्ध आचरण पराक्रम है उन निरवद्य आचरणों को लेकर श्री मज्जयाचार्य ने भ्रमविध्वंसनम् [१-११] मे न्याय और हेतु से निर्जरा धर्म मे होना सिद्ध किया है और कहा है कि उन निरवद्य आचरणों के द्वारा मिथ्यात्वी के कर्म-निर्जरा अवश्यमेव होती है तथा उसका अशुद्ध पराक्रम संसार का हेतु है जैसा कि सूयगडांग में कहा है—

जे याऽबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो॥

—सूय० श्रु १। अ ८ गा २३

अर्थात् लोक मे पूजित या महावीर समझे जाने वाले परन्तु अबुद्ध-अज्ञानी और असम्यक्त्वदर्शी हैं उनका अशुद्ध पराक्रम—संसार की वृद्धि करने वाला है।

अस्तु कर्मों की निर्जरा हुए बिना मिथ्यात्वी सम्यक्त्वी हो नहीं सकते—ऐसा आगम का वचन है। उत्तराध्ययन में मिथ्यात्वी की शुद्ध क्रिया को दृष्टिकोण को लेकर कहा है—

वेमायाहिं सिक्खाहिं जे णरा गिहि सुव्वया।
उवेंति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो॥

उत्तरा० अ ७ गा २०

अर्थात जो मनुष्य ( मिथ्यात्वी मनुष्य ) गृहस्थ होते हुए भी विविध प्रकार की शिक्षाओं के द्वारा सुव्रत ( प्रकृति भद्रादि गुण ) वाले हैं। वे मनुष्य योनि प्राप्त करते हैं क्योंकि प्राणियों के कर्म ही सच्चे हैं। इस विषय मे श्री मज्जयाचार्य ने भ्रमविध्वंसनम् [ १.५ ] में सिद्ध किया है कि मिथ्यात्वी को निर्जराधर्म की अपेक्षा सुव्रती कहा जाय तो कोई अत्युक्ति महसूस नहीं होती।

आचार्य भिक्षु ने भी मिथ्यात्वी की शुद्धि क्रिया को आज्ञा के अंतर्गत ही स्वीकृत किया है। जैसा की आपने मिथ्याती री करणी री ढाल २ मे कहा है—

जो निरवद्य करणी मिथ्यात्वी करै।
ते पिण कर्म करै चकचूर॥
तिण निरवद्य करणी नै कहै अशुद्ध छै।
तिण री श्रद्धा में कुड़ मैं कुड़॥ ३६॥

—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) पृष्ठ २६१

यदि मिथ्यात्वी निरवद्य क्रिया करता है, तो उससे पाप कर्म चकचूर कर देता है। यदि कोई उस निरवद्य क्रिया को अशुद्ध कहता है तो उसकी श्रद्धा खोटी है। यदि अकाम निर्जरा को वीतराग देव की आज्ञा के बाहर मान लिया तब तो असंज्ञी जीवों के व अभव्यों के ऊँचे उठने का प्रश्न—आत्मोत्थान का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि उनके सकाम निर्जरा बिलकुल नहीं होती। सिद्धान्त में असंज्ञी जीव—निगोदादि में अनंत शुक्लपाक्षिक—प्रतिपाती सम्यग्दृष्टि कहे गये हैं जो उत्कृष्टतः देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन (अनंत उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी जितना काल देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन में होता है—पण्णवणा पद १८) के बाद अवश्य ही मोक्ष पद को प्राप्त करेंगे। कतिपय निगोदादि के जीव जघन्यतः संख्यात वर्ष के बाद मोक्ष प्राप्त कर लेंगे।

उन असंज्ञी-निगोद आदि के जीवों के अकाम निर्जरा होते-होते, फलस्वरूप आत्मा की अंशतः उज्ज्वलता होते-होते क्रमशः अकाम निर्जरा के द्वारा आत्म-विकास होते-होते ऊँचे उठते है। इस प्रकार अकाम निर्जरा होते होते कालान्तर मे सम्यक्त्व को भी प्राप्त कर लेते हैं।[1] यदि उनके पहले अकाम निर्जरा से कर्मों का क्षय नहीं होता तो वे जिस योनि में थे उसी योनि मे रह जाते अर्थात् उनके क्रमशः आत्म-उज्ज्वलता का प्रश्न नहीं उठता। जीव जो निम्नतर विकास से उच्चतर विकास को प्राप्त होता है चाहे किंचित् भी उच्चतर विकास को प्राप्त हो वहाँ अकाम निर्जरा या सकाम निर्जरा अवश्यमेव हुई है। यह स्मरण रखने की बात है जिस प्रकार सम्यक्त्वी के अकाम निर्जरा तथा सकाम निर्जरा—दोनों प्रकार की निर्जरा होती हैं उसी प्रकार मिथ्यात्वी के भी उपर्युक्त दोनों प्रकार की निर्जरा होती हैं। चूँकी कई-कई मिथ्यात्वी मोक्ष की अभिलाषा से सद्‌अनुष्ठान-शुद्ध पराक्रम करते हैं।

आगे देखिये आचार्य भिक्षु ने ग्रन्थ रत्नाकर में पृष्ठ २५८ में क्या कहा है—

---

(१) यद्यपि असंज्ञित्व काल में सम्यक्त्व नहीं होता है परन्तु संज्ञित्व को प्राप्तकर सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है।

"शीलें आचार करें सहीत छेंरे।
पिण सुतर ने समकत तिणरें नांहि रे॥
तिणनें आराधक कह्यो देश थी रे।
विचार कर जोवो हिया मांही रे॥
देश थकी तो आराधक कह्यो रे।
पेंहलें गुणठांणे ते किण न्याय रे॥
जो पेंहलें गुणठांणे ते असुध करणी हुवै रे।
तो देश आराधक कहिता नांहि रे॥

—मिथ्याती री करणी री चोपई-ढाल २

अर्थात् सम्यक्त्व रहित मिथ्यात्वी को (शील सहित तथा श्रुत रहित)—निर्जरा धर्म की अपेक्षा मोक्षमार्ग का देशाराधक कहा गया है। आगम में मिथ्यात्वी के विषय मे कहा है—

जइ वि य णिगिणे किसे चरे।
जइ वि य भुंजिय मासमंतसो॥
जे इह मायाहि मिज्जई।
आगंता गब्भायणंतसो॥

—सूय० श्रु १। अ २। उ १। गा ६

यदि मिथ्यात्वी महिने-महिने की तपस्या करते रहे, परन्तु माया-कपट का प्रश्रय लेता रहे तो भवरूपी समुद्र मे अनंतकाल भटकता फिरेगा, गर्भादि के दुःखों की प्राप्ति होगी।

यहाँ मिथ्यात्वी के मायाकपट के फल को बताया गया है कि उस मायाकपट के द्वारा वह अनंतकाल तक संसार मे परिभ्रमण कर सकता है; परन्तु तपस्या को बुरी नहीं बताया गया है। उसको तपस्यादि के द्वारा गर्भादिक के दुःख नहीं होते हैं—होते हैं माया कपट से। मायावी व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं हो सकता। तपस्या से तो उसकी आत्मा की विशुद्धि होती है। तपस्या सदा ही आत्मा की उज्ज्वलता का द्योतक है—संकेत करता है।[1]

---

(१) तपसा कर्मविच्छेदात्मनैर्मल्यनिर्जरा—जैन सिद्धान्त दीपिका प्र ४

ज्ञाताधुत्र अ० ८ में मल्लीनाथ भगवान् (वर्तमान अवसर्पिणी काल में हुए १९वें तीर्थंकर) के विवेचन में कहा गया है कि वे अपने पूर्व—महाबल अणगार के भव मे अपने संगी साधुओं के साथ विविध प्रकार की तपस्या करते हुए—माया-कपट का प्रश्रय लेकर-स्त्री वेद का बन्धन किया। यदि वे तपस्या करते हुए माया-कपट का प्रश्रय नहीं लेते तो उनके स्त्री वेद का बंधन नहीं होता। उनकी तपस्या की करणी बुरी नहीं थी—बुरी थी—माया-कपट की क्रिया। उस तपस्या के द्वारा उन्होंने बहुत भारी कर्मों के बंधन तोड़े। कर्मों की इतनी बड़ी निर्जरा हुई कि वे अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए फिर वहाँ से च्यवन होकर मल्लीनाथ भगवान् स्त्री रूप में उत्पन्न हुए। स्त्री रूप में वे कदापि उत्पन्न नहीं होते यदि वे तपस्या में माया-कपट का प्रश्रय नहीं लेते। अस्तु मिथ्यात्वी जीव तपस्या करते हुए माया-कपट का प्रश्रय लेते हैं तो वे अनन्त काल तक संसार मे भ्रमण कर सकते हैं। परन्तु उनकी तपस्या की करणी अशुद्ध नहीं है।

भ्रमविध्वंसनम् ग्रंथ मे (१।१४) मिथ्यात्वी की शुद्ध क्रिया को आज्ञा के बाहर नहीं माना गया है। मिथ्यात्वी के शुभ योग, (मन-वचन-कायरूप तीनों प्रकार का शुभयोग) शुभलेश्या (तेजो-पद्म-शुक्ल तीनों प्रकार की शुभलेश्या) तथा शुभ अध्यवसाय माने गये हैं। प्रायः बिना शुभयोग—शुभक्रिया के निर्जरा नहीं होती है, (चौदहवें गुणस्थान मे शुभयोग के अभाव में भी बहु निर्जरा होती है क्योंकि वहाँ योग का—चाहे शुभयोग हो, चाहे अशुभयोग सर्वथा निरोध हो जाता है। जैसा कि युग प्रधान आचार्य तुलसी ने जैन सिद्धान्त दीपिका में (४।२९) कहा है—

"यत्र शुभयोगस्तत्र नियमेन निर्जरा"

अर्थात् जहाँ शुभयोग की प्रवृत्ति है वहाँ नियम से निर्जरा होती है। आगम के अनेक स्थल पर मिथ्यात्वी के शुभयोग की प्रवृत्ति का उल्लेख मिलता है अतः मिथ्यात्वी निर्जरा रूप धर्म की आराधना करने के अधिकारी माने गये हैं। कहा है—

"जिन आज्ञा देवे तिकरो, निर्जरा कारज जाण।
जिन आज्ञा देवे नहीं, ते सावद्य कार्य पिछाण ॥१४॥

सावद्य छै सो तेहमें, धर्मपुन्य किम थाय ॥२३॥
जो आज्ञा बारै कह्यो, सो धर्म पुन्य मत धार ॥२५॥
जिन आज्ञा बाहर धर्म कहीं, ण करणी यह अनीत ॥२६॥

—प्रश्नोत्तर तत्त्व बोध

जो मिथ्यात्वी शुद्ध क्रिया करने में तत्पर रहता है, वह मिथ्यात्वी मरण प्राप्त कर मनुष्य गति अथवा देवगति में उत्पन्न होता है।[1] जो मिथ्यात्वी देवगति तथा मनुष्य गति को प्राप्त करता है, वह शुद्ध क्रिया से ही प्राप्त करता है। देवगति तथा मनुष्य गति के आयुष्य का बंध सद्क्रिया—पुण्य की करणी के बिना नहीं होता है। जैसा कि भगवती सूत्र के आठवें शतक के नवें उद्देशक में कहा है—

१—नेरइयाउयकम्मासरीर-पुच्छा। गोयमा! महारंभयाए, महापरिग्गहयाए, कुणिमाहारेणं, पंचेंदियवहेणं,। २—तिरिक्ख०—गोयमा! माइल्लयाए, नियडिल्लयाए, अलियवयणेणं, कूडतुल-कूडमाणेणं। ३—मणुस्साउयकम्मा सरीर-पुच्छा-गोयमा! पगइभद्दयाए, पगइविणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए। ४—देवाउय० सराग संजमेणं, संजमासंजमेणं, बालतवोकम्मेणं, अकामनिज्जराए।

—भग० श ८। उ ९। सू ४२५ से ४२६

अर्थात् नरकायुष्य कार्मण शरीर प्रयोग के बंधन के चार कारण हैं। यथा, महारंभ करने से, परिग्रह के संचय से, पंचेन्द्रिय जीविका वध करने से तथा मांस का आहार करने से।

माया करने से, गूढ़ माया करने से, झूठ बोलने से, कूटतोल-कूटमाप करने से जीव तिर्यञ्च का आयुष्य बांधता है। प्रकृति की भद्रता से, प्रकृति की विनीतता से, दयाभाव रखने से और अमत्सर भाव से जीव मनुष्य का आयुष्य बांधता है। सरागसंयम, देश संयम, बालतप और अकाम निर्जरा से जीव देवायुष्य को बांधता है।

---

[1]—उववाई प्रश्न, उत्तरा० अ ०।२०, जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति, भगवती श ८।९, स्थानांग स्था ४ आदि।

ऊपर की ओर दृष्टिपात कर गम्भीरता से सोचिये कि बालतप भी देवगति के बंधन का कारण कहा गया है। मिथ्यात्वी के तप को बालतप के नाम से अभिहित किया गया है। जो मिथ्यात्वी सद्‌क्रिया के करने में तल्लीन रहता है, उसे बाल तपस्वी के नाम से सम्बोधित किया जाता है। देवगति के बंधनों के कारणों में बालतप तथा अकाम निर्जरा दोनों सम्मिलित है। अकाम निर्जरा के द्वारा भी मिथ्यात्वी देवों में भी उत्पन्न हो सकता है। मिथ्यात्वी के अकाम निर्जरा तथा सकाम दोनों प्रकार की निर्जरा होती है।

मोक्ष मार्ग का देशाराधक मिथ्यात्वी सद्-अनुष्ठान में कुछ अंश में आत्मदर्शन को प्राप्त कर सकता है। आत्म दर्शन पाया हुआ महापुरुष सर्वत्र श्लाघनीय होता है और आत्मसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अतः सद् अनुष्ठानिक क्रियाओं में अनुरंजित मिथ्यात्वी को मन पर पूर्ण विजय प्राप्त करने की भावना रखनी चाहिए संसार सागर डूबते हुए व्यक्ति के लिए तीर्थंकर की आज्ञा ही अवलम्बन है। इसके सहारे प्राणी भव सागर से पार हो सकते हैं। आज्ञाराधना का फल भव सागर से पार हो जाना है। आचारांग में कहा है।

"अणाणाए एगे सोवट्ठाणा आणाए एगे निरुवट्ठाणा, एयं ते मा होउ।"

—आचारांग श्रु १। अ ५। उ ६ सु १

अर्थात् कितने व्यक्ति आज्ञा के विपरीत उद्यम (सावद्यानुष्ठान) करने वाले होते हैं तथा कितनेक व्यक्ति आज्ञा में निरुद्यमी होते हैं—ये दोनों बातें नहीं होनी चाहिए। मिथ्यात्वी री करणी की चोपई ढाल २ में आचार्य भिक्षु ने कहा है—

जो निरवद करणी मिथ्याती करें रे,
ते पिण कर्म करें चकचूर रे।
तिण निरवद करणी ने कहें असुध छे रे,
तिणरी सरधा में कूड कूड में कूड रे ॥३६॥

—भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर पृ० २६१

अर्थात् निरवद्य करणी के द्वारा मिथ्यात्वी कर्मों को चकचूर कर देता है। यदि कोई उस निरवद्य करणी को अशुद्ध कहता है उसकी श्रद्धा खोटी है। कर्मों कि गति बड़ी विचित्र है। न्याय मार्ग सामने होते हुए भी प्रबल मोह उदय से मिथ्यात्वी की निरवद्य करणी को भी शुद्ध पराक्रम नहीं कहते है। जब सावद्य करणी से मिथ्यात्वी के पाप कर्म का बन्धन होता है तब निरवद्य करणी से मिथ्यात्वी के कर्म क्यों नहीं कटेंगे, अवश्यमेव कर्म निर्जरा होगी तथा सहचर पुण्य का बंध होगा।

आगमों के अध्ययन करने से ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं कि जैसे भगवान महावीर के चौदह हजार श्रमणों में धन्य अनगार महा तप और महा कर्मों की निर्जरा करने वाला था[1] वैसे ही मिथ्यात्वी मे तप रूप क्रिया करने मे तरतमता रहती है। कोई मिथ्यात्वी तप रूप क्रिया के द्वारा सम्यक्त्व को शुभ लेश्या के द्वारा प्राप्त कर, चारित्र ग्रहण उसी भव मे सिद्ध-बुद्ध मुक्त हो जाते है, कोई मिथ्यात्वी तपरूप क्रिया के द्वारा उसी भव मे सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकते हैं, देव या मनुष्य गति मे उत्पन्न होते हैं। फिर वहाँ सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं आदि। आचार्य भिक्षु ने कहा है।

मिथ्याती अनंता मातर दान थी रे,
निश्चेंइ कीयों परत संसार रे॥

—भिक्षु ग्रथ रत्नाकर खड १, पृ० २१०
मिथ्याती री निर्णय री ढाल २

अर्थात् केवल दान के प्रभाव से अनत मिथ्यात्वी ने ससार अपरिमित किया है। मिथ्याती री करणी री चोपई, ढाल ३ मे कहा है—

ते करणी निरवद करें रे, दानं सीलादिकनिरदोखरे।
मास खमणादिक तपसा करे रे लाल, तिणसूं कर्मतणों हुवें
सोखरे॥६॥

---

१—इमासिं इंदभूति-पामोक्खाणंचोद्दसण्हं समण-साहस्सीणं धन्ने अणगारे महादुक्कर-कारए चेव महाणिज्जरतराए चेव।

—अनुत्तरोपातिकदशासूत्र तृतीयवर्ग

निरवद्य करणी सुध प्राक्रम कह्यों रे, ते जिण आगनां मांहिलो आणरे ।
शेष करणी असुध प्राक्रम कह्यो लाल, तिण सूं पाप कर्म लागें
आणरे ॥७॥

मिथ्याती निरवद्य करणी करे रे, तिणरी करणी कहें छें असुध रे ।
ते विवेक विकल सुध बुध बिनां रे लाल, त्यांरी भिष्ट हुई छें
बुध रे ॥११॥

—भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर पृ० २६३।२६४

यदि मिथ्यात्वी संयति को सुपात्र दान देता है, शीलव्रत का पालन करता है तथा मास-क्षमण आदि तपस्या करता है तो उससे कर्म-निर्जरा होती है। निरवद्य करणी को शुद्ध पराक्रम कहा है तथा जिन आज्ञा के अंतर्गत की करणी हैं। अशुद्ध पराक्रम से पाप कर्म का बंधन होता है। जो मिथ्यात्वी की निरवद्य करणी को अशुद्ध कहता है वह विवेक से विकल है मानो उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है।

ज्ञान और अज्ञान दोनों साकार उपयोग हैं और दोनों का स्वभाव वस्तु को विशेष धर्मों के साथ जानना है। जो ज्ञान मिथ्यात्वी के होता है, उसे अज्ञान कहते हैं। ज्ञान और अज्ञानमें इतना ही अतर है, विशेष नहीं। जैसे कुएँ का जल निर्मल ठंडा, मीठा एक सा होता है पर ब्राह्मण के पात्र में शुद्ध गिना जाता है और मतांग के पात्र मे अशुद्ध, वैसे ही मिथ्यात्वी के जो ज्ञान गुण प्रकट होता है, वह मिथ्यात्व सहित होने के कारण अज्ञान कहाजाता है। वही विशेष बोध जब सम्यक्त्वी के उत्पन्न होता है, तब ज्ञान कहलाता है। ज्ञान-अज्ञान दोनों उज्ज्वल क्षयोपशमिक भाव हैं। वे आत्मा की निर्मलता-उज्ज्वलता के द्योतक हैं। ज्ञान-अज्ञान को प्रकट करने वाली क्षयोपशम जन्य निर्मलता निर्जरा है।

मिथ्यात्वी के लब्धि वीर्य और करण वीर्य दोनों होते हैं। वीर्य की प्राप्ति मिथ्यात्वी को अंतराय कर्म के क्षयोपशम से होती है। लब्धि वीर्य जीव की सत्तात्मक शक्ति है और करण वीर्य-क्रियात्मक शक्ति है—योग है मन, वचन, और काय की प्रवृत्ति रूप है। वह जीव और शरीर दोनों के सहयोग से उत्पन्न होती है। लब्धि वीर्य जीव की स्वभाविक शक्ति है और करण वीर्य उस शक्ति

का प्रयोग। आचार्य भिक्षु ने नव पदार्थ की चौपई, निर्जरा पदार्थ की ढाल २ में कहा है—

निर्जरा तणो कामी नहीं, कष्ट करें छें विविध प्रकार।
तिणरा कर्म अल्प मातर झरें, अकाम निरजरानों एह विचार॥

—भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर खंड १ पृ० ४४

अर्थात् यो निर्जरा का कामी नहीं होता फिर भी अनेक तरह के कष्ट करता है, उसके कर्म अल्पमात्र झड़ते हैं। यह अकाम निर्जरा का स्वरूप है। मिथ्यात्वी के तप और परीषहजय कृत निर्जरा भी होती है। कहा है—

"तपः परीषहजयकृतः कुशलमूलः।
तं गुणतोऽनुचिन्तयेत् शुभानुबंधो निरनुबंधो वेति॥

—तत्त्वा० ९, ७ भाष्य ९

अर्थात् तप और परीषह जय कृत निर्जरा कुशलमूल है शुभानुबंधक और निरानुबंधक कहा है। मिथ्यात्वी अनुदीर्ण कर्मों को तप की शक्ति से उदयावलि में लाकर क्षय कर सकता है। तत्त्वार्थसार में इस प्रकार की निर्जरा को अविपाकजा निर्जरा कहा है।[1] मुनि सुपर्श्वसागरजी ने कहा है—"जो तपस्या द्वारा बिना फल दिये हुए कर्मों की निर्जरा होती है अर्थात् तपश्चरण द्वारा कर्मों को फल देने की शक्ति का नाश करके जो निर्जरा होती है उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं। वही आत्मा का हित करने वाली है। इसीसे शनैः शनैः सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।"[2]

श्री मज्जयाचार्य ने कहा है—"जे जीव हिंसा रहित कार्य शीतकाल में शीत खमें, उष्णकाल में सूर्यनी आतापना लेवें, भूख तृषादिक खमें निर्जरा अर्थे सकाम निर्जरा छे। तिणारी केवली आज्ञा देवे। तेहथी पुण्य बंधे। अने बिना

(१) अनुदीर्णं तपः शक्त्या यत्रोदीर्णोदयावलीम्।
प्रवेश्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा

—तत्त्वार्थसार: ७, ४

(२) संयम-प्रकाश ( पूर्वार्द्ध ) चतुर्थ किरण पृष्ठ १५२, ५१

मन ब्रह्मचर्य पाले छै निर्जरा रा परिणाम बिना तपतादि करे तै पिण अकाम आज्ञा मांही छै।"[१]

"पूजा श्लाघा रे अर्थे तपस्यादिक करे ते पिण अकाम निर्जरा छै। ए पूजा श्लाघानी वांछा आज्ञा मांही न थी ते थी निर्जरा पिण नहीं हुवे। ते वांछा थी पुन्य पिण नहीं बंधे। अने जे तपस्या करे भूख तृषा खमै तिण में जीव री घात न थी ते माटै ए तपस्या आज्ञा मांहि छै। निर्जरा नो अर्थी थको न करे तिण सूं अकाम निर्जरा छै। एह थकी पिण पुन्य बंधे छै पिण आज्ञा बारला कार्य थी पुन्य बंधै न थी।"[२]

मुनिश्री नथमलजी ने कहा है—"मिथ्यात्व दशा में तप तपने वालों को परलोक का अनाराधक कहा जाता है। वह पूर्ण आराधना की दृष्टि से कहा जाता है। वे अंशतः परलोक के आराधक होते हैं।"

जर्मन विद्वान डा० याकोबी ने की यह मान्यता रही है कि तप स्वर्ग, तेजोलेश्यादि मनोवांछित अर्थ के लिए भी किया जाता है।[३]

अनुप्रेक्षाओं से मिथ्यात्वी आयु छोड़ सात कर्म प्रकृतियों को, गाढे-बंधन से बंधी हुई होती है, शिथिल बंधन से बंधी करता है, दीर्घकाल स्थिति वाली से ह्रस्वकाल स्थिति वाली करता है। बहुप्रदेशवाली को अल्पप्रदेश वाली करता है। कतिपय मिथ्यात्वी परभव का आयुष्य भी नहीं बांधते हैं। उसी भव में विशुद्ध लेश्यादि से सम्यक्त्व को प्राप्त कर, चारित्र ग्रहण कर अनादि अनंत, दीर्घ चार गति रूप संसार-कंतार को शीघ्र ही व्यतिक्रम कर जाता है।

अस्तु मिथ्यात्वी भी यदि शील संपन्न होता है तो उसके निर्जरा धर्म होता है। इस अपेक्षा उसे देशाराधक कहा है—आचार्य भिक्षु ने मिथ्याती री करणी री चौपई ढाल २ में कहा है—

---

(१) भगवती नीजोड़ः संधक अधिकार ८

(२) ,, ,,

(३) देखो सी० बी० ई० वो० ४० पृष्ठ १७५

जो पेंहलें गुणठांणे असुध करणी हुवें रे,
तो देश आराधक कहिता नांहि रे।
ते विस्तार भगोती सतकज आठमे रे,
ए चौभंगी इसमा उद्देशा मांहि रे ॥२६॥
देश आराधक करणी जिण कही रे,
ते करणी छें जिण आग्या मांय रे,
कर्म कटे छे तिण करणी थकी रे,
तिण नें असुध कहे नें बूंडो कांय रे ॥२७॥

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर खण्ड १। पृ० २६१

अर्थात् मिथ्यात्वी की निरवद्य क्रिया आज्ञा बाहर होती तो देशाराधक मिथ्यात्वी को नहीं कहते। वह निरवद्य क्रिया कि अपेक्षा देशाराधक है उस क्रिया से कर्म का क्षय होता है। मिथ्यात्वी जागरुक रहे, अनित्य भावना आदि पर विचार करे। गीता में कहा है—

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।

—गीता २,१७

अर्थात् अव्यय आत्मा का कोई विनाश नहीं कर सकता। जिस प्रकार इस देह में कौमार्य के बाद यौवन और यौवन के बाद बुढ़ापा आता है, उसी प्रकार इस देह में रहने वाले देही को देहान्त प्राप्त होती है।[1] निर्जरा जीव का भाव है अतः जीव है।[2] अनित्य भावना आदि से मिथ्यात्वी के विशेष रूप से निर्जरा हो सकती है। आत्मा जानती है, देखती है।[3] मिथ्यात्वी में भी जानने, देखने की शक्ति समान नहीं होती है। छः द्रव्यों में आत्मा एक द्रव्य है।[4]

१—देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

—गीता २,१३

२—पानाकी चर्चाः कड़ी ६

३—पंचास्तिकाय २।१२२

४—द्रव्यसंग्रह २३, प्रवचनसार २,३५

साधुओं की संगति करने का मिथ्यात्वी प्रयास करे। प्रारम्भ के रहस्य को समझे। यद्यपि मिथ्यात्वी के निरवद्य करणी से पुण्य का बंध होता है लेकिन मिथ्यात्वी पुण्य कर्म में प्रीति न करे,[1] सदनुष्ठान में प्रीति करे। यशोकीर्ति नाम कर्म तथा उच्च गोत्र का बंध मिथ्यात्वी निरवद्य क्रियासे कर सकते हैं। सावद्य क्रिया से इन दोनों का बंध नहीं होता है। आचार्य भिक्षु ने पुण्य पदार्थ की ढाल २ मे कहा है।

पाले सरागपणे साधूपणो रे लाल,
पाले श्रावक रा वरत बार हो।
बाल तपस्या नें अकाम निरजरा रे लाल,
यां सूं पामें सुर अवतार हो॥२६॥

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर खंड १ पृष्ठ १७

अर्थात् साधुके सराग चारित्र के पालन से, श्रावक के बारह व्रत रूप चारित्र के पालन से, बाल तपस्या और अकाम निर्जरा से, सुर अवतार-देवभव प्राप्त होता है। सराग चारित्र का पालन, श्रावक के बारह व्रत रूप चारित्र का पालन सम्यक्त्व के बिना नहीं हो सकता है लेकिन बाल तपस्या अर्थात् मिथ्यात्वी के तप को बालतप—बाल तपस्या कहते हैं। अकाम निर्जरा सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि-दोनों के होती है।

निरवद्य करनी कर निदान नहीं करने से, शुभपरिणाम से, पाँच इन्द्रियों के वश करने से, माया कपट से दूर रहने से, श्रुतोपासना से, धर्म कथा आदि से मिथ्यात्वी कल्याण कारी कर्मों का बंध करता है।[2] कल्याणकारी कर्म पुण्य है। और इनको प्राप्त करने की करणी भी स्पष्टतः निरवद्य है। नव प्रकार के पुण्य का[3] उपार्जन मिथ्यात्वी निरवद्य करनी से कर सकता है, सावद्य करणी से पुण्य का बंध नहीं होता है।[4] आचार्य भिक्षु ने पुण्य पदार्थ की ढाल २ में कहा है—

(१) समवसार १,१५०
(२) ठाणांग ठाणा १०, सू १३३
(३) ठाणांग ठाणा ९, सू २५
(४) भिक्षुग्रंथ रत्नाकर, पुण्य पदार्थ की ढाल २, गा ५४, ५५, ५६

ठाम ठाम सुतर में देखलो रे लाल,
निरजरा नें पुन री करणी एक हो।
पुंन हुवे तिहां निरजरा रे लाल,
तिहां जिन आगनां छे शेष हो ॥५६॥

—भिक्षुग्रंथ रत्नाकर खंड १, पृ० १९

अर्थात् स्थान-स्थान पर सूत्रों में देखलो कि निर्जरा और पुण्य की करणी एक है। जहाँ पुण्य होता है वहाँ निर्जरा भी होती है और जहाँ निर्जरा होती है वहाँ विशेष रूप से जिनाज्ञा है। अन्न, पान, वस्त्र, स्थान, शयन के निरवद्य दान से, सद्प्रवृत्त मन, वचन, काया से तथा मुनि को नमस्कार करने से पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है। अतः कार्य और कारण को एक मान कर पुण्य के कारणों को पुण्य की संज्ञा दी गयी है।

अस्तु मिथ्यात्वी की शुद्धक्रिया जिनाज्ञा में है तथा शुद्ध क्रिया की अपेक्षा उसे देशाराधक कहा गया है।

## १ (ख) : मिथ्यात्वी को बालतपस्वी से सम्बोधन

देवगति के आयुष्य बंधन के चार कारणों में से बालतप और अकाम-निर्जरा भी सम्मिलित है। जिनको आराधना मिथ्यात्वी कर सकते हैं—ठाणांग की टीका में कहा है—

प्राणातिपातविरत्यादीनां दीर्घायुषः शुभस्यैव निमित्तत्वाद्, उक्तं च—

महव्वय अणुव्वएहिं य, बालतवोऽकामनिज्जराए य।
देवाउयं निबंधइ, सम्मद्दिट्ठी य जो जीवो ॥१॥
पयईए तणुकसाओ दाणरओ सीलसंजमविहूणो।
मज्झिमगुणेहिं जुत्तो, मणुयाउं बंधए जीवो ॥२॥

—देवमनुष्यायुषी च शुभेइति ॥

—ठाणांग सूत्र टीका

अर्थात् प्राणातिपातआदि की विरति को शुभ दीर्घायुष्य के बंधन में कारण माना है। कहा है—

महाव्रत, अणुव्रत, बालतप और अकामनिर्जरा से जीव देव का आयुष्य बांधता है। सम्यग्दृष्टि जीव (मनुष्य या तिर्यंच) वैमानिक का ही आयुष्य बांधता है। तथा—

स्वभावतः अल्पकषायी, दानकी रुचि वाला, जीव (संयम रहित मध्यमगुण) विनय दयादि सहित जीव मनुष्य का आयुष्य बाँधता है। देव और मनुष्य का आयुष्य शुभ है।

(१) आगमों में अनेक स्थलों पर बालतपस्वी का उल्लेख मिलता है। श्री मज्जयाचार्य ने प्रश्नोत्तर तत्वबोध में गोशालाधिकार में वैसियायण ऋषि के लिये 'बालतपस्वी' का व्यवहार किया है। बालतपस्वी अर्थात् प्रथम गुणस्थान (मिथ्यादृष्टि गुणस्थान) के व्यक्ति जो तपस्यादि करते हैं, उन्हें बालतपस्वी नाम से संबोधित किया है।[1] जैसा कि भगवती सूत्र में कहा है—

"तएणं अहं गोयमा! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिंजेणेव कुम्मग्गामे णयरे तेणेव उवागच्छामि, तए णं तस्स कुम्मग्गामस्स णयरस्स बहिया वेसियायणे णामं बालतवस्सी छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय-पगिज्झय सुराभिमुहे आयावणभूमिए आयावेमाणे विहरइ। आइच्चतेयतवियाओ य से छप्पईओ सव्वओ समंता अभिणिस्सवंति पाण-भूयजीव-सत्त-दयट्ठयाए च णं पडियाओ पडियाओ तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चोरुभेइ।"

—भग० श १५।सू १०

अर्थात् जब भगवान महावीर गोशाला के साथ कूर्म ग्राम में आये। उस समय कूर्मग्राम के बाहर वैश्यायन बालतपस्वी निरंतर छट्ठ-छट्ठ तप करता था और दोनों हाथ ऊँचे रखकर सूर्य के सम्मुख खड़ा हो, आतापना ले रहा था। सूर्य की गर्मी से तपी हुई जुएं उसके सिर से नीचे गिर रही थी और वह बालतपस्वी सर्वप्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को अनुकम्पा के लिए, पड़ी हुई जुआ को उठाकर पुनः सिर पर रख रहा था।

---

(१) बाला इव बाला-मिथ्यादृशस्तेषां तपःकर्म्म-तपक्रिया बालतपःकर्म्म।

—ठाणांग ठाणा ४ उ ४। सू ३११ टीका

अस्तु वेसियायण ऋषि के लिए बालतपस्वी का व्यवहार हुआ है। वह सम्यक्त्वी नहीं था, मिथ्यात्वी था।

(२) तामली तापस के लिए भी बालतपस्वी का व्यवहार हुआ है। कहा है—

तए णं तामली मोरियपुत्ते तेणं ओरालेणं, विपुलेणं, पयत्तेणं, पग्गहिएणं बालतवोकम्मेणं सुक्के, लुक्खे जाव-धमणिसंतए जाए यावि होत्था। × × ×।

—भग० श ३।उ १। सू-३५

अर्थात् वह मौर्यपुत्र बालतपस्वी उस उदार, विपुल प्रदत्त और प्रगृहीत बालतप द्वारा शुष्क बन गया। यावत् इतना दुबला हो गया कि उसकी नाड़ियाँ बाहर दिखाई देने लग गयी थी चूँकी बाल तपस्वी तामली तापस साठ हजार वर्ष तक बेले-बेले की तपस्या की थी।

आचार्य भिक्षु ने मिथ्यात्वी री निर्णय री चोपई ढाल २ में कहा है—

तामली बालतपसी तेहनीं रे, करणी तणों करो निस्तार रे।
ए भगोती सूतर रे सतक तीसरें रे, पेंहला उदेसा में विस्तार रे।

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर पृ० २६१

अर्थात् बालतपस्वी तामली की करणी का विस्तार भगवती सूत्र में किया गया है।

(३) पूरण तापस के लिए भी बालतपस्वी काव्यवहार हुआ है; जैसा कि कहा है—

तएणं से पूरणे बालतवस्सी तेणं ओरालेणं विउलेणं, पयत्तेणं पग्गहिएणं, बालतवोकम्मेणं तं चेव जाव—बेभेलस्य सण्णिवेसस्स मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छित्ता पादुगकुंडियमाईयं उवगरणं, चउप्पुडयं दारुमय पडिग्गहगं एगंते, एडेइ, एडेत्ता बेभेलस्स सण्णिवेसस्स दाहिणपुरत्थिमे दिसीभागे अद्धणियत्तणियमंडलं आलिहित्ता संलेहणा-झूसणाझूसिए, भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं णिवण्णे।

—भगवती श ३। उ २ प्र० २१ सूत्र १०३, १०४

अर्थात् वह पूरण बालतपस्वी उस उदार, विपुल, प्रदत्त और प्रगृहीत बाल-तप कर्म द्वारा (१२ वर्षतक निरंतर बेले-बेले की तपस्या की) शुष्क-रूक्ष हो गया। वह भी बेभेल सन्निवेश के बीचों-बीच होकर निकला, निकलकर पादुका (खड़ाऊ) और कुंडी आदि उपकरणों को तथा चारखंड वाले लकड़ी के पात्र को एकांत मे रख दिया। फिर बेभेल सन्निवेश के अग्निकोण में अर्द्धनिर्वनिक मंडल को साफ किया। फिर संलेखना झूसणा से अपनी आत्मा को युक्त करके आहार-पानी का त्याग करके वह पूरण बालतपस्वी पादोपगमन अनशन स्वीकार किया।

इस प्रकार मिथ्यात्वी जो विविध प्रकार की तपस्या करते हैं, तपस्या से शरीर को शुष्क कर देते हैं उन मिथ्यात्वियों को आगम में बाल तपस्वी से संबोधित किया गया है। उनके सकाम-अकाम दोनों प्रकार की निर्जरा होती है। कहा है—

"क्रियावादिनामक्रियावादिनां च मिथ्यादृशां सकाम-निर्जरा भवति न वा? यदि सकामनिर्जरा, तर्हि ग्रन्थाक्षराणि प्रसाद्यानीति प्रश्ने, उत्तरम्—क्रियावादिनाम-क्रियावादिनां च केषाञ्चित् सकाम-निर्जरापि भवतीत्यवसीयते यतोऽकामनिर्जराणामुत्कर्षतो व्यन्तरेष्वेव, बालतपस्विनां चरकादीनां तु ब्रह्मलोकं यावदुपपातः प्रथमोपांगा-दावुक्तोऽस्तीति, तदनुसारेण पूर्वोक्तानां सकामनिर्जरेति तत्त्वम्।"

—सेन प्रश्नोत्तर, उल्लास-३

अर्थात् कहीं-कहीं क्रियावादी, अक्रियावादी आदि मिथ्यात्वी के सकाम निर्जरा भी होती है। मिथ्यात्वी के सद्प्रवृत्ति के द्वारा पुण्य का बंध होता है। जिसप्रकार गेहूँ रूपी निर्जरा के साथ (सद्प्रवृत्ति) भूसा रूपी पुण्य अपने आप होता है, उसी प्रकार सद्-प्रवृत्ति के द्वारा—चाहे मिथ्यात्वी भी क्यों न हो—निर्जरा तो मुख्य रूप से होती ही है, परन्तु साथ-साथ पुण्य का भी बंध होता है। उस पुण्य के लिए कोई अलग प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

अस्तु प्रथम पुरुष अर्थात् वह मिथ्यात्वी जो सद् क्रिया में तत्पर रहता है, उसे भगवान् ने बाल तपस्वी के नाम से अभिहित किया है। इस प्रकार के

मिथ्यात्वी को मोक्ष मार्ग का देश आराधक कहा है। श्री मज्जयाचार्य ने ३०६ बोलकी हुंडी में ( चतुर्थ ढाल में ) कहा है—

"ए पिण निर्जरा आश्री आण ज्यो रे,
तिण रे निश्चेइ श्री जिन आज्ञा आण रे।
इण करणी ने जिन आज्ञा बारें कहे रे,
ते तो पूरा छै मूढ अयाण रे॥"

—३०६ बोल की हुण्डी

अर्थात् मिथ्यात्वी निर्जरा धर्म का अधिकारी माना गया है। उसकी निर्जरा रूप करणी की भगवान् की आज्ञा है। यदि उसकी इस करणी को कोई जिनाज्ञा के बाहर कहता है वह पूरा विमूढ है। प्रश्नोत्तर तत्त्व बोधमें कहा है—

"धर्म बिना पुण्य नांही रे, शुभ जोगांथी निरजरा
पुण्यबंध पिण थायरे, ज्यूं गेहूँ लार खाखलो।" १५५

—अनुकम्पाधिकार

अस्तु निर्जरा—तप दो धर्मों में से एक धर्म है। बिना पुण्य के बंध हुए जीव उच्चगति को प्राप्त नहीं होते हैं। यहाँ तक कि अभव्य जीव ( जिनके सकाम निर्जरा नहीं होती है ) जीव भी बिना शुद्धि क्रिया के उच्चगति को प्राप्त नहीं होते हैं! अतः शुद्धक्रिया कोई भी करने वाले की आत्मा अंशतः अवश्य ही उज्ज्वलता को प्राप्त होगी ही। बिना आत्मा के उज्ज्वल हुए कोई भी जीव (आत्मा का उत्थान ) ऊँचा नहीं उठता है। शुभ कर्म करने वाले जीव सद्गति को प्राप्त करते हैं तथा अशुभ कर्म करने वाले जीव दुर्गति को प्राप्त करते हैं।[१] साता वेदनीय आदि शुभ कर्मों को पुण्य कहा जाता है[२], किन्तु उपचार से जिस निमित्त से पुण्य का बंध होता है, वह भी पुण्य कहा जाता है, जैसे संयमी साधु को अन्न देने से जो शुभ कर्म का बंध होता है उसे अन्न पुण्य कहा जाता है, आदि। ज्ञानावरणीयादि अशुभ कर्मों को पाप कहा जाता है।

---

(१) शुभं कर्म पुण्यम्॥३॥ —जैन सिद्धांत दीपिका प्र० ४

(२) अशुभं कम पापम्॥१५॥ —जैन सिद्धांत दीपिका प्र ४

और उपचार से पाप के हेतु को पाप कहते हैं जैसे प्राणवध जिसे पाप का हेतु होता है उसे प्राणातिपात पाप कहते हैं आदि। आचारांग में कहा है—

"आज्ञा के कार्यों में बल पराक्रम करना चाहिए, आज्ञा के बाहर के कार्यों में बल पराक्रम नहीं करना चाहिए। यह कुशल पुरुषों का दर्शन है। अतः मिथ्यात्वी की शुद्ध पराक्रम की क्रिया आज्ञा में है।"

अतः मिथ्यात्वी को सद्क्रियाओं की अपेक्षा आगम में बाल तपस्वी से भी अभिहित किया गया है।

### १ (ग) : मिथ्यात्वी को भावितात्मा अणगार से संबोधन

जो मिथ्यात्वी घर बार आदि का त्याग कर साधु हो जाते हैं, लेकिन सम्यक्त्व अभी तक प्राप्त नहीं किया है। उन्हें अनगार इसलिए कहा गया है कि वे घर को सर्वथा प्रकार छोड़ देते हैं तथा शम, दम आदि नियमों के धारण करने से भावितात्मा कहा गया है। यद्यपि वह अनगार बन गया है लेकिन क्रोधादि कषाय को क्षय नहीं किया है अतः वह मायी है और मिथ्यादृष्टि है। वह वीर्य आदि लब्धि की विकुर्वणा करता है। कहा है—

"अणगारे णं भंते ! भावियप्पा माई, मिच्छदिट्ठी वीरियलद्धीए, वेउव्वियलद्धीए, विभंगणाणलद्धीए वाणारसिं णयरीं समोहए, समोहणित्ता रायगिहे णयरे रूवाइं जाणइ, पासइ ?
हंता, जाणइ, पासइ।

—भग० श ३ उ ६। सू २२२

अर्थात् राजगृहनगर में स्थित मिथ्यादृष्टि, मायी भावितात्मा अनगार वीर्यलब्धि से, वैक्रिय लब्धि से और विभंग ज्ञान लब्धि से वाणारसी नगर की विकुर्वणा करके उन रूपों को जानता है और देखता है। उसका दर्शन विपरीत होता है, अतः वह तथा भाव से नहीं जानता है, नहीं देखता है किन्तु अन्यथाभाव से जानता है, देखता है।

वह मायी मिथ्यादृष्टि भावितात्मा अणगार अपनी वीर्यलब्धि से, वैक्रिय लब्धि से और विभंगज्ञान लब्धि से दो नगर के बीच में एक बड़े जनपद वर्ग की विकुर्वणा कर सकता है। परन्तु उसका दर्शन विपरीत होता है अतः वह

उसको तथा भाव से नहीं जानता है, नहीं देखता है, किन्तु अन्यथा भाव से से जानता है, देखता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशिष्ट मिथ्यात्वियों के लिये भावितात्मा अणगार का व्यवहार हुआ है। कतिपय वे भावितात्मा अणगार अपने इसी भव में सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते हैं तब उनका विभंग ज्ञान-अवधिज्ञान रूप में परिणत हो जाता है।

## २ : मिथ्यात्वी—आध्यात्मिक विकास की भूमिका पर

दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से तत्त्व रुचि में मोहभ्रांति होती है। जब मिथ्यात्वी तत्त्व में रुचि रखता है इसप्रकार रुचि रखने से, सद्क्रिया के प्रयत्न से वह कदाचित् क्षयोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेता है। कहा है—

दंसणमोहणिज्जेणं भंते! कम्मे कतिविधे पन्नत्ते, गोयमा! तिविहे पन्नत्ते, तंजहा—सम्मत्तवेयणिज्जे, मिच्छत्तवेयणिज्जे, सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे य।

—प्रज्ञापना पद् २३। उ २ सू १६६१

टीका—तत्र जिनप्रणीत तत्त्व श्रद्धानात्मकेन सम्यक्त्वरूपेण यद् वेद्यते तत्सम्यक्त्ववेदनीयं, यत्पुनर्जिन प्रणीततत्त्वाश्रद्धानात्मकेन मिथ्यात्वरूपेण वेद्यते, तन्मिथ्यात्ववेदनीयं, यत्तु मिश्ररूपेण—जिन प्रणीत तत्त्वेषु न श्रद्धानं नापि निन्देत्येवंलक्षणो न वेद्यते तन्मिश्रवेदनीयं, आह सम्यक्त्ववेदनीयं कथं दर्शनमोहनीयं ? न हि तद्दर्शनं मोहयति, तस्य प्रशमादिपरिणामहेतुत्वात्, उच्यते, इह सम्यक्त्ववेदनीय मिथ्यात्वप्रकृतिः, ततोऽतिचारसंभवात्, औपशमिकक्षायिकदर्शनमोहनाच्चेदं दर्शनमोहनीयमित्युच्यते।

अर्थात् दर्शन मोहनीय कर्म तीन प्रकार का है, यथा—सम्यक्त्व वेदनीय, मिथ्यात्व वेदनीय और सम्यग्मिथ्यात्व वेदनीय। जिनेश्वर द्वारा उपदिष्ट तत्त्व में श्रद्धा का वेदन करता है वह सम्यक्त्व वेदनीय है; जिनेश्वर द्वारा उपदिष्ट तत्त्व में अश्रद्धा का वेदन करता है वह मिथ्यात्व वेदनीय है। जिनेश्वर द्वारा उपदिष्ट तत्त्व में मिश्र परिणाम का वेदन करता है वह मिश्र वेदनीय है।

यद्यपि सम्यक्त्व वेदनीय—मिथ्यात्व मोहनीय की प्रकृति है परन्तु उसके पुद्गल विशुद्ध होने के कारण क्षयोपशम सम्यक्त्व के प्रति बंधक नहीं है। उसके देशभंग रूप अतिचार सम्भव है तथा उसके उदय रहने से औपशमिक तथा क्षायिक सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती है। जब मिथ्यात्वी आध्यात्मिक विकास में सम्यक्त्व मोहनीय कर्म को भी उपशांत या क्षय कर देता है तब उसे औपशमिक सम्यक्त्व या क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

प्रायः जैन परम्परागत यह मान्यता रही है कि अनिवृत्तिकरण से पूर्व अपूर्वकरण में ग्रंथि का भेदन होता है—जैसा कि कल्पभाष्य में कहा है—

जा गंठी ता पढमं गंठि समइच्छओ हवइ बीयं।
अनियट्टीकरणं पुण सम्मत्तपुरक्खडे जीवे॥

—कल्पभाष्य

अर्थात् रागद्वेषात्मक ग्रंथि तक यथाप्रवृत्तिकरण जानना चाहिये। ग्रंथि के उल्लंघन करने को अपूर्वकरण कहते हैं अर्थात् अपूर्वकरण के द्वारा ग्रंथिका भेदन होने पर मिथ्यात्वी अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है। अनिवृत्तिकरण में मिथ्यात्वी सम्यक्त्व के सम्मुख हो जाता है अर्थात् मिथ्यात्वी शुभलेश्या, शुभ-अध्यवसाय, शुभपरिणाम के द्वारा आध्यात्मिक विकास करता हुआ अनंतानुबंधी चतुष्क तथा तीन दर्शन मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को अनिवृत्तिकरण में उपशांत कर औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है और शेष सत्ता में स्थित—अनुदित मिथ्यात्व को विशुद्ध परिणाम से अंतर्मुहूर्त तक उदय में नहीं आने देता है।[1]

मिथ्यात्वी शुद्ध, अशुद्ध, अर्धशुद्ध—इन तीन पुंज की प्रक्रिया एक नियम से करता है तथा उस प्रक्रिया के करने से वह सम्यक्त्वादि गुणों को कैसे प्राप्त

---

१—ततस्तत्राऽनिवृत्तिकरणे यदुदीर्णमुदयमागतं मिथ्यात्वं तस्मिन्ननुभवेनैव क्षीणे निर्जीर्णे, शेषे तु सत्तावर्तिनि मिथ्यात्वेऽनुदीयमाने परिणामविशुद्धिविशेषादुपशान्ते विष्कम्भितोदयेऽन्तर्मुहूर्तमुदयमनागच्छति—

—विशेषावश्यक भाष्य गा० [illegible] टीका

करता है। इसके संबंध में आचार्य हेमचन्द्र ने विशेषावश्यक भाष्य की टीका में कहा है—

इह कश्चिदनादिमिथ्यादृष्टिस्तथाविधगुर्वादिसामग्रीसद्भावेऽपूर्वकरणेन मिथ्यात्वपुंजकात् पुद्गलान् शोधयन् अर्धविशुद्धपुद्गललक्षणं मिश्रपुंज करोति, तथा शुद्धपुद्गललक्षणं सम्यक्त्वपुंजं विदधाति, तृतीयस्त्वविशुद्ध एवाऽऽस्ते। इत्येवं मदन-कोद्रवशोधनोदाहरणेन पुंजत्रय कृत्वा सम्यक्त्वपुञ्जपुद्गलान् विपाकतो वेदयन् क्षायोपशमिक-सम्यग् दृष्टिर्भण्यते। × × ×।

अत्र त्रिपुंजी दर्शनी सम्यग्दर्शनीत्यर्थः। सम्यक्त्वपुंजे तूद्वलिते-द्विपुंजी सन्नुभयवान् सम्यग्-मिथ्यादृष्टिर्भवतीत्यर्थः। मिश्रपुंजेऽप्युद्वलिते मिथ्यात्वपुंजस्यैवैकस्य वेदनादेकपुंजी मिथ्यादृष्टिर्भवति।

—विशेभा० गा ५२९ टीका

अर्थात् कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव तथाविध गुरु आदि सामग्री को प्राप्त कर अपूर्वकरण से मिथ्यात्व मोहनीय के पुंज में से मिथ्यात्व (मोहनीय) पुद्गलों का शोधन करते हुए अर्धशुद्ध—मिश्रपुंज को करता है और फिर सर्वथा शुद्ध सम्यक्त्व पुंज करता है। जो पुद्गल अशुद्ध ही रहते हैं उन्हें मिथ्यात्व पुंज कहा जाता है। मदन—कोद्रव शोधन की तरह मिथ्यात्वी तीन पुंज को करता हुआ उनमें से सम्यक्त्व पुंज के पुद्गलों का विपाक (प्रदेशोदय) से अनुभव करता हुआ क्षयोपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

जो मिथ्यात्वी तीन पुंज को करता है अंततः वह सम्यग्दर्शनी हो जाता है क्योंकि वह सम्यक्त्व पुद्गलों को प्रदेश रूप से वेदन करता है। इन तीन पुंजों में से जब मिथ्यात्वी सम्यक्त्व पुंज उद्वलित करता है और मिश्र पुंज का वेदन करता है तब सम्यग् मिथ्यादृष्टि होता है तथा जब मिश्र पुंज उद्वलित करता है और मिथ्या पुंज का वेदन करता है तब मिथ्यादृष्टि होता है।

षट्खंडागम के टीकाकार आचार्य वीरसेन ने कहा है—

तत्थ अधापवत्त-अपुव्व-अणियट्टिकरणाणि तिण्णि वि करेदि। एत्थ अधापवत्तकरणे णत्थि गुणसेडी। कुदो? साभावियादो। अपुव्वकरण-

पढमसमयप्पहुडि पुव्वं व उदयावलियबाहिरे गलिदसेसमपुव्व-अणिय-ट्टिकरणद्धादो विसेसाहियमायामेण पदेसग्गेण संजदगुणसेडिपदेस-ग्गादो असंखेज्जगुणं तदायामादो संखेज्जगुणहीणं गुणसेडिं करेदि। ठिदिअणुभागखण्डयघादे आउअवज्जाणं कम्माणं पुव्वं व करेदि। एवं दोहि वि करणेहि काऊण अणंताणुबंधिचउक्कट्ठिदीओ उदयावलिय-बाहिराओ सेसकसायसरूवेण संछुहदि। एसा अणंताणुबंधिविसंजो-जणकिरिया। जं संजदेण देसूणपुव्वकोडिसंजमगुणसेडीए कम्मणिज्जरं कदं तदो असंखेज्जगुणकम्ममेसो णिज्जरेदि। कधमेदं णव्वदे? अणंत-कम्मंसे त्ति गहासुत्तादो।

—षट्खंड० ४, २, ४, ६५। पृ० २८८। पु० १०

अर्थात् जब मिथ्यात्वी अनंतानुबंधी चतुष्क ( क्रोध-मान-माया-लोभ ) को शुभलेश्यादि द्वारा विसंयोजन करता है तब अधःप्रवृत्तकरण-अपूर्व करण—अनिवृत्तिकरण-इन तीनों करणों के द्वारा करता है। अधःप्रवृतकरण में गुणश्रेणी नहीं है, अतः निर्जरा नहीं है उसका स्वभाव है। अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर पूर्व की तरह उदयावली के बाहर आयाम की अपेक्षा अपूर्व तथा अनिवृत्ति करण के काल से विशेष अधिक प्रदेशाग्र की अपेक्षा संयत-गुणश्रेणी के प्रदेसाग्र से असंख्यात गुण किंतु उसके आयाम से संख्यात गुण हीन-इसप्रकार के गलित शेष गुणश्रेणी करता है। आयुष्यकर्म को बाद देकर शेष कर्मों का स्थितिकांडकघात और अनुभागकांडकघात पूर्व की तरह करता है। इस प्रकार दोनों ही करणों के द्वारा अनंतानुबंधीयचतुष्क को उदयावली के बाहर की सब स्थितियों को शेष कषायों के रूप से परिणमन करता है। इस प्रकार मिथ्यात्वी शुभ परिणामादि के द्वारा अनंतानुबंधीय चतुष्क के विसंयोजन की प्रक्रिया करता है। संयत से कुछ कम पूर्वकोटि प्रमाण संयतगुण श्रेणी द्वारा जो कर्म-निर्जरा करता है। अर्थात् अनंतानुबंधीका विसंयोजन करने वाले को संयत की अपेक्षा असंख्यात गुण कर्म निर्जरा होती है।

अस्तु सिद्धांत में इसका प्रतिपादन कियागया है कि पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय, नारकी जीवों में से कोई एक जीव अनंतर भवमें मोक्ष पद की

प्राप्त कर लेते हैं।[1] यह ध्यान रहे कि कोई एक निगोद का जीव प्रत्येक वनस्पति काय में उत्पन्न होकर फिर वहाँ से मनुष्य भव को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[2] यदि निगोद और नारकी के जीवों के प्रारंभ में अकाम निर्जरा से आत्म उज्ज्वलता नहीं होती तो उन जीवों में से निकल कर कोई जीव मोक्ष मार्ग का अधिकारी—आराधक नहीं हो सकता।

श्रीमद् आचार्य भिक्षु ने पुण्यपदार्थ की ढाल ( नव पदार्थ की चौपई ) में तथा श्री मज्जयाचार्य ने भ्रमविध्वंसनम् ग्रंथ के प्रथम अधिकार में अकाम निर्जरा को निरवद्य क्रिया में माना है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अकाम निर्जरा वीतराग देव की आज्ञा के बाहर नहीं मानी जासकती। आत्मा की जहाँ आंशिक या पूर्ण उज्ज्वलता हुई है वहाँ जान लेना चाहिये कि उस क्रिया (निरवद्य) में वीतराग देव की आज्ञा है—वहाँ धर्म है। आचारांग में कहा है—

"आणाए धम्माए"

अर्थात् भगवान की आज्ञा में धर्म है। मोक्ष के दान-शील तप, भावना—ये चार मार्ग बताये गये हैं।

मिथ्यात्वी के संवर नहीं होता है अतः अप्रत्याख्यान क्रिया सब मिथ्यात्वी के एक समान लगती है क्योंकि अविरति की अपेक्षा परस्पर मिथ्यात्वी एक समान है। चूँकि अविरति का सद्भाव दोनों में समान है। हाथी और कुंथु के अप्रत्याख्यान क्रिया समान लगती है। कहा है—

से नूणं भंते ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समा चेव अपच्चक्खाण-किरिया कज्जइ ? हंता, गोयमा ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य जाव कज्जइ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव कज्जइ ? गोयमा ! अविरतिं पडुच्च, से तेणट्ठेणं जाव कज्जइ।

—भगवती श ७। उ ८। प्र १६३, १६४

---

(१) प्रज्ञापना पद २०

(२) निगोद का जीव अनंतर भव में मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

अर्थात् हाथी और कुंथुए के जीव के अप्रत्याख्यानी क्रिया समान लगती है क्योंकि अविरति की अपेक्षा हाथी और कुंथुए के जीव के अप्रत्याख्यानी क्रिया समान लगती है। श्री मज्जयाचार्य ने भ्रमविध्वंसनम् में कहा है—

"अथ इहां हाथी कुंथुआरे अव्रत नी क्रिया बारबार कही। ते अव्रती हाथी आश्री कही। पिण सर्व हाथीआश्री न कही। हाथी तो देशव्रती पिण छै। ते देशव्रती हाथी थकी तो कुंथुआरे अव्रतनी क्रिया घणीछै। ते माटे इहां हाथी कुंथुआ के बरोबर क्रिया कही। ते अव्रती हाथी आश्री कही। पिण सर्व हाथी आश्री नहीं कही।"

भ्रमविध्वंसनम् अधि ५। ११। पृ० २१८

शुभकार्यों का फल शुभ होता है। श्रेणिक राजा का पुत्र कालकुमार का पुत्र पद्मकुमार भगवान् महावीर की धर्म देशना से प्रभावित होकर साधु पर्याय ग्रहण की। चारित्र पर्याय का पालन कर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुए। कहा है—

तएणं से पउमे अणगारे × × सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववन्ने।

—कप्पवंडसियाओ वर्ग २।अ१

अर्थात् अणगार पद्मकुमार सद्-क्रियाओं के ( साधु पर्याय ) कारण सौधर्म देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुए।

सोमिल ब्राह्मण ने भगवान् पार्श्वनाथ की संगति की। प्रश्नोत्तर हुए। समाधान मिला। मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यक्त्व को ग्रहण किया—श्रमणोपासक बना। तत्पश्चात् साधुओं के दर्शन के अभाव आदि कारणों से सोमिल सम्यक्त्व को गंवाकर मिथ्यात्वी हो गया। कहा है—

तएणं से सोमिले माहणे अन्नया कयाइ असाहुदंसणेण य पज्जुवासणयाए य मिच्छत्तपज्जवेहिं परिवड्ढमाणेहिं २ सम्मत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं मिच्छत्तं च पडिवन्ने।

—पुप्फियाओ वर्ग ३

अर्थात् सोमिल ब्राह्मण अन्यदा किसी साधु के दर्शन के अभाव से, आगत साधुओं की सेवा न करने से, मिथ्यात्वियों के संस्तव परिचय से मिथ्यात्व के पर्यव

की वृद्धि होने लगी और सम्यक्त्व की हानि होने लगी। पुनः मिथ्यात्व भाव को ग्रहण किया।

कालान्तर में उस सोमिल ब्राह्मण ने शुभ परिणाम, शुभ अध्यवसाय से शुभलेश्या से सम्यक्त्व को प्राप्त किया। कहा है—

**तएणं सोमिले माहणरिसी तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे पुव्वपडिवन्नाइं पंच अणुव्वयाइं सयमेव उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।**

—पुप्फियाओ वर्ग ३

अर्थात् देव के वचन को सुनकर पूर्व में अंगीकृत श्रावक के बारह व्रतों का स्वयमेव अंगीकार कर सोमिल ब्राह्मण विचारने लगा।

इस प्रकार सद्क्रिया से मिथ्यात्वी सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं।

निरयावलिया सूत्र में भगवान् ने श्रमणोपासकों को आराधक कहा है।

**समणोवासए वा समणोवासिया वा विहरमाणा आणाए आराहए भवइ।**

—निरयावलिया वर्ग १

अर्थात् श्रमणोपासक अथवा श्रमणोपासिका जिनाज्ञा के आराधक होते हैं।

श्रमणोपासक भी पूर्णतया व्रती नहीं होते हैं—व्रताव्रती होते हैं। अव्रतकी अपेक्षा वे कुछ अंश में विराधक भी हैं। उसी प्रकार मिथ्यात्वी सद्-क्रिया की अपेक्षा देशाराधक है परन्तु सम्यक्त्व की अपेक्षा वह विराधक है।

साधुपर्याय को ग्रहणकर यदि कोई व्यक्ति सम्यग् रूप से पालन नहीं करता है। साधुपर्याय में दोषों का सेवन करता है, माया का आश्रय लेता है तो वह व्यक्ति भूता आर्जिका की तरह देवलोक में जाकर भी देवी रूप में उत्पन्न हो सकता है।[1] अतः मिथ्यात्वी सद्क्रिया का पालन सरलता से, माया रहित, निदान रहित होकर करे जिससे वह रागद्वेषात्मक ग्रंथि का छेदन-भेदन करने में समर्थ हो।

निषधकुमार ने अपने पूर्व भव में (विरंगदत्त कुमार) सद्क्रिया से सम्यक्त्व को प्राप्त किया। सिद्धार्थ आचार्य के पास दीक्षा भी ग्रहण की। श्रमणपर्याय का पालन कर ब्रह्मदेवलोक में उत्पन्न हुए।[2]

---

(१) पुप्फचूलिया अ १

(२) वण्हिदसा अ१

अशुभ कर्मों का विपाक कटु होता है। कालकुमार रथमूसल संग्राम में चेटक राजा के द्वारा मारा गया—वह काल कुमार आरंभ कर यावत् अशुभदुष्कृत्य कर नरक में उत्पन्न हुआ। कहा है—

काले कुमारे एरिसएहिं आरंभेहिं जाव एरिसएणं असुभकडकम्म-पब्भारेण कालमासे कालं किच्चा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हेमाभे नरए नेरइयत्ताए उववन्ने।

—निरयावलिया वर्ग १।

अर्थात् कालकुमार ( श्रेणिक राजा का पुत्र ) आरंभ करने से यावत् अशुभ दुष्कृत्य कर्म के भार से भारी होकर काल के अवसर पर कालकर चौथी पंकप्रभा पृथ्वी मे हेमाभ नरकावास में नारकी रूप में उत्पन्न हुआ।

यद्यपि मिथ्यात्वी सिद्ध नहीं होते हैं, बीते हुए अनन्तशाश्वत काल में मिथ्यात्वी सद्‌क्रियाओं में सिद्ध नहीं हुआ है। जो कोई जीव कर्मों का अन्त करने वाले और चरम शरीरी हुए हैं, वे सब उत्पन्न ज्ञान—दर्शनधारी, अरिहंत, जिन और केवली होकर फिर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए हैं।[1]

अस्तु मिथ्यात्वी सद्‌क्रिया से मिथ्यात्व से निवृत्त होकर, सम्यक्त्व ग्रहण कर, तत्पश्चात् साधु पर्याय ग्रहणकर, केवल ज्ञान उत्पन्न कर सिद्ध,-बुद्ध-मुक्त उसी भव मे हो सकता है।

सिद्धान्त ग्रंथों के अध्ययन से अनुभव हुआ कि अनादि मिथ्यात्वी जीव भी क्षायिक सम्यक्त्व उसी भव में प्राप्त कर सकते हैं।

देवेन्द्र देवराज सनत्कुमार को सम्यग् दृष्टि की अपेक्षा आराधक कहा है।

सणंकुमारे णं देविंदे देवराया भवसिद्धिए, नो अभवसिद्धिए। एवं सम्मदिट्ठी, परित्तसंसारिए, सुलभबोहिए, आराहए, चरमे—पसत्थं णेयव्वं।

—भग० श ३। उ १। सू ७२, ७३

अर्थात् सनत्कुमारेन्द्र भवसिद्धक है, सम्यग्‌दृष्टि है, परित्त संसारी है, सुलभ बोधि है, आराधक है, चरम है। क्योंकि वह सम्यग्‌दृष्टि है और

(१) भगवती श१।उ४।प्र२१०

सद्क्रिया का आचरण करता है। यहाँ सद्क्रिया अर्थात् निर्जरा रूप क्रिया। क्योंकि देवों के प्रत्याख्यान नहीं होते हैं। संवर धर्म की अपेक्षा सब देव अप्रत्याख्यानी है। अप्रत्याख्यान की अपेक्षा वे सब विराधक हैं।

## २ (क): मिथ्यात्वी के उदाहरण

आगम तथा सिद्धांत ग्रंथों में कहागया है मिथ्यात्वी शम, अहिंसादि के द्वारा आध्यात्मिक विकास करसकते हैं। हम यहाँ पर कतिपय उन मिथ्यात्वियों का उद्धरण देंगे—जिन्होंने अपनी सद्क्रिया-शुभलेश्यादि के द्वारा मिथ्यात्व भाव को छोड़ कर सम्यक्त्व प्राप्त की है अथवा मिथ्यात्व अवस्था में शुद्ध क्रिया से शुभगति के आयुष्य का बंधन किया है—

सुखविपाक सूत्र में सुबाहु कुमार आदि दस व्यक्तियों का विवेचन किया गया है। उन दसों व्यक्तियों ने अपने पूर्वजन्म में संयति साधु को निर्दोष आहार-पानी-खादिम-स्वादिम दान दिया—फलस्वरूप संसार परीत कर मनुष्य के आयुष्य का बंधन किया। हम यहाँ सिर्फ सुबाहु कुमार के पूर्व जन्म—सुमुखगाथापति का उद्धरण देते हैं।

"तेणं कालेणं, तेणं समएणं, धम्मघोसाणं थेराणं अंतेवासी। सुदत्ते नाम अणगारे ओराले जाव तेयलेसे, मासमासेणं खममाणे विहरइ। तते णं से सुदत्ते अणगारे मासक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरसीए सज्झायं करेइ जहा गोयमसामी तहेव 'सुधम्मेथेरे आपुच्छइ जाव अडमाणे सुमुहस्स गाहावइस्स गिहे अणुपविट्ठे। ततेणं से सुमुहे गाहावई सुदत्तं अणगारं एज्जमाणं पासइ पासित्ता हट्ठतुट्ठे आसणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठेत्ता पायपीढाओ पच्चोरुहति पाउयाओ मुयइ। एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ करेत्ता, सुदत्तं अणगारं सत्तट्ठपयाइं पच्चुग्गच्छइ पच्चुग्गच्छित्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ करेत्ता वंदइ नमंसइ २त्ता। जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता। सयहत्थेणं विउलेणं असण-पाण-खाइम-साइम पडिलाभे सामीति तुट्ठे १। ततेणं तस्स सुमुहस्स तेणं दव्वसुद्धेणं

३ तिवेहेणं तिकरणसुद्धेणं सुदत्ते अणगारे पडिलाभिए समाणे संसारे परित्तीकए, मणुस्साउए निबद्धे ।

—विवागसूयं श्रु २ ( सुखविपाक ) अ० १

अर्थात् सुबाहुकुमार अपने पूर्व भव में—सुमुख गाथापति के भव में सुदत्त अणगार को देख कर अत्यन्त प्रसन्न चित्त से आसन पर से उठता है, उठकर पादपीठ से उतरता है। उतर कर पादुका को त्यागकर एकशाटिक उत्तरासंग से सुदत्त अणगार के सम्मुख सात-अष्ट कदम जाता है, फिर तिक्खुत्ता की पाटी से सुदत्त अणगार को वन्दन करता है, नमस्कार करता है। वंदन-नमस्कार करने के अनन्तर उस सुमुख गाथापति ने शुद्ध द्रव्य तथा त्रिविध त्रिकरण शुद्धि से सुदत्त अणगार को अशन पान-खादिम-स्वादिम प्रतिलाभित किया, प्रतिलाभित करने पर फलस्वरूप परीत्त संसार कर, मनुष्य की आयु का बन्धन किया।

उपर्युक्त पाठ में 'परित्त संसार' करके मनुष्य का आयुष्य बांधा है—परीत्त संसार अर्थात् अनंत-संसार अपरित संसार का छेदन कर मनुष्य का आयुष्य बांधा है। निर्दोष सुपात्रदान के द्वारा सुमुख गाथापति ( प्रथम गुण-स्थान में ) ने अनन्त संसार का छेदन कर परीत्त संसारी होकर—मनुष्य के आयुष्य का बंधन किया।

अस्तु सुमुख गाथापति ने सुपात्र दानादि सद् क्रिया से अपरित्त संसार से परीत संसार किया। मनुष्य के आयुष्य का बंधन कर—काल समय में काल प्राप्त कर हस्तिनापुर नगर में अजितशत्रु राजा की धारिणी रानी की कुक्षि में जन्म लिया। सुबाहुकुमार नाम रखागया। वह इष्ट ऋद्धि आदि का भोग विहरण करते हुए विचरता था।

श्रीमद् आचार्य भिक्षु ने मिथ्यात्वी के निरवद्य अनुष्ठान के द्वारा संसार परीत्त होना स्वीकृत किया है जैसा कि भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर में ( खंड १ ) पृष्ठ २५९ में कहा है—

सुलभ बोधी थो सुमुख नामें गाथापति रे।
तिण प्रतिलाभ्यां अणगार रे॥

त्यां परत संसार कीयों तिण दान थी रे।
विपाक सूत्र में छे विस्तार रे ॥१॥
—मिथ्याती री करणी री चौपई ढाल २

अर्थात् सुमुख गाथापति ने सुदत्त नामक अणगार को सामने आते हुए देख कर अत्यन्त प्रफुल्लित हुआ तथा अणगार को शुद्ध दान देकर परीत संसार किया। आगे जरा चिन्तन कीजिये कि आचार्य भिक्षु ने क्या कहा है—

घणां मिथ्याती श्री भगवान नें रे।
हरख सूं दीधो निरदोषण दांन रे॥
तिण दान री करणी नेंकहें अशुद्ध छेंरे।
त्यां विकलां रा घट में घोर अग्यांन रे॥१६॥
—भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर, मिथ्याती री चौपई ढाल २ पृ० २१०

अर्थात् मिथ्यात्वी के सुपात्र दान देने की निरवद्य क्रिया सावद्य नहीं हो सकती है। जो उस करणी को सावद्य कहते हैं उनके हृदय में घोर अज्ञान आच्छादित है।

पुनः विपाक सूत्र मे गौतम स्वामी के प्रश्न करने पर भगवान् ने कहा है कि मृगलोढादि दसों कुमारों ने (मिथ्यात्व अवस्था मे) अपने पूर्व भव में कुपात्र-दानादि दिया था, अतः उसका कुफल भोग रहे हैं। इसके विपरीत सुखविपाक सूत्र में भगवान् ने कहा है कि सुबाहुकुमारादि दसों कुमारों ने अपने पूर्व भव में सुपात्रदानादि (मिथ्यात्वी अवस्था में) दिया था, अतः उसका सुफल भोग रहेहैं। इस पाठ से भी सिद्ध होता जाता है कुपात्रदान आदि क्रिया सावद्य है, आज्ञा के बाहर है तथा सुपात्र दानादि क्रिया निरवद्य है तथा जिन आज्ञा के अन्तर्गत है। आवश्यक सूत्र में कहा गया है कि सावद्य क्रिया—आज्ञा के बाहर की क्रिया को साधुओं ने परित्याग कर दिया तब फिर उसमें धर्म ही कैसे हो सकता है ?

(२) विजय गाथापति ने भगवान् महावीर (प्रथम मासक्षमण पारणे के दिन) को अपने घर में प्रवेश करते हुए देखा और देखकर प्रसन्न और संतुष्ट हुआ। वह शीघ्र ही सिंहासन से उतरा और पादुका (खड़ाऊ) का त्याग किया। फिर एक पट वाले वस्त्र का उत्तरासंग किया। दोनों हाथ जोड़ कर सात-आठ चरण

भगवान् के सामने गया और वंदन-नमस्कार किया। आज मैं भगवान् को पुष्कल अशन, पान, खादिम और स्वादिम से प्रतिलाभूंगा—ऐसा विचार कर संतुष्ट हुआ। वह प्रतिलाभते समय भी संतुष्ट था और प्रतिलाभित करने के बाद भी संतुष्ट रहा फलस्वरूप अपरिमित संसार से परिमित संसार किया—देव का बांधा। कहा है—

"तएणं तस्स विजयस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं पडिगाहगसुद्धेणं तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं दाणेण मए पडिलाभिए समाणे देवाउए णिबद्धे, संसारे परित्तीकए।"

—भगवती श १५। सू २६

अर्थात् विजय गाथापति ने द्रव्य की शुद्धि से, दायक की शुद्धि से और पात्र शुद्धि से तथा त्रिविध (मन, वचन, काया) और तीन करण (कृत, कारित अनुमोदित) की शुद्धि से मुझे (भगवान् महावीर को) प्रतिलाभित करने से देव का आयुष्य बांधा तथा संसार परिमित किया।

विजय नामक गाथापति की तरह आनंद गाथापति ने भगवान् महावीर के दूसरे मास क्षमण के दूसरे पारणे में भगवान् को दान दिया, फलस्वरूप देव का आयुष्य बांधा-संसार-परिमित किया।

इसीप्रकार सुनंद गाथापति ने तथा बहुल ब्राह्मण ने भगवान को शुद्ध दान दिया फलस्वरूप देव का आयुष्य बांधा—संसार परिमित किया। मिथ्याती री करणी री चौपई ढाल २ में आचार्य भिक्षु ने कहा है—

सुलभ थो विजय नामें गाथापति रे,
तिण प्रतिलाभ्या भगवंत श्री महावीर रे।
तिण परत संसार कीयो तिण दान थीरे,
दांन सूं पाम्यो भवजल तीर ॥६॥
आणंद नें सुदंसण (सुनंद) विजय तीपरें रे,
वले बहुल ब्राह्मण तिम हीज जांण रे।
त्यां वीर नें दांन देइ ब्याहूं अथारे,
प्ररत संसार कीयों छै देता पांण रे ॥१०॥

× × ×

स्यां ने दांन दीयों छें मिथ्याती थके रे,
मिथ्याती थकां कीयों परत संसार रे।
इण करणी री जिणजी री छें आगना रे,
तिण करणी में अवगुण नहीं लिगार रे ॥१४॥

× × ×

सांप्रत सूतर मांहे इम कह्यो रे,
दांन थी कीयों परत ससार रे।
देव आउखों बांध्यों दान थी रे,
भगोती रा पनरमा सतक मझार रे ॥१८॥

—भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर खंड १।पृ०२१०

अर्थात् विजय गाथापति, आनंद गाथापति, सुनद गाथापति तथा बहुल ब्राह्मण ने भगवान् महावीर को शुद्ध दान दिया। उस समय वे सम्यक्त्वी नहीं थे—मिथ्यात्वी थे क्योंकि दान के प्रभाव से संसार परिमित किया—देव का आयुष्य बांधा। इस निरवद्य करणी मे भगवान् की आज्ञा है उसमे किंचित् भी अवगुण नहीं है।

(३) रेवती गाथापति ने साधु को आहार (बिजोरा पाक) दिया। संसार परिमित कर देव का आयुष्य बांधा।[१] कहा है—

"तएणं तीए रेवतीए गाहावतिणीए तेणं दव्वसुद्धे णं जाव दाणेणं सीहे अणगारे पडिलाभिए समाणे देवाउए णिबद्धे, ससारे परित्ती-कए ×××।

—भगवती श १५, सू १५९

---

(१) रेवती वेंहरायो बिजोरा पाकनें रे,
तिण दांन सूं कीयों परत ससार रे।
वले देव आउखों बांध्यों दांन थी रे,
ते विजय ज्यूं जांण लेजो विस्तार रे ॥२१॥

—भिक्षु ग्रंथ रत्नाकर खंड १,
मिथ्यातीरी निर्णय री ढाल २ पृष्ठ २१०

अर्थात् रेवती गाथापत्नी ने सिंह अणगार को (भगवान् की औषधि के लिए) द्रव्य शुद्धि युक्त प्रशस्त भावों से दिये गये दान से प्रतिलाभित करने से देव का आयुष्य बांधा तथा संसार परिमित किया।

(४) पूरण तापस ने प्रथम गुणस्थान में १२ वर्ष तक बेले-बेले की तपस्या की। फलस्वरूप बहुत बड़ी निर्जरा हुई तथा उसने प्रथम गुणस्थान में—निरवद्यानुष्ठान से भवनपति देव (चमरेन्द्र) के आयुष्य बंधन किया, अंत में सम्यक्त्व को प्राप्तकर भवनपति देव रूप में उत्पन्न हुआ।[१]

(५) ताम्रलिप्ति नगरी में तामली नामक मौर्यपुत्र गृहपति रहता था। एक दिन उसने अपने बड़े पुत्र को गृहभार संभलाकर प्रणामा नामक प्रव्रज्या अंगीकार की। जिसको जहाँ देखता है वहीं प्रणाम करता है। उच्च व्यक्ति को देखकर उच्च रीति से प्रणाम करता है और नीचे को देखकर नीची रीति से प्रणाम करता है अतः इसे प्रणामा प्रव्रज्या कहते हैं। उसने साठ हजार वर्ष तक बेले-बेले की तपस्या की। फलस्वरूप बालतप द्वारा तामली तापस का शरीर शुष्क पड़ गया।

तएणं से तामली बालतवस्सी बहुपडिपुण्णाइं सट्ठिं वाससहस्साइं परियागं पाउणित्ता, दोमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता, सवीसं भत्तसयं अणसणाए छेदित्ता कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे × × × ईसाणदेविंदत्ताए उववण्णे।

—भग० श ३। उ १। सू ४३

अर्थात् तामली बालतपस्वी पूरे साठ हजार वर्ष तक तापस पर्याय का पालन करके, दो महिने की संलेखना आत्मा को संयुक्त कर के एक सौ बीस भक्त अनशन का छेदन करके और काल के अवसर पर काल करके ईशान देवलोक में ईशानेन्द्र रूप से उत्पन्न हुआ।

(६)—पूर्व समय में वल्कलचीरी और तारागण ऋषि आदि शुद्ध क्रिया के द्वारा मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी होकर सद्गति को प्राप्त किया। जैसे कि सूयगडांग सूत्र के टीकाकार आचार्य शीलांक ने कहा है—

केचन अविदितपरमार्था आहुः उक्तवंतः, किं तदित्याह—यथा 'महापुरुषाः' प्रधान पुरुषाः वल्कलचीरितारागणर्षि प्रभृतयः 'पूर्वं'

१—भगवती श० ३। उ १

पूर्वस्मिन् काले तप्तम्—अनुष्ठितं तप एव धनं येषां ते तप्त-तपोधनाः—पंचाग्न्यादितपोविशेषेणनिष्टप्तदेहाः, त एवमम्भूताः शीतोदकपरिभोगेन, उपलक्षणार्थत्वात् कंदामूलफलाद्युपभोगेन च 'सिद्धिमापन्नाः' सिद्धिगताः, 'तत्र' एवम्भूतार्थसमाकर्णने तदर्थ सद्भावावेशात् 'मंदः' अज्ञोऽस्नानादित्याजितः प्रासुकोदकपरिभोगभग्नः संयमानुष्ठाने विषीदति, यदि वा तत्रैव शीतोदकपरिभोगे विषीदति लगति निमज्जतीति यावत् , नत्वसौ वराक एवमवधारयति, यथा तेषां तापसादिव्रतानुष्ठायिनां कुतश्चिज्जातिस्मरणादिप्रत्ययादाविर्भूतसम्यग्दर्शनानां मौनीन्द्रभाव संयमप्रतिपत्त्या अपगतज्ञानावरणीयादिकर्मणा भरतादीनामिव मोक्षवाप्ति न तु शीतोदकपरिभोगादिति ।

—सूय० श्रु १ । अ ३ । उ४ । गा ११,१२ । टीका

अर्थात् परमार्थ को न जानने वाले कतिपय अज्ञानी यह कहते हैं कि पूर्व समय में वल्कलचीरी और तारागण ऋषि आदि महापुरुषों ने तपरूपी धन का अनुष्ठान तथा पंचाग्नि सेवन आदि तपस्याओं के द्वारा अपने शरीर को खूब तपाया था । उन महापुरुषों ने शीतल जल का उपयोग तथा कंद, मूल, फल आदि का उपयोग करके सिद्धि लाभ किया था । परन्तु उनका यह कथन युक्ति संगत नहीं है । वे लोग तापस आदि के व्रत का अनुष्ठान करते थे उनको किसी कारण वश (शुभ अध्यवसाय, शुभलेश्यादि से) जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया फलतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई थी और मौनीन्द्र संबंधी भाव संयम की प्राप्ति होने से उनके ज्ञानवरणीयादि कर्म नष्ट हो गये थे—इस कारण उन्हें भरत आदि की तरह मोक्ष प्राप्त हुआ था परन्तु शीतल जल का उपभोग करने से नहीं ।

सर्व विरति परिणाम तथा भावलिंग के बिना जीवों को विनाश करने वाला शीत कच्चा जल का पान और बीजादि के उपभोग करने से कभी भी कर्म क्षयरूप मोक्ष प्राप्त हो नहीं सकता है । जिन लोगों को मोक्ष की प्राप्ति हुई थी उनको किसी कारण वश जातिस्मरण आदि ज्ञान के उदय होने से सम्यग् ज्ञान सम्यग्-दर्शन और सम्यग् चारित्र की प्राप्ति होने के कारण ही हुई थी ।

(७) चंडकोशिक सर्प ने भगवान् को उपसर्गावस्थान्तर बल्मीक में डसा। उस सर्प को शुभ-अध्यवसायादि से जाति स्मरण ज्ञान भी उत्पन्न हुआ। मिथ्यात्व भाव को छोड़कर—समता से वेदना को सहन किया। अंततः भक्त प्रत्याख्यान कर समताभाव से मरण को प्राप्त होकर सहस्रार देवलोक में उत्पन्न हुआ। उसे १५ दिन का भक्त प्रत्याख्यान आया।[१]

चंडकोशिक सर्प जैसे उग्र क्रोधित ( मिथ्यात्व भाव को प्राप्त ) जीव भी सत्-संगति में आकर आत्मोत्थान किया। अतः मिथ्यात्वी कुसंगति को छोड़कर सत्संगति में रहने की चेष्टा करे।

(८) राजगृहनगर वासी नंदमणिकार—भगवान् महावीर का उपदेश सुनकर मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी बना। श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। कालान्तर में वही नंद मणिकार—वीतराग देव के वचनों को सुनने का अवसर लम्बे समय तक नहीं मिलने के कारण सम्यक्त्व के पर्याय की अत्यन्त हानि होने से मिथ्यात्व के पर्याय की अत्यन्त वृद्धि होने से मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ। उस मिथ्यात्व अवस्था में नन्द मणिकार मरण को प्राप्त हुआ; नंदा पुष्करणी में मेंढक का भव प्राप्त किया। जैसे कि कहा है—

तएणं से नंदे मणियार सेट्ठी अण्णया कयाइ असाहुदंसणेण य अपज्जुवासणाए य अणणुसासणाए य असुस्सूसणाए य सम्मत्त-पज्जवेहिं परिहायमाणेहिं-परिहायमाणेहिं मिच्छत्तपज्जवेहिं परिवड्ढ-माणेहिं—परिवड्ढमाणेहिं मिच्छत्तं विप्पडिवण्णे जाए यावि होत्था।

—णायाधम्मकहाओ श्रु १। अ १३। सू १९

अर्थात् ( श्रमणोपासक ) नंद मणिकार श्रेष्ठी अन्यदा कदाचित् साधुओं के दर्शन नहीं होने से, साधुओं की पर्युपासना नहीं होने से, साधुओं का उपदेश नहीं सुनने से सम्यक्त्व के पर्याय की अत्यन्त हानि होने से और मिथ्यात्वके पर्याय की अत्यन्त वृद्धि होने से मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ।

उस नंद मणियार के जीव को मेंढक के भव में शुभलेश्यादि से जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ फलस्वरूप मिथ्यात्व भाव को छोड़कर सम्यक्त्व को प्राप्त

(१) आव० नि गा ४६१। मलयगिरि टीका

किया, श्रमणोपासक बना। बेले-बेले की तपस्या करने लगा। अन्त में संथारा करके सौधर्म देवलोक मे वैमानिक देव रूप में उत्पन्न हुआ।

(९) भगवान् महावीर की मासीका पुत्र सिद्धार्थ बालतप से वाणव्यंतर देव मे उत्पन्न हुआ—कहा है—

सिद्धत्थो सामिस्स माउच्छियापुत्तो बालतवो कम्मेण वाणमंतरो जातो।

—आव०मूल भाष्य गा २११। टीका

—त्रिषष्टिशलाका० पर्व १०। सर्ग २।

अर्थात् भगवान् की मामीका पुत्र बालतप से वाणव्यन्तर देव में उत्पन्न हुआ।

(१०) एक वृषभ अकाम निर्जरा के द्वारा शूलपाणि यक्ष—वाणव्यंतर देव रूप में उत्पन्न होता है। त्रिषष्टि शलाकापुरुषचरित्र मे कहा है—

क्रुद्धोऽकामनिर्जरावान् स गौर्मृत्वोदपद्यत।
व्यंतरः शूलपाण्याख्यो ग्रामेऽत्रैवपुरातने॥

—त्रिशलाका० पर्व १०। सर्ग ३। श्लो ९२

क्रोधित वृषभ भी अकाम निर्जरा ( भूख, तृषा के परीषह से पीड़ित ) के द्वारा शूलपाणि यक्ष (वाणव्यन्तर देव) हुआ।[1] अकाम निर्जरा भी देवगति के बंध का कारण है। कालान्तर मे वही शूलपाणि यक्ष अपनी आत्मा की निंदा करता है अंततः सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है।[2] सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय शुभ अध्यवसाय, शुभलेश्या होनी चाहिये।

---

१—× × अकाम तण्हाए छुहाए मरिऊणं तत्थेव गामे अग्गुज्जाणे सूलपाणी जक्खो उप्पण्णो।

—आव०नि गा० ४६१। मलयटीका

२—शूलपाणिस्तदाकर्ण्याऽनेकप्राणिक्षयं कृतम्।
स्मरन्मुहुर्निनिन्द स्वं पश्चात्तापाधिवासितः॥१४४॥
सम्यक्त्व शुद्धमबोधिज्जनः × × × ॥१४५॥

—त्रिशलाका० पर्व १०। सर्ग ३

(११) पुद्गल परिव्राजक को आलंभिका नगरी के शंखवन नामक उद्यान से थोड़ी दूरी पर प्रकृति की सरलता आदि से मिथ्यात्व अवस्था में विभंग ज्ञान उत्पन्न हुआ। कहा है।

तेणं कालेणं तेणं समएणं आलभिया णामं णयरी होत्था। वण्णओ। तत्थणं संखवणे नाम चेइए होत्था। वण्णओ। तस्स णं संखवणस्स चेइयस्स अदूरसामते पोग्गले णामं परिव्वायए परिवसइ-रिउव्वेद-जजुवेद जाव णएसु सुपरिणिट्ठिए छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ ( पगिज्झिय-पगिज्झिय सुराभिमुहे आयावणभूमीए ) आया-वेमाणे विहरइ। तएणं तस्स पोग्गलस्स छट्ठंछट्ठेणं जाव आया-वेमाणस्स पगइभद्दयाए जहा सिव्वस्स जाव विब्भंगे णामं णाणे समुप्पण्णे।"

—भगवती० शतक ११ । उ १२ । प्र १७४, १८६, १८७

अर्थात् आलंभिका नगरी थी। वहाँ शंखवन नामक उद्यान था। उस शंखवन में थोड़ी दूरी पर पुद्गल नामक परिव्राजक रहता था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि से ब्राह्मण विषयक नयों में कुशल था। वह निरंतर बेले-बेले की तपस्या करता हुआ, आतापना भूमि में दोनों हाथ ऊँचे करके आतापना लेता था। इस प्रकार तपस्या करते हुए उस पुद्गल परिव्राजक को प्रकृति की सरलतादि से विभंग ज्ञान उत्पन्न हुआ।

आगे जाकर पुद्गल परिव्राजक मिथ्यात्व भाव को छोड़कर भगवान् महावीर के पास दीक्षित होकर सर्वकर्मों का अंत किया।[1]

(१२) उववाई सूत्र में कहा है—

"से जे इमे गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेडकब्बड-दोणमुह-मडंब-पट्टणासम संबाह-सन्निवेसेसु मणुया भवन्ति-तंजहा—पगइ-भद्दगा पगई उवसंता पगइतणुकोहमाण-माया-लोहा मिउ-मद्दवसंपण्णा अल्लीणा ( आलीणा ) विणिया, अम्मापिउसुस्सूसगा अम्मापिऊणं अणतिक्कमणिज्जवयणा, अप्पिच्छा अप्पारंभा, अप्पपरिग्गहा,

१—भग० श ११ । उ १२ । सू १९७

अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं समारंभेणं अप्पेणं आरम्भसमारम्भेणं वित्तिं कप्पेमाणा बहूइं वासाइं आउयं पालेंति पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति। तहिं तेसिं गई, तहिं तेसिं ठिई, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते। तेसि णं भंते! देवाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता? गोयमा! चउद्दसवास सहस्साइं ठिई पण्णत्ता।"

—उववाई सू ९१

यहाँ मिथ्यात्वी के संबंध में कहा गया है कि ग्राम, आकर नगर, निगम, राजधानी, खेड़, कर्बट मडंब, द्रोणमुख, पट्टण, आश्रम, संबाह और सन्निवेशों में मनुष्य (मिथ्यात्वी जीव) होते हैं—यथा स्वभाव से ही भद्र अर्थात् कुटिलपन से रहित, स्वभाव से शान्त अर्थात् क्रोधादि से उपशांत स्वभाव से ही हल्के पतले क्रोध, मान, माया और लोभवाले, मृदु-कोमल—अहंकार रहित स्वभाव वाले, गुरुजनों के आश्रित रहे हुए, विनीत, माता-पिता की सेवा भक्ति के करने वाले, अल्प इच्छा वाले अर्थात् मोटी इच्छा न रखने वाले, अल्प परिग्रह वाले, अल्प आरम्भवाले, अल्प समारम्भ से आजीविका उपार्जन करनेवाले बहुत वर्षों की आयुष्य व्यतीत करते हैं। आयुष्य व्यतीत करके, काल के समय में काल करके वाणव्यंतर के किसी देवलोक के देवरूप में उत्पन्न होते हैं तथा वहाँ उनकी चौदह हजार वर्ष की स्थिति होती है। यद्यपि सर्व आराधना की दृष्टि से वे परलोक के अनाराधक होते हैं।[1]

वाणव्यंतर देव अपने पूर्वजन्म—मिथ्यात्वी अवस्था में कृत सुकृति के कारण होते हैं। कहा है—

तत्थणं बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य आसयंति, सयन्ति, चिट्ठंति, णसीयंति, तुयट्टंति, रमंति, ललंति, कीलंति, मोहंति। पूरा पोराणाणं सुचिण्णाणं सुपरिक्कंताणं कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणफलवित्तिविसेसं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

—जंबूद्दीव पण्णत्ती सू. १

---

(१) तेणं भंते! देवा परलोगस्स आराहगा? णो इणट्ठे समट्ठे।

—उववाई सूत्र—९१

अर्थात् वाणव्यंतर देव-देवी सुखपूर्वक वास करते हैं, क्रीड़ा करते हैं, क्रीड़ा करते हैं आदि। ये सब पूर्वभव में सद् अनुष्ठानिक क्रिया का फल है। श्री भज्जयाचार्य ने कहा है।

"ते व्यंतर पूर्वले भवे मिथ्यादृष्टिपणे तप शीलादिक भला पराक्रमे करि व्यंतर पणे उपना। ते भणी श्री तीर्थंकर व्यंतरना पूर्वना भवनो भलों पराक्रम कह्यो।"

—भ्रमविध्वंसनम् अधिकार १।२८

दृष्टि तीन प्रकार की होती है—सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि। भगवती सूत्र के तीसवें शतक में कहा है कि सम्यग्दृष्टि तिर्यंच पंचेन्द्रिय अथवा मनुष्य—वैमानिक देव को छोड़ देकर अन्य आयुष्य का बंधन नहीं करता है, सम्यग्मिथ्यादृष्टि के अर्थात् तीसरे गुणस्थान में आयुष्य का बंधन नहीं होता है तथा मिथ्यादृष्टि जीव नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति ( भवनपति, वाणव्यंतर ज्योतिषी-वैमानिक देव ) के इन चारों ही गति में से किसी एक गति के आयुष्य का बंधन करता है। चूंकि पहले कहा जा चुका है कि देवगति और मनुष्यगति के आयुष्य का बंधन धर्मानुष्ठानिक क्रियाओं के आचरण करने से होता है, अतः सिद्ध हो जाता है कि मिथ्यात्वी सद्-अनुष्ठानिक क्रियाओं के द्वारा वाणव्यंतर देव का आयुष्य बांधता है, अतः वे वाणव्यंतर देव पूर्व भव में सद् पराक्रम क्रिया फलस्वरूप उनके फल का अनुभव करते हैं। मिथ्यात्वी के शील, तप आदि को सद् पराक्रम कहा गया है। यदि उनका पराक्रम एकांत असद् होता तो सद् पराक्रम का उनके लिये व्यवहार नहीं किया जाता।

(१३) मरुदेवी माता का जीव जीवनकाल पर्यन्त वनस्पति रूप में था। कहा है—

ततो यदुगीयते सिद्धांते—मरुदेवा जीवो यावज्जीवभाव वनस्पतिराशीदिति।

—प्रज्ञापना पद १८। सू१। टीका

सांव्यवहारिकराशि और असांव्यवहारिकराशि—ये दो प्रकार के सांसारिक जीव हैं। मरुदेवी माता असांव्यवहारिकराशि—जीव ( अनादि निगोद के जीव )

से मरण प्राप्त कर, प्रत्येक वनस्पति काय में (सांव्यवहारिक राशि में) उत्पन्न हुई। वहाँ से मरण प्राप्त कर मरुदेवी के रूप में उत्पन्न हुई। मरुदेवी माता मिथ्यात्व से निवृत्त होकर यावत् सिद्ध बुद्ध-मुक्त हुई।

मरुदेवी माता ने अपने इस भव में मिथ्यात्व से सम्यक्त्व प्राप्त किया। दीक्षा ग्रहण की, केवल ज्ञान प्राप्त किया, धर्मोपदेश माला में जयसिंह सूरि ने कहा—

उप्पन्ने य तित्थयरस्स केवले पयट्टो भरहो मरुदेविं पुरओ हत्थिखंधे काऊण महासमुदएण भगवओ वंदणत्थं। भणिया य सा तेण—अम्मो! पेच्छासु तायस्स रिद्धिं। तत्तो तित्थयर-सद्दायन्नण-संजाय-हरिसाए पणट्ठं तिमिरं। अदिट्ठं पुव्व दिट्ठं समोसरणं। एत्थंतरम्मि संजाय-सुह-परिणामाए समुच्छलियं—जीव-वीरियाए समासाइय—खवगसेढीए उप्पन्नं केवलनाणं।

—धर्मोपदेशमाला पृ० १०

अर्थात् भगवान् ऋषभदेव को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है—ऐसा सुनकर उन्हें वंदन करने के लिए मरुदेवी माता भरत चक्रवर्ती के साथ वन्दार्थ आयी। उसने अपूर्व समोसरण देखा। भावों की विशुद्धि से मरुदेवी माता ने हस्ति पर बैठी हुई चारित्र ग्रहण कर केवलज्ञान उत्पन्न किया।

(१४) द्वारिका नगरी के वासी कृष्ण वासुदेव (जो इस अवसर्पिणी काल के नवमें वासुदेव थे।) ने साधुओं की संगति तथा सदनुष्ठानिक क्रियाओं के द्वारा—विशुद्ध लेश्या, प्रशस्त अध्यवसाय, शुभ परिणाम द्वारा मिथ्यात्व से निवृत्त हो सम्यक्त्व को प्राप्त किया। यद्यपि उनके तीसरे नारकी का आयुष्य-प्रथम गुणस्थान में ही बंध गया था। आयुष्य के बंधन के समय—अशुभ लेश्या थी। आगामी उत्सर्पिणी काल में बारहवें तीर्थंकर[1] (अमम) होंगे। वासुदेव-देशविरति अथवा सर्वविरति को प्राप्त नहीं कर सकते हैं क्योंकि सब वासुदेव पूर्व जन्म में कृत निदान के द्वारा होते हैं।[2] अंतगडदशाओ में कहा है—

---

१—अंतगडदशाओ वर्ग ५। अ १। सू १८

२—तीर्थंकर सुर जुगलिया रे, वासुदेव बलदेव।
ए पंचम गुण पावै नहीं रे, ए रीत अनादि स्वयमेव।

—चौबीसी—अनंतनाथ स्तवन

"नं णो खलु कण्हा, एतं भूयं वा भव्वं वा भविस्सइ वा जण्णं वासुदेवा चइत्ता हिरण्णं जाव पव्वइस्संति। से केणट्ठेणं भंते। एवं वुच्चइ—ण एतं भूयं वा जाव पव्वइस्संति ? कण्हाइ ? अरहा अरिट्ठणेमी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी—एवं खलु कण्हा। सव्वे वि य णं वासुदेवा पुव्वभवे णियाणकडा, से एएणट्ठेणं कण्हा एवं वुच्चइ—ण एत भूयं जाव पव्वइस्संति।

—अंतगडदसाओ सूत्र वर्ग ५, अ० १, सू १२ से १४

अर्थात् ऐसा कभी नहीं हुआ है, नहीं होता है, और न होगा कि वासुदेव अपने भव मे संपत्ति को छोड़कर दीक्षा नहीं लेते हैं, ली नहीं है, लेंगे भी नहीं। सभी वासुदेव पूर्व भव मे निदान कृत (नियाणा करने वाले) होते हैं अतः प्रव्रजित नहीं होते हैं।

अस्तु कृष्ण वासुदेव ने सम्यक्त्व (क्षायिक सम्यक्त्व) को प्राप्त करने के बाद तीर्थंकर नाम कर्म का बंध किया।

(१५) मगध देश के अधिपति राजा श्रेणिक ने साधुओं की संगति के कारण विशुद्ध लेश्या का परिणमन होने से अनंतानुबंधीय चतुष्क-दर्शनत्रिक को क्षय कर (मिथ्यात्व भाव से सर्वथा निवृत्त होकर) क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त किया। राजा श्रेणिक के भी क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व प्रथम गुणस्थान में ही कापोत लेश्या में प्रथम नरक का आयुष्य बंध गया था। सम्यक्त्व के बाद राजा श्रेणिक ने भी तीर्थंकर नाम कर्म बंधने योग्य बीस स्थानकों[1] में से कतिपय स्थानकों का सेवन किया, फलस्वरूप तीर्थंकर नाम कर्म का बंध किया। राजा श्रेणिक भी देश विरति व सर्वविरति को ग्रहण कर सका।

कहा जाता है कि राजा श्रेणिक मंडिकुक्षि नामक उद्यान में अनाथी मुनि को देखा। तत्पश्चात् उन्हें वंदन-नमस्कार किया। विविध प्रश्नों का समाधान पाया। कहा है—

एवं थुणित्ताणं स रायसीहो, अणगारसीहं परमाइ भत्तिए।
सओरोहो सपरियणो सबंधवो, धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा॥

—उत्त० अ २०। गा ५८

(१) ज्ञाता सूत्र अ० ८

लक्ष्मीवल्लभ टीका—××× ततो मुनेर्वाक्यश्रवणात् सर्वपरिकर-युक्तो धर्मानुरक्तोऽभूदित्यर्थः।

अर्थात् इसप्रकार राजाओं में सिंह के समान पराक्रमी वह राजा श्रेणिक कर्म रूपी शत्रुओं को नाश करने में सिंह के समान उन अनाथी मुनि की उत्कृष्ट भक्ति पूर्वक, स्तुति करके, अपने अंतपुर सहित मिथ्यात्व—रहित निर्मल चित्त से धर्म में अनुरक्त बन गया। प्रथम नरक से निकल कर श्रेणिक राजा का जीव भी आगामी उत्सर्प्पिणी काल में भरत क्षेत्र में पद्म नाम तीर्थंकर होगा।[२]

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में कहा है कि जब भगवान् महावीर राजगृह नगर में पधारे तब राजा परिवार सहित भगवान् महावीर को वंदन-नमस्कार किया। भगवान् ने परीषद को धर्म देशना दी। भगवान् की वाणी से प्रभावित होकर राजा श्रेणिक ने मिथ्यात्व को छोड़ा, सम्यक्त्व को ग्रहण किया। कहा है—

> इत्यभिष्टुत्य विरते श्रेणिके परमेश्वरः।
> पीयूषवृष्टिदेशीयां विदधे धर्मदेशनाम्।
> श्रुत्वा तां देशनां भर्तुः सम्यक्त्वं श्रेणिकोऽश्रयत्।
>
> —त्रिशलाका० पर्व १०। सर्ग ६। श्लो ३७५, ३७६। पूर्वार्ध

अर्थात् वीर भगवान् की अमृतमय देशना को सुनकर श्रेणिक राजा ने सम्यक्त्व का आश्रय लिया।

अस्तु कृष्ण वासुदेव तथा राजा श्रेणिक यदि प्रथम गुणस्थान में कुछ भी सदनुष्ठान नहीं करते तो वे कैसे मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यक्त्व—क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करते। जबकि मिथ्यात्वी अनंतानुबंधी चतुष्क को सदनुष्ठान क्रिया से क्षय कर देता है—तब मिथ्यात्व की विशुद्ध करके क्षायिक सम्यक्त्व का आराधक होता है। क्षायिक सम्यक्त्व के कोई कोई आराधक जीव उसी भव में सिद्ध हो जाते हैं, बुद्ध हो जाते हैं, कर्मों से मुक्त हो जाते हैं, परमशांति को प्राप्त हो जाते हैं, जो उसी भव में मोक्ष नहीं पाते हैं वे सम्यक्त्व की उच्च विशुद्धि के कारण तीसरे भव का अतिक्रमण नहीं करते अर्थात् तीसरे भव में

---

(२) समवायांग सू २५१-२५२

अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद जीव संसार में तीन भव से अधिक नहीं करते।[1] यथा—श्रेणिक राजा तथा कृष्णवासुदेव। किसी अपेक्षा से इनकी सम्यक्त्व को—रोचक सम्यक्त्व भी कहा गया है।[2]

(१६) शकडालपुत्र पहले गोशालक का श्रावक ( मिथ्यात्वी ) था। उसने भगवान् महावीर को वंदन नमस्कार किया। धर्म सुना फलस्वरूप मिथ्यात्व से निवृत्त होकर श्रावक के बारह व्रतों को ग्रहण किया। एकाभवावतारी होकर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ।[3]

(१७) ज्ञातासूत्र के प्रथम अध्ययन मे मेघकुमार का वर्णन है उसने अपने पिछले भव मे ( हाथी के भव में ) ज्ञान रहित था, पर उसने जिन आज्ञा का आराधन किया था, जिसके द्वारा अपरित्त संसार को परीत्त संसार करके मनुष्य की आयु बांधी। उसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है।

मेघकुमार का जीव पूर्व-भव में हाथी था। वह सब हाथियों का मुखिया था। सब हाथी जंगल में विचरण कर रहे थे कि अकस्मात् वन में दावानल लग गया। मेघकुमार के जीव ( जो सब हाथियों का स्वामी था ) को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जाति स्मरणज्ञान[4] उत्पन्न हुआ। (यह ज्ञान उत्कृष्ट अपने संज्ञी के कृत लगातार नवभव को जान सकता है।) हाथियों का समूह गंगानदी के दक्षिण किनारे पर आया, वहाँ पर मेघकुमार के जीव ने एक योजन का लम्बा-चौड़ा मंडप प्रस्तुत कर रखा था। प्रायः सभी पशु वहाँ आकर उस मंडप में घुस गये। मंडप पशुओं से ठसमठस भर गया। मेघकुमार का जीव ( हाथी ) एक

---

(१) उत्तराध्ययन सूत्र अ २९ । सू १

(२) जैन सिद्धांत बोल संग्रह भाग १, बोल ८०

(३) उपासगदसाओ अ ७

(४) जातिस्मृतिरप्यतीतसंख्यातभवावबोधिका: मतिज्ञानस्यैव भेदः स्मृतरूपतया किल जातिस्मरणं चाभिनिबोधिकं विशेष इति।

—आचारांग टीका

स्थल पर खड़ा हो गया। कुछ समय के बाद उसके शरीर में बहुत जोर से खाज आने लगी। खाज खुजलाने के लिये ज्यों ही उसने अपना पैर ऊँचा उठाया कि एक सुसला ( खरगोश) जगह न मिलने के कारण उसके पैर के नीचे बैठ गया। हाथी ज्यों ही अपना पैर नीचे रखने लगा त्यों ही उसने अपने पैर के स्थल पर सुसले को देखकर पैर को वापस ऊँचा उठा लिया।

उसने अपना पैर यह सोचकर ऊँचा रखा कि यदि मैं अपना पैर नीचे रख दूँगा तो मेरे द्वारा उस खरगोश की घात हो जायेगी। मेरी आत्मा हिंसा दोष से दूषित होगी। इसी अनुकम्पा से उसने अपना पैर ढ़ाई दिन तक ऊँचा रखा। ढाई दिन के बाद जब अग्नि कुछ शांत हुई। तब सब जानवर वहाँ से अपने-अपने स्थान पर चले गये। बाद में ज्यों ही वह अपने पैर को नीचे रखने लगा त्यों ही पैर अकड़ जाने के कारण वह गिर गया। उसके शरीर में असह्य वेदना उत्पन्न हुई। उसने ढाई दिन लगातार महाघोर वेदना समभाव से सहन की और फलस्वरूप मनुष्य की आयु बांधी। ढाई दिन पैर ऊँचा रखने से उसे इतनी बड़ी कर्म-निर्जरा हुई कि—"अनंत संसारी से परीत संसारी" होकर मनुष्य की आयु बांधी।[1] वह अपने आयुष्य को समाप्त कर, श्रेणिक राजा के घर में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ—जिसका नाम मेघकुमार रखा गया। उस मेघकुमार ने अपने पिछले भव—हाथी के भव में सदनुष्ठानिक क्रिया से संसार परीत किया तथामनुष्य का आयुष्य बांधा, लेकिन उस पिछले भव में उसको सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई थी[2], जैसा कि सूत्र पाठ में कहा है—

---

१—तए णं तुम मेहा! ताए पाणाणुकंपयाए ४ संसारे परित्तीकए मणुस्साउए निबद्धे।

—नायाधम्मकहाओ श्रु १। अ० १। सू १८२

२—समकत विण हाथी रा भव मभे रे,
सुसला री दया पाली छै ताहि रे।
तिण परत संसार कियौ दया थकी रे,
ओवों पेंहलां अधेन गिनाता मांहि रे।

—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर, मिथ्याती री निर्णय री ढाल २, गा ५२। पृ० २६२

"तं जइ तांव तुमे मेहा ! तिरिक्खजोणिय भाव मुवागएणं अपडि-लद्ध सम्मत्तरयणं लभेणं से पाए पाण्णाणुकंपयाए जाव अंतरा चेव संधारिए णो चेवणं णिक्खित्ते किमंग पुण तुमं मेहा ! इयाणिं विपुलं कुलसमुब्भवे णं।

—नायाधम्मकहाओ श्रु १। अ० १। सू १८९

अर्थात् भगवान् महावीर ने मेघ अणगार को ( मेघकुमार जब गृहस्थपन को छोड़कर भगवान् के पास दीक्षित हो जाता है तब भगवान् महावीर किसी प्रसंग पर संबोधित करते हुए कहते हैं। ) संबोधित करते हुए कहा है कि हे मेघ ! तुम तिर्यंच के भव में—हाथी के भव में सम्यक्त्व रूपी रत्न को प्राप्त नहीं कर सके, परन्तु मिथ्यात्व अवस्था में अनुकम्पा के द्वारा अपरित संसार से संसार परीत्त किया। धर्मानुष्ठानिक क्रिया के बिना जीव संसार परीत्त नहीं होता है, अतः संसार परीत्त होने की क्रिया सावद्य नहीं हो सकती।

निरवद्य करणी करने की भगवान् ने आज्ञा दी है, चाहे कोई भी व्यक्ति करे। यदि मिथ्यात्वी के कर्मों का क्षयोपशम नहीं होता, तो उनके धर्म के प्रति रुचि भी नहीं होती। मिथ्यात्वी के धर्म के प्रति रुचि होना, चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम है तथा वह जो धार्मिक क्रिया में—सद्क्रिया में अपना बल-पराक्रम काम में लेता है वह भी बलवीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम है।

सद्क्रियाओं के द्वारा कर्मों का क्रमशः क्षय होते-होते वह अनंतानुबंधी चतुष्क (क्रोध-मान-माया-लोभ) व दर्शन मोहनीय त्रिक का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम कर क्षायिक या क्षायोपशमिक अथवा औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है।

(१८) उववाई सूत्र में मिथ्यात्वी के विषय में कई एक ऐसे प्रसंग उपलब्ध होते हैं, जिन पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना पड़ेगा।

हस्तितापस—आदि तापसों का ( हाथी को मारकर, उसके भोजन से बहुतकाल व्यतीत करने वाले ) का उपपात—उत्कृष्ट ज्योतिषी देव ( एक पल्योपम और एक लाख वर्ष की स्थिति ) का है।

गंगाकूला—वाणपत्था तावसा ××× हत्थितावसा ××× बहूई

बारसाइं परियायं पाउणंति पाउणित्ता, कालमासे कालं किच्चा, उक्कोसेणं जोइसिएसु देवेसु उववत्तारो भवंति। ××× पलिओवमं वाससय-सहस्समब्भहियं ठिई पण्णत्ता ×××! आराहगा ? णो इणट्ठे समट्ठे।

ओवाइयं प्र० ३८

अर्थात् हस्तितापसों का उपपात उत्कृष्ट रूप से ज्योतिषी देवों में किसी देव रूप में होता है वहाँ उनकी स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की होती है। वे देव सम्पूर्ण आराधना की दृष्टि से परलोक के आराधक नहीं हैं।

यहाँ जो यह कहा गया है कि हस्तितापस देव रूप में उत्पन्न होता है, एक तो हाथी पंचेन्द्रिय होता है, फिर उसको मार कर मांस खाना। ये दोनों कार्य ( पंचेन्द्रिय जीव की हत्या तथा मांस का आहार ) नरकगति के बंधन के कारण हैं।[१] अतः इन कारणों से जीव नरकगति में उत्पन्न होता है, परन्तु हस्तितापस अन्यान्य सदनुष्ठानिक क्रिया-करता रहता है जिसके कारण वह देव रूप मे उत्पन्न होता है। आगम में कहा है—

एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा देवत्ताए कम्मं पकरेंति देवत्ताए कम्मं पकरेत्ता देवेसु उववज्जंति, तंजहा—सरागसंजमेणं, संजमासंजमेणं, अकामनिज्जराए, बालतवोकम्मेणं।

—ओवाइयं सू ७३

अर्थात् चार स्थान देवगति के बंधन के कारण हैं—यथा—सरागसंयम, संयमासंयम, बालतप तथा अकामनिर्जरा। अस्तु हस्तितापस अपने कृत बालतप तथा अकामनिर्जरा के द्वारा देवरूप में उत्पन्न होता है।

(१९) श्रमणोपासक वरुण-नागनत्तुआ का प्रिय बालमित्र ने (प्रथम गुणस्थान में) प्रकृति भद्रादि परिणाम से मनुष्य की आयु बाँधी। कहा है—

वरुणस्स णं भंते ! णागणत्तुयस्स पियबालवयस्सए कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववण्णे ? गोयमा ! सुकुले पच्चायाए ?

---

(१) एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति। णेरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइएसु उववज्जंति, तंजहा—महारंभयाए, महापरिग्गहयाए, पंचिंदियवहेणं, कुणिमाहारेणं। —ओवाइयं सू ७३

से णं भंते ! तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ? गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति, जाव अंतं काहिति ।

—भगवई स ७ । उ ९ । सु २०९-२११

टीका—तदा तस्य नागनप्तुरेकः प्रियबालवयस्यो रथमुशलं संग्रामं सन्नेकेन पुरुषेण गाढप्रहारीकृतः सन्नस्थामो यावदधारणीयमिति कृत्वा वरुण नागनप्तारं संग्रामात्प्रतिनिष्क्रममाण पश्यति दृष्ट्वा तुरगान्निगृह्णाति निगृह्य यथा यावत्तुरगान् विसर्जयति विसृज्य पटसंस्तारकमारोहत्यारुह्य पौरस्त्याभिमुखो यावदञ्जलिंकृत्वैव मवादीत्यानि मम प्रिय बालवयस्य वरुणस्य नागनप्तुः शीलानि, व्रतानि, गुणा, विरमयः, प्रत्याख्यानपौषधोपवासा स्तानि ममापि भवन्त्विति कृत्वा सन्नाहपट्टं मोचयति मोचयित्वा शल्योद्धरणं करोति कृत्वानुपूर्व्या कालगतः, × × × ।

वरुणस्य भ० ! नागनप्तु प्रिय बालवयस्य कालमासे कालं कृत्वा क्व गतः क्वोत्पन्न ? गौ० । सुकुले प्रत्याजातः । स (बालवयस्य) भ० ! ततोऽनन्तरं मुद्वृत्य ( च्युत्वा ) क्व गमिष्यति क्वोत्पत्स्यति ? गौ० ! महाविदेहे वर्षे सेत्स्यति यावदन्तं करिष्यति ।

अर्थात् वरुणनागनत्तुआ का एक प्रिय बाल मित्र भी रथमूसल संग्राम में युद्ध करता था । वह भी एक पुरुष द्वारा घायल हुआ, शक्ति रहित और बलरहित, वीर्यरहित बने हुए उसने सोचा—"अब मेरा शरीर टिक नहीं सकेगा । उसने वरुणनागनत्तुआ को युद्ध स्थल से बाहर निकलते हुए देखा । वह भी अपने रथ को वापिस फिराकर रथ मूसल संग्राम से बाहर निकला और जहाँ वरुणनागनत्तुआ था, वहाँ आकर घोड़ों को रथ से खोलकर विसर्जित कर दिया । फिर वस्त्र का संथारा बिछाकर उसपर पूर्व दिशा की ओर मुँह करके बैठा और दोनों हाथ जोड़कर इसप्रकार बोला—हे भगवान् ! मेरे प्रिय बाल मित्र वरुणनागनत्तुआ के जो शीलव्रत गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास हैं—वे सब मुझे भी होवें—ऐसा कहकर कवच खोलकर शरीर में लगे हुए बाण को निकाला और अनुक्रम से वह भी काल धर्म को प्राप्त हो गया ।"

फलस्वरूप सदुर्शन के प्रभाव से वह वरुणनागनत्तुआ का प्रिय बालमित्र, काल के समय काल करके सुकुल में ( अच्छे मनुष्य कुल में ) उत्पन्न हुआ।

भगवान् ने कहा—वहाँ से काल करके वरुणनागनत्तुआ का प्रिय बालमित्र महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध बुद्धयावत् सर्व कर्मों का अंत करेगा। यदि वरुणनागनत्तुआ का प्रिय बालमित्र सम्यग्दृष्टि की अवस्था में आयुष्य का बंध करता तो कोई एक वैमानिक देवका आयुष्य बांधता क्योंकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य या तिर्यंच के एक वैमानिक देव को बाद देकर और आयुष्य का बंध नहीं होता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि के आयुष्य का बंधन नहीं होता। अतः वरुणनागनत्तुआ का प्रिय बालमित्र प्रथम गुणस्थान में (मिथ्यादृष्टि अवस्था में) सद्क्रिया के द्वारा मनुष्य का आयुष्य बांधा।

(२०) पुष्फियाओ में सोमलऋषि के ( प्रथम गुणस्थान में ) विवेचन में भी अनित्य भावना—अनित्य जागरणा का उल्लेख मिलता है।

"तएणं तस्स सोमिलस्स माहणरिसिस्स, अण्णयाकयाइं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि, अणिच्चजागरियं जागरमाणस्स अयमेया रूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था।

पुप्फियाओ अ ३

अर्थात् सोमिल ब्राह्मण ऋषि ने किसी समय में मध्यरात्रि में अनित्य-जागरणा के द्वारा अध्यात्म का चिंतन किया, अतः अनित्यजागरणा—निरवद्य—सद्-अनुष्ठान है।

(२१) भगवती सूत्र श ६ उद्देशक ३१ में असुच्चा केवली का उल्लेख किया गया है। वे असुच्चा मिथ्यात्वी श्रावक-श्राविकादि, साधु-साध्वी के पास से धर्म सुने. बिना ही सम्यग् अनुष्ठान से केवल ज्ञान प्राप्तकर लेते हैं। वहाँ कहा गया है कि जिस जीव के ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षयोपशम किया है, उसको केवली यावत् केवलिपाक्षिक उपासिका इनमें से किसी के पास धर्म सुने बिना ही केवलिप्ररूपित धर्म का आचरण कर सकता है। सम्यग्दर्शन प्राप्तकर सकता है। अनगारिक पन ( प्रवज्या ) स्वीकार कर सकता है, यावत् केवल ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वहाँ असुच्चा केवली के अधिकार में कहा गया है कि निरवद्य क्रिया करते रहने से वे मिथ्यात्वी जीव सम्यक्त्व और चारित्र को प्राप्त कर लेते हैं।

"तस्स ( असोच्चा ) णं भंते ! छट्ठंछट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय-पगिज्झिय सुराभिमुहस्स आयावणभूमीए आयावेमाणस्स पगइभद्दयाए, पगइउवसंतयाए, पगइपयणुकोह-माण-माया-लोभयाए, मिउमद्दवसंपण्णयाए, अल्लीणयाए, भद्दयाए, विणीययाए, अण्णया कयावि सुभेणं अज्झवसाणेणं, सुभेणं परिणामेणं, लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं-विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहा-ऽपोह-मग्गणगवेसणं करेमाणस्स विब्भंगे णामं अण्णाणे समुप्पज्जइ। से ण तेणं विब्भंगणाणेणं समुप्पण्णेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं जाणइ पासइ ; से णं तेणं विब्भंगणाणेणं समुप्पण्णेणं जीवे वि जाणइ, अजीवे वि जाणइ, पासंडत्थे सारंभे, सपरिग्गहे, संकिलिस्समाणे वि जाणइ, विसुज्झमाणे वि जाणइ, से णं पुव्वामेव सम्मत्तं पडिवज्जइ, सम्मत्तं पडिवज्जित्ता समणधम्मं रोएइ, समणधम्मं रोएत्ता चरित्तं पडिवज्जइ, चरित्तं पडिवज्जित्ता लिंगं पडिवज्जइ, तस्सणं तेहिं मिच्छत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं परिहायमाणेहिं सम्मदंसणपज्जवेहिं परिवड्ढमाणेहिं परिवड्ढमाणेहिं से विब्भंगे अण्णाणे सम्मत्तपरिग्गहिए खिप्पामेव ओही परावत्तइ।

भगवई श० ९। उ ३१। सू ११

अर्थात् निरंतर छट्ठ-छट्ठ—बेले-बेले का तप करते हुए सूर्य के सम्मुख ऊंचे हाथ करके, आतापना भूमि में आतापना लेते हुए—उस अश्रुत्वा जीव (मिथ्यात्वी जीव) की प्रकृति की भद्रता, प्रकृति की उपशांतता, स्वभाव से ही क्रोध-मान-माया लोभ के अत्यन्त अल्प होने से मृदु-मार्दव अर्थात् प्रकृति की कोमलता से, कामभोगों में आसक्ति नहीं होने से, भद्रता और विनीतता से, किसी दिन शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम, विशुद्धलेश्या एवं तदावरणीय ( विभंगज्ञानावरणीय ) कर्मोंके क्षयोपशम होने से ईहा-अपोह, मार्गणा-गवेषणा करते हुए 'विभंग' नामक अज्ञान उत्पन्न होता है।[1] उस उत्पन्न हुए विभंगज्ञान के द्वारा वह जघन्य अंगुल

---

१—विभंगोऽवधिः स्यामीकः —जैन सिद्धान्त दीपिका प्र० २

के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट असंख्यात हजार योजन तक जानता है, देखता है। उस उत्पन्न हुए विभंगज्ञान द्वारा वह जीवों को भी जानता है, और अजीवों को भी जानता है। इसके बाद वह विभंगज्ञानी सर्वप्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। उसके बाद श्रमणधर्म पर रुचि करता है, रुचिकरके चारित्र अंगीकार करता है, फिर लिंग ( साधुवेश ) स्वीकार करता है। तब उस विभंग ज्ञानी के मिथ्यात्व पर्याय क्रमशः क्षीण होते-होते और सम्यग्दर्शन के पर्याय क्रमशः बढ़ते-बढ़ते वह विभंग अज्ञान-सम्यग्युक्त होता है और शीघ्र ही अवधिरूप मे परिवर्तित हो जाता है। अन्ततः केवलज्ञान को भी प्राप्त कर लेते हैं।

आगम पाठ मे "ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स"—पाठ का उल्लेख है। ईहा—सम्यग् अर्थ जानने के लिये सम्मुख हुआ; अपोह—अन्य पक्ष रहित धर्मध्यान का चिंतन करना; मग्गणं—धर्म की आलोचना करना, गवेसणं—अधिक धर्म की आलोचना करना—ये सब निरवद्य अनुष्ठान हैं। विभंग ज्ञान को आवरण करने वाला ज्ञानावरणीय कर्म है, अतः ज्ञानावरणीयकर्म का क्षयोपशम भी सद् अनुष्ठान है।[1] इस प्रकार निरवद्य अनुष्ठान से असोच्चा—बालतपस्वी सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है, फिर उत्तरोत्तर आत्म-विकास करता हुआ—श्रमणधर्म स्वीकार कर केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन को प्राप्त कर लेता है। इसके बाद सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है।

कृत्स्नकर्मक्षयादात्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्षः—

जैनसिद्धान्त दीपिका प्रकाश ५।३९

आचार्य भिक्षु ने असोच्चा केवली का विवेचन करते हुए कहा है—

असोच्चा केवली मिथ्याती थकां रे,<br>
छठ छठ तप कीधों निरंतर जांण रे।<br>
बले लीधी सूर्य साम्ही आतापना रे,<br>
बांह ऊंचीं करें ऊंची जांण रे ॥३८॥

---

(१) अनुयोग द्वार-क्षयोपशम भाव के विवेचन में।

परकत रो भद्रीक ने वनीत छे रे,
उपसंत घणो क्रोधादिक मांहि रे।
क्रोध मान माया ने लोभ पातला रे,
मांन ने मर्द कीयो तिण मांहि रे ॥३९॥

इन्द्री ने बस कर लीधी आप ने रे,
वले घणा छें गुण तिण मांहि रे।
इसरा गुणा सहीत तपसा करें रे,
करमा ने पतला पाडें छें ताहि रे ॥४०॥

इम करतां एकदा प्रस्तावें तेहनां रे,
आया शुभ अधवसाय परिणांम रे।
वले चढती चढती लेस्या विसुध छें रे,
विषय विकार तणी नहीं हांम रे ॥४१॥

तदावरणी कर्म खयउपसम हुवां रे,
करवा लागो ते सुध विचार रे।
न्याय मारग री करतां गवेषणा रे,
विभंग अनांण उपजें तिणवार रे ॥४२॥

जो थोड़ों जाणे विभंग अनांण सूं रे,
आंगुल रे असंख्यात में भाग रे।
उतकष्टो जांणे नें देखें तेह सूं रे,
असंख्याता जोयण जहां रो भाग रे ॥४३॥

वले जांणे विभंगो अनांण सूं रे,
जीव नें अजीव तणो सरूप रे।
पाखंडीयां ने जाण्यां पाखंडा रे,
त्यां ने बूडता जांण्यां भवजल कूंप रे ॥४४॥

आरंभी अपरिग्रही जोण्यां तेहनें रे,
सक्लेस करता जाण्यां छें ताम रे।
विसुध निरवोषण हुंता तेहनें रे,
त्यांने पिण जांण कीया तिण ठांम रे ॥४५॥

इण रीतें पेंहला तो समकत पामीयो रे,
विभंग अनांण रो हुवो अवधि गिनांन रे।
पछें अनुक्रमें हुवो केवली रे,
पछें गयो पांचमी गति प्रधान रे ॥४६॥

असोच्चा केवली हुवां इण रीत सू,
मिथ्याती थकां तिण करणी कीध रे।
कर्म पतला पाड्या मिथ्याती थकां रे,
तिण सूं अनुक्रमें सिवपुर लीध रे ॥४७॥

जो मिथ्याती थको तपसा करतो नहीं रे,
मिथ्याती थको नहीं लेतो आताप रे।
क्रोधादिक नहीं पाडतो पातलो रे,
तो किण विध कटता इणरा पाप रे ॥४८॥

पेंहले गुणठांणे मिथ्याती थकां रे,
निरवद करणी कीधी छें ताम रे।
तिण करणीथी नींव लागी छे मुगत री रे,
ते करणी चोखी छे सुध परिणाम रे ॥४९॥

—भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर खण्ड १ मिथ्याती री करणी री ढाल पृ० २६१।२६२

(२२) ग्रंथों का अध्ययन करने से ऐसा मालुम होता है कि तिर्यंच पंचेन्द्रिय भी मिथ्यात्वी अवस्था में सद् अनुष्ठान से आयुबंध का भेदन कर सकते हैं। आवश्यक निर्युक्ति की टीका मे कहा है कि जिनदास श्रावक ने दो बछड़ों को भक्त प्रत्याख्यान कराया तथा नमस्कार मंत्र उच्चारण कर सुनाया। उन्होंने

एकाग्रचित्त से सुना, फलस्वरूप मरण प्राप्त कर दोनों बलद—( कंबल-संबल नामक ) नागकुमार देवों में उत्पन्न हुए।[1]

( बलाणि ) जाहे सव्वहा नेच्छंति ताहे को सावतो भत्तं पच्च-क्खाइ नमोक्कारं च देइ, ते कालगया नागकुमारेसु उववन्ना।

—आव० नि गा ४६८ । मलय टीका में उद्धृत

जब दोनों बलदों को कुछ खाने की इच्छा न हुई तब मथुरा वासी जिनदास श्रावक ने अवसर देख कर उन्हें आजीवन अनशन पच्चखाया, नमस्कार मंत्र सुनाया। फलस्वरूप वे मरण प्राप्तकर नागकुमार देवों में उत्पन्न हुए।

(२३) दृढ प्रहारी जैसे महामिथ्यात्वी सद्संगति से मिथ्यात्व से निवृत्त होकर आत्मोद्धार किया। वह ब्राह्मण, स्त्री, गर्भहत्या ( बालहत्या ) और गाय की हत्या करने वाला था। लोक मान्यता है कि बालक, स्त्री, ब्राह्मण और गाय इनमें से जो एक की भी हत्या करता है; वह अवश्य ही नरक का अधिकारी बनता है। अततः शुद्ध भावना का चिंतन करते हुए उसे साधु का संयोग मिला। साधु के उपदेश से प्रभावित होकर मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यक्त्व ग्रहण किया। तत्पश्चात् चारित्र ग्रहण कर, केवल ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पद प्राप्त किया। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

ब्रह्म-स्त्री-भ्रूण - गो-घात - पातकान्नरकातिथेः।
दृढप्रहारि - प्रभृतेर्योगो हस्तावलम्बनम्॥

योगशास्त्र, प्रथम प्रकाश, श्लोक १२

---

(१) महुराए जिणदासो आभीर विवाह गोण उववासो।
भडीरमणमित्त वच्चे भत्ते नागोहि आगमणं॥

—आव० नि गा ४७०

भाव ज्ञात्वा तयोर्भक्तप्रत्याख्यानमदत्त सः।
तावपि प्रतिपेदाते आभिलाषौ समाहितौ॥३३८॥
× × ×
शृण्वन्तौ तौ नमस्कारान् भावयन्तौ भवस्थितिम्।
समाधिना मृतौ नागकुमारेषु बभूवतुः॥३४०॥

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व १० । सर्ग ३ । श्लो ३३८, ३४०

ब्राह्मण, स्त्री, गर्भहत्या (बालहत्या) और गाय की हत्या के महापाप करने से नरक के अतिथि समान दृढ़प्रहारी आदि को योग ही आलंबन था।

(२४) चिलाती पुत्र जैसे अति साहसी दुरात्मा भी सद्क्रिया से मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यक्त्व ग्रहण किया। यह राजगृह नगर के धन्य सार्थपति की चिलाती नाम की दासी का पुत्र था। वह सिंह गुफा नामक चोरपल्ली का सेनापति था। साधु-संगति से मिथ्यात्व से निवृत्त होकर—सम्यक्त्व को प्राप्त किया। चारित्र का सम्यग् रूप से पालन कर वे देवलोक में उत्पन्न हुए। कहा है—

तत्कालकृतदुष्कर्म - कर्मठस्य - दुरात्मनः।
गोप्त्रे चिलातिपुत्रस्य योगाय स्पृहयेन्न कः॥

योग शास्त्र, प्रथमप्रकाश, श्लो १३

अर्थात् कुछ ही समय पहले दुष्कर्म करने में अतिसाहसी दुरात्मा चिलाती पुत्र की रक्षा करने वाले योग की महिमा सबको करनी चाहिये।

(२५) बछड़े चराने वाले संगम ने (प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव) सुपात्र दिया फलस्वरूप मनुष्य की आयु बांधी। कहा है—

"पश्य संगमको नाम सम्पदं वत्सपालकः।
चमत्कारकरी प्राप मुनिदानप्रभावतः॥"

—योगशास्त्र, प्रकाश ३। ८८

अर्थात् संगम नामक पशुपालक मुनि को दान देने के प्रभाव से चमत्कृत कर देने वाली अद्भुत संपत्ति प्राप्त की थी।

राजगृह प्रसंग में छोटे से परिवार में धन्या नामकी संपन्न महिला रहती थीं। उसके इकलौते पुत्र का नाम संगम था। बालक के हठाग्रह से माता ने उसके लिये खीर पकाई। मुनि का पदार्पण हुआ। उसने त्रिकरण शुद्धि से मुनि को सुपात्र दान दिया। मुनि को दान देने के प्रभाव से संगम का जीव काल समय में काल प्राप्तकर राजगृहनगर में गोभद्र सेठ की पत्नी भद्रा के गर्भ में आया। पुत्र का जन्म हुआ। शालीभद्र नाम रखा। ३२ कन्याओं के साथ पाणि ग्रहण हुआ। अनुक्रम से संसार से विरक्ति हुई। शालीभद्र ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा

की। दीक्षा पर्याय का पालन कर सर्वार्थसिद्धि नामक वैमानिक देवलोक में उत्पन्न हुए।

देखो ! संगम ने कितने बड़े फल को प्राप्त किया। सुपात्र दान के प्रभाव से संगम से शालीभद्र बना।

(२१) कोशा गणिका के यहाँ बारह वर्ष पर्यंत स्थूलिभद्र ने सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया। दर्शनमोहनीय कर्म तथा चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम होने से मिथ्यात्व से निवृत्त हुए, सम्यक्त्व को प्राप्त किया। साधु-पर्याय भी ग्रहण की। चतुर्दश पूर्वों का सूत्र रूप ज्ञान भी मिला तथा दस पूर्व तक सूत्र व अर्थ रूप ज्ञान मिला। समाधि अवस्था में काल कर देवलोक में उत्पन्न हुए।

इस प्रकार अनेक मिथ्यात्वी जीवों ने सद् क्रिया से आत्मविकास किया है।

श्रुतज्ञानकी भावना से ज्ञान का विकास होता है अतः मिथ्यात्वी श्रुत का अभ्यास करे। श्रुत का अभ्यासी मिथ्यात्वी अनुक्रम से सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। यतिवृषभाचार्य ने कहा है —

सुदणाणभावणाए णाणंमत्तंडकिरणउज्जोओ।
आदं चदुज्जलं, चरित्तं चित्तं हवेदि भव्वाणं॥

—तिलोयपण्णत्ती महाधिकार १ । गा ५०

अर्थात् श्रुतज्ञान की भावना से भव्यात्मा ज्ञान रूपी सूर्य की किरणों से उद्योत रूप—प्रकाशमान होता है और उनका चरित्र और चित्त चन्द्रमा के समान उज्ज्वल होता है। श्रुत से मिथ्यात्वी—मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है।

—:0:—

# नवम अध्याय

## १ : उपसंहार

आचार्य पूज्यपाद ने कहा है –

मिथ्यादर्शनं द्विविधम् ; नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशाद् यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकम्। परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधम् ; क्रियाक्रियावाद्यज्ञानिकवैनयिकविकल्पात्।

—तत्त्वा० ८। १ सर्वार्थसिद्धिः

अर्थात् मिथ्यादर्शन दो प्रकार का है:—

१—नैसर्गिक—दूसरे के उपदेश के बिना मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से जीवादि पदार्थों का अश्रद्धान रूप भाव नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है।

२—परोपदेशपूर्वक—अन्य दर्शनी के निमित्त से होनेवाला मिथ्यादर्शन परोपदेशपूर्वक कहलाता है। वह क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और अज्ञानवादी—चार प्रकार का होता है।

उमास्वाति ने इन को क्रमशः अभिग्रहीत और अनभिग्रहीत मिथ्यात्व कहा है।[1]

मिथ्यात्व के एकांत मिथ्यादर्शन आदि पाँच विभाग का भी उल्लेख मिलता है। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है –

तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकांतः "पुरुष एवेदं सर्वम्" इति वा नित्य एव वा अनित्य एवेति।

सग्रन्थो निर्ग्रन्थः केवली कवलाहारी, स्त्री सिध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः।

---

१—तत्राभ्युपेत्यासम्यग्दर्शनपरिग्रहोऽभिग्रहीतमज्ञानिकादीनां त्रयाणां त्रिषष्ठीनां कुवादिशतानाम्। शेषमनभिग्रहीतम्।

—तत्त्वा० ८। १-भाष्य

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्यतरपक्षापरिग्रहः संशयः ।

सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनम् वैनयिकम् । हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम् ।

—तत्वा० ८ । १ सर्वार्थसिद्धि—

(१) अर्थात् यही है, इस प्रकार का है, इस प्रकार धर्म और धर्मी में एकांत रूप अभिप्राय रखना 'एकांत मिथ्यादर्शन' है । जैसे यह सब जगत पर ब्रह्म रूप ही है, या सब पदार्थ अनित्य ही है या नित्य ही हैं ।

(२) सग्रंथ को निर्ग्रंथ मानना, केवली के कवलाहार ( दिगम्बर मत की अपेक्षा) मानना और स्त्री सिद्ध होती है इत्यादि मानना 'विपर्यय मिथ्यादर्शन' है ।

दूसरे उदाहरण—जीव को अजीव मानना, अजीव को जीव मानना ।

(३) सम्यग्दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र—ये तीनों मिलकर मोक्ष मार्ग है या नहीं—इसप्रकार संशय रखना 'संशय मिथ्यादर्शन' है ।

(४) सब देवता और सब मतों को एक समान मानना 'वैनयिक मिथ्यादर्शन' है ।

(५) हिताहित की परीक्षा रहित होना 'अज्ञानिक मिथ्यादर्शन' है ।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या ।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात् ॥

योगशास्त्र, द्वितीय प्रकाश० श्लोक २

अर्थात् जिसमे देव के गुण न हों उसमे देवत्व बुद्धि, गुरु के गुण न हों उसमें गुरुत्व बुद्धि और अधर्म मे धर्म बुद्धि रखना मिथ्यात्व है । सम्यक्त्व के विपरीत होने से यह मिथ्यात्व कहलाता है । मिथ्यात्व महारोग है, मिथ्यात्व महान् अंधकार है, मिथ्यात्व जीव का महाशत्रु है, मिथ्यात्व महाविष है । रोग, अंधकार और विष तो जिन्दगी में एकबार ही दुःख देते हैं, परन्तु मिथ्यात्व रोग की चिकित्सा न की जाय तो हजारों जन्मों तक पीड़ा देता रहता है । गाढ़-मिथ्यात्व से जिसका चित्त घिरा रहता है वह जीव तत्त्व-अतत्त्व का भेद नहीं जानता ।

ठाणांग सूत्र में कहा है—

तिविहे दंसणे पन्नत्ते, तंजहा—सम्मदंसणे, मिच्छादंसणे, सम्मामिच्छदंसणे।

—ठाणं स्था ३। उ १। सू १९२

अर्थात् दर्शन के तीन प्रकार हैं, यथा—मिथ्यादर्शन (अशुद्ध पुंज रूप), सम्यग्दर्शन (शुद्ध पुंज रूप), और सम्यग्-मिथ्यादर्शन (मिश्र पुंज रूप)।

शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र—ये तीन पुंज रूप मिथ्यात्व मोहनीय हैं क्योंकि तथाविध दर्शन-दृष्टि के हेतु हैं।

शुद्ध पुंज आदि कर्म पुद्गल के उदय से प्राप्त हुआ तत्त्व के श्रद्धान को रुचि कहते हैं। रुचि के तीन भेद हैं—

तिविहा रुई पन्नत्ता, तंजहा—सम्मरुई, मिच्छारुई, सम्मामिच्छरुई।

—ठाणं स्था ३। उ १। सू० १९३

तीन प्रकार की रुचि (तत्त्व पर श्रद्धान रूप या अश्रद्धानरूप) कही गई है—यथा—सम्यग् रुचि, मिथ्यात्वरुचि व सम्यग्-मिथ्यारुचि।

आगम साहित्य मे दृष्टि के स्थान पर दर्शन का भी प्रयोग हुआ है लेकिन अनाकारोपयोग के स्थान पर भी दर्शन प्रयोग हुआ है। कहा है—

सत्तविहे दंसणे पन्नत्ते, तंजहा—सम्मदंसणे, मिच्छदंसणे, सम्मामिच्छदंसणे, चक्खुदंसणे, अचक्खुदंसणे, ओहिदंसणे केवलदंसणे।

—ठाणं स्था ७। सू ७६

अर्थात् दर्शन के सात भेद है—यथा, सम्यग् दर्शन, मिथ्यादर्शन, सम्यग्-मिथ्यादर्शन, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन व केवल दर्शन।

काल की दृष्टि से मिथ्यादर्शन के तीन विकल्प होते हैं :—

(१) अनादि अनंत (२) अनादिसांत (३) सादिसांत।

(१) कभी सम्यग्दर्शन नहीं पाने वाले (अभव्य या जाति भव्य) जीवों की अपेक्षा मिथ्यादर्शन अनादि-अनंत है।

(२) पहली बार सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, उसकी अपेक्षा वह अनादिसांत है।

(३) प्रतिपाति सम्यग्दर्शन—(सम्यग्दर्शन आया और चला गया) की अपेक्षा वह सादिसांत है।

मिथ्यादर्शनी एक बार सम्यग् दर्शनी बनने के बाद फिर से मिथ्यादर्शनी बन जाता है। किन्तु अनंत काल की असीम मर्यादा तक वह मिथ्यादर्शनी ही बना रहता है अतः मिथ्यादर्शन सादि-अनंत नहीं होता। सम्यग्दर्शन सहज नहीं होता। मिथ्यात्वी से सम्यग्दर्शन विकास दशा में प्राप्त होता है।

मिथ्यादर्शनी एक पुंजी होता है। दर्शनमोह के परमाणु उसे सघन रूप में प्रभावित किये रहते हैं। जैसे पुद्गलास्तिकाय नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है। वैसे मिथ्यात्वी अपेक्षा दृष्टि से नित्य भी है, शाश्वत भी है अवस्थित भी है। ऐसा न कभी हुआ है, न होता है, न होगा कि सभी मिथ्यात्वी जीव से सम्यक्त्वी हो जायेंगे। सम्यक्त्वी जीवों से मिथ्यात्वी जीव अनंत गुणे अधिक हैं।

मिथ्यात्वी पुद्गलों को ग्रहण करके, उन ग्रहण के किये हुए पुद्गलों से औदारिक-वैक्रिय-तैजस-कार्मण शरीर रूप में; श्रोत्रेन्द्रिय - चक्षुरिन्द्रिय-घ्राणेन्द्रिय रसेन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रिय—पाँच इन्द्रि रूप में; मनोयोग, वचनयोग, काययोग रूप में तथा श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करता है।[२]

मिथ्यात्व पुंज का संक्रमण मिश्र पुंज और सम्यक्त्व पुंज दोनों में होता है। जिस पुंज की प्रेरक परिणाम धारा का प्राबल्य होता है, वह दूसरे को अपने में संक्रांत कर लेती है। मिथ्यादृष्टि सम्यक्-मिथ्यात्व पुंज को मिथ्यात्व पुंज में संक्रान्त करता है। सम्यक्त्वी उसको सम्यक्त्व पुंज में संक्रांत करता है। मिश्र दृष्टि मिथ्यात्व पुंज को सम्यक्-मिथ्यात्व पुंज में संक्रमण कर सकता है। पर सम्यक्त्व पुंज को उसमें संक्रांत नहीं कर सकता। मिश्र पुंज का संक्रमण मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-इन दोनों पुंजों में होता है।

---

(१) नित्यावस्थितान्यरूपाणि च। रूपिणः पुद्गलाः

पुद्गल कोश पृष्ठ ११२

(२) पुद्गल कोश पृष्ठ १२६

भगवान् ने कहा है कि कोरा ज्ञान श्रेयस् एकांगी आराधना है। कोरा शील भी वैसा ही है। ज्ञान और शील दोनों नहीं, वह श्रेयस् की विराधना है; आराधना है ही नहीं। ज्ञान और शील—दोनों की संगति ही श्रेयस् की सर्वाङ्गीण आराधना है।

बंधन से मुक्ति की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, बाह्य दर्शन से अन्तर दर्शन की ओर जो गति है, वह आराधना है। उसके तीन प्रकार हैं—

(१) ज्ञान आराधना, (२) दर्शन आराधना (३) चरित्र आराधना।

सम्यग्दर्शन—तत्त्व रुचि है और सम्यग्ज्ञान उसका कारण है।[1] पदार्थ विज्ञान तत्त्व रुचि के बिना भी हो सकता है, मोह दशा मे भी हो सकता है किन्तु तत्त्व रुचि मोह परमाणुओं की तीव्र परिपाक दशा मे नहीं होती है।

श्रद्धा अपने आप मे सत्य या असत्य नहीं होती। तत्त्व भी अपने आप में सत्य-असत्य का विकल्प नहीं रखता। तत्त्व और श्रद्धा का संबंध होता है तब 'तत्त्व श्रद्धा' ऐसा प्रयोग होता है। तब यह विकल्प खड़ा होता है—श्रद्धा सत्य है या असत्य? यही श्रद्धा की द्विरूपता का आधार है। तत्त्व का अयथार्थ दर्शन अयथार्थ रुचि या प्रतीति है, वह श्रद्धा मिथ्या है। इसके विपरीत तत्त्व की यथार्थता मे जो रुचि या विश्वास है वह श्रद्धा सम्यग् है। तत्त्व का तीसरा प्रकार यथार्थता और अयथार्थता के बीच होता है। तत्त्व का अमुक स्वरूप यथार्थ है, अमुक नहीं—ऐसी दोलायमान वृत्तिवाली श्रद्धा-सम्यग् मिथ्या है।

अनादि मिथ्यादृष्टि व्यक्ति अज्ञान कष्ट सहते-सहते कुछ उदयाभिमुख होता है, संसार परावर्तन की मर्यादा सीमित रह जाती है। दुःखाभिघात से संतप्त हो सुख की ओर मुड़ना चाहता है, तब उसे आत्म-जागरण की एक स्पष्ट रेखा मिलती है। वह रागद्वेष की दुर्भेद्य ग्रंथि के समीप पहुँचता है जिसे यथाप्रवृत्ति करण कहते हैं। तत्पश्चात् उस ग्रंथि को तोड़ने का प्रयास करता है। कभी सफल भी हो जाता है। ग्रंथि के भेदन होने पर उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

---

(१) रुचिः सम्यक्त्वम्, रुचिकारणंतु ज्ञानम्।
—ठाणं स्था० १

सिद्धांत पक्ष में पहले मिथ्यात्वी क्षायोपशमिक सम्यक्‌दर्शन प्राप्त करता है। ऐसी मान्यता है। कर्मग्रन्थ पक्ष में पहले औपशमिक सम्यक्‌दर्शन प्राप्त होता है—यह माना जाता है। कतिपय आचार्य दोनों विकल्पों को मान्य करते हैं। कई आचार्य क्षायिक सम्यक्‌दर्शन भी पहलेपहल प्राप्त होता है—ऐसा मानते हैं। सम्यक्‌दर्शन का आदि अनन्त विकल्प इसका आधार है।

जैन दर्शन परम अस्तित्ववादी है। इसका प्रमाण है—अस्तित्ववाद के चार अंगों की स्वीकृति। उसके चार विश्वास हैं—'आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद।'[१] भगवान् महावीर ने कहा—"लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बंध-मोक्ष, पुण्य-पाप, क्रिया-अक्रिया नहीं है, ऐसी संज्ञा मत रखो किन्तु ये सब हैं, ऐसी संज्ञा रखो।

जब मिथ्यात्वी के क्रिया शुभ होती है तो शुभ कर्म परमाणु और वह अशुभ होती है तो अशुभ कर्म परमाणु आत्मा से आ चिपकते हैं।

भारतीय दर्शन के महान् चिंतनकार मुनि श्री नथमलजी ने जैन दर्शन के मौलिक तत्व में कहा है—

"मिथ्यात्वी में शील की देश आराधना हो सकती है। शील श्रुत दोनों की आराधना नहीं; इसलिए सर्वाराधना की दृष्टि से वह अपक्रांति स्थान है। मिथ्यादृष्टि व्यक्ति में भी विशुद्धि होती है। ऐसा कोई जीव नहीं जिसमें कर्म विलय जन्य ( न्यूनाधिक रूप में ) विशुद्धि का अंश न मिले। उसका ( मिथ्यादृष्टि ) जो विशुद्धि स्थान है, उसका नाम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।"

मिथ्यादृष्टि के (१) ज्ञानावरण कर्म का विलय (क्षयोपशम) होता है, अतः वह यथार्थ जानता भी है, (२) दर्शनावरण का विलय होता है अतः वह इन्द्रिय विषयों का यथार्थ ग्रहण करता भी है, (३) मोह का विलय होता है अतः वह सत्यांश का श्रद्धान और चारित्रांश तपस्या भी करता है। मोक्ष या आत्म-शोधन के लिए प्रयत्न भी

---

(१) से आयावाई, लोयावाई, कम्मावाई, किरियावाई।

—आयारो श्रुत० १, अ १, उ १। सू ५

करता है।[1] (४) अन्तराय कर्म का विलय होता है, अतः वह यथार्थ ग्रहण ( इन्द्रिय-मन के विषय का साक्षात् ) यथार्थ गृहीत का यथार्थ ज्ञान ( अवग्रह आदि के द्वारा निर्णय तक पहुँचना ) उसके ( यथार्थ ज्ञान ) प्रति श्रद्धा और श्रद्धेय का आचरण—इन सबके लिए प्रयत्न करता है—आत्मा को लगाता है, यह सब उसका विशुद्धि स्थान है। इसलिए मिथ्यात्वी को 'सुव्रती' और 'कर्मसत्य' कहा गया है।"

"सब जीवों का जाने बिना जो व्यक्ति सब जीवों की हिंसा का त्याग करता है, वह त्याग पूरा अर्थ नहीं रखता है, किन्तु वह जितनी दूर तक जानकारी रखता है, हेय को छोड़ता है, वह चारित्र की देश आराधना है। इसीलिए पहले गुणस्थान के अधिकारी को मोक्ष मार्ग का देश आराधक कहा गया है।"[2]

—जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व भाग २, पृ० २४८, ४६

क्षमा, मार्दव आदि दस प्रकार के धर्म पापकर्म का नाश करनेवाले और पुण्य को उत्पन्न करनेवाले कहे हैं। द्वादशानुप्रेक्षा में कार्तिकेय ने कहा है—

एदे दहप्पयारा, पावकम्मस्स णासिया भणिया।
पुण्णस्स य संजयणा, परं पुण्णत्थं ण कायव्वा ॥४०८॥

मिथ्यात्वी साधुओं के निकट बैठकर नमस्कार महामंत्र के रहस्य को समझे। उसका जाप करे। कहा है—

नमिऊण असुर सुर गरुल—भुयगपरिवंदिए गय किलेसे अरिहं सिद्धायरिय—उवज्झाय-सव्वसाहूयं।

—नवप्रज्ञप्ती गा २

अर्थात् अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु—इन्हें—असुर, सुर, गरुड़, नागकुमार-व्यंतर देव नमस्कार करते हैं। नमस्कार महामंत्र-चतुर्दशपूर्व का सार है। यहाँ पर गृहस्थ को नमस्कार करने को नहीं कहा गया है। अतः

---

१—सेन प्रश्नोत्तर उल्लास ४ प्र १०५।

२—स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थः सम्यग्बोधरहितत्वात्।

—भग० श ८।१० वृत्ति

मिथ्यात्वी इन पाँच पदों का नित्य-प्रतिदिन जाप करे। वीतराग—वाणी का रहस्य समझे।

आगम में कहा गया है कि अविनीत, रसलोलुपी, बारम्बार क्रोध करने वाला व्यक्ति श्रुत की उपासना सम्यग् प्रकार नहीं कर सकता है। ये तीनों व्यक्ति श्रुत के अयोग्य हैं[1]। ये पूर्णतया श्रुत की आराधना नहीं कर सकते हैं अतः मिथ्यात्वी श्रुत और शील की उपासना करने के लिए विनयवान् बने[2], रस में गृद्धी न बने, क्रोध से दूर रहने का प्रयास करे।

इन्द्रभूति जो वेदविद् धुरंधर विद्वान था परन्तु मिथ्यात्व आच्छादित था। भगवान् महावीर की वाणी से प्रभावित होकर मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यक्त्व ग्रहण किया। तत्पश्चात् भगवान् से प्रव्रज्या ग्रहण की। आगे जाकर ये ही भगवान् महावीर के प्रथम गणधर हुए। 'गौतम' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। केवलज्ञान-केवलदर्शन भी उत्पन्न हुआ[3], तत्पश्चात् परम पद प्राप्त किया। भिक्षु यदि दुष्ट आचार वाला हो तो नरक से नहीं बच सकता, भिक्षुक हो अथवा गृहस्थ हो जो सुन्दर अर्थात् निरतिचार व्रत का पालन करने वाला है वही देवलोक में जाता है। कहा है।

"भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं। —उत्त ५।२२

जैसे मिथ्यात्वी के मोह-राग-द्वेष रूप अशुभ परिणाम होते हैं वैसे उनके चित्तप्रसाद-निर्मल चित्त भी होता है उसके शुभपरिणाम भी होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय मे कहा है—

मोहो रागो दोसो चित्तपसाहो ण जस्स भावम्मि।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो॥

—पंचास्ति० २/१३१

अर्थात् जिसके मोह-राग द्वेष होते हैं उसके अशुभ परिणाम होते हैं। जिसके चित्त प्रसाद निर्मल चित्त होता है उसके शुभ परिणाम होते हैं। सुख की

---

(१) सुरपण्णत्ती पाहुडा २०

(२) विद्या विनयं ददाति—हितोपदेश

(३) कप्पसुत्त सूत्र १२६,

हेतु कर्म प्रकृति पुण्य है।[1] पुण्य और पाप दोनों से मुक्त होना ही मोक्ष है।[2] मिथ्यात्वी सद् अनुष्ठान में प्रवृत्ति करे—अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होने का प्रयास करे। शुद्धसंयति को सुपात्र देना—यह मिथ्यात्वी के लिए भी संसार से पार होने का मार्ग है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने भिक्षाष्टक में कहा है—"जो यति ध्यानादि से युक्त, गुरु आज्ञा में तत्पर और सदा अनारंभी होता है और शुभ आशय से भ्रमर की तरह भिक्षाटन करता है तो उसकी भिक्षा 'सर्वसंपत-करी' है।[3]

मिथ्या दृष्टि असंक्लिष्ट लेश्याओं ( कृष्ण-नील-कापोत लेश्या ) में मरण प्राप्त होकर कभी भी वैमानिक देवों में उत्पन्न नहीं हुआ है, न होगा किन्तु असंक्लिष्ट लेश्याओं में ( तेजो-पद्मशुक्ल लेश्या ) मरण प्राप्त होकर वैमानिक देवों में उत्पन्न हो सकता है।

भावपरावर्त की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि नारकी, संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय, संज्ञी मनुष्य तथा देवों में कृष्णादि छओं लेश्यायें होती हैं। मिथ्यादृष्टि संज्ञी तिर्यंच पंचेन्द्रिय भी तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम से, शुभ लेश्या से विभंग ज्ञान उत्पन्न कर सकते हैं। उनमें से कतिपय जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर श्रावक के व्रतों को भी धारण कर सकते हैं। कहा है—

"मिथ्यात्वी अनेक भला गुणा सहित ते सुव्रती कह्यो[4] ××× ते क्षमादिक गुणारी करणी अशुद्ध होवे वो कुव्रती कह्या[5]।"

—भ्रमविध्वंसनम् अधि १।५

उत्तराध्ययन की अवचूरी में कहा है कि मिथ्यात्वी की मास क्षमण की तपस्या—चारित्र धर्म—सर्व सावद्य के त्याग रूप धर्म की सोलहवीं कला भी

---

(१) सुहहेऊ कम्मपगई पुन्नं।

—देवेन्द्रसूरिकृत श्री नवतत्त्व प्रकरणम् (नवतत्त्व साहित्य संग्रह) गा ३८

(२) परमात्म प्रकाश १,२१

(३) अष्टकप्रकरण, भिक्षाष्टक

(४) उत्त० ७।२०

(५) भ्रमविध्वंसनम् पृ० १२

नहीं आती है। यह संवर धर्म की अपेक्षा से कहा है परन्तु निर्जराधर्म की अपेक्षा नहीं।[1] यदि मिथ्यात्वी शीलादिक को ग्रहण करता है तो निर्जरा की अपेक्षा उसके प्रत्याख्यान—सुप्रत्याख्यान है। कहा है—

"मिथ्यात्वी शीलादिक आदरे, ते पिण निर्जरा रे लेखे निर्मल पच्चक्खाण छै।"[2]

जीवन अस्थिर है धर्म स्थिर है[3] अतः मिथ्यात्वी सद्क्रिया से सम्यक्त्व को प्राप्त कर धर्म का अनुकरण करे। दीर्घ आयुष्य, उत्तमरूप, आरोग्य, प्रशंसनीयता आदि सब अहिंसा के ही सुफल हैं। अधिक क्या कहें ? अहिंसा कामधेनु की तरह समस्त मनोवांछित फल देती है अहिंसा माता की तरह समस्त प्राणियों का हित करने वाली है। अहिंसा ही संसार रूपी मरुभूमि (रेगिस्तान) में अमृत बहाने वाली सरिता है। अहिंसा दुःख रूपी दावाग्नि को शांत करने के लिये वर्षाऋतु की तरह मेघघटा है तथा भव भ्रमणरूपी रोग से पीड़ित जीवों के लिये अहिंसा परम औषधि है। अतः मिथ्यात्वी अहिंसा की महत्ता को समझकर अधिक से अधिक भगवती अहिंसा को जीवन के व्यवहार में उतारे।

मिथ्यात्व से मुक्त बना हुआ राजा वसु अपने कुकर्मों के कारण अशुभ गति में उत्पन्न हुआ। वह धर्म बुद्धि से पशुवध पूर्वक महायज्ञ करता था।[4] पद्म खण्डपुर में एक वणिक् रहता था। वह जैन धर्मावलम्बी था। उसके सुमित्र-दत्तिका नामक भार्या थी। वह जैनधर्म की निन्दा करती थी, द्वेषी थी, विरोधी

---

१—न इति निषेधे स एवंविध कष्टानुयायी। सुष्ठुः शोभनः सर्व सावद्य विरति रूपत्वाद्‌याख्यातोजिनैः स्वाख्यातोधर्म्मो यस्य स तथा तस्य चारित्रिण इत्यर्थः कलांभागम्—अर्घतिअर्हति षोडशीं।

उत्त० अ ७। २०। अवचूरी

२—भ्रमविध्वंसनम् पृ० ११

३—जीयं (वं) अचिरंपि चिरंधम्मम्मि मुणंति मुणिय-जिण-वयणा।

—धर्मोपदेशमाला गा ५१ पूर्वार्द्ध

४—योगशास्त्र २। १०

जो कालस्वरूप मिथ्यात्व में अनुरंजित होकर, असद्कार्यों के कारण व्याघ्री रूप में उत्पन्न हुई[1]।

अस्तु जो महामिथ्यात्वी जरा भी पाप से विरति नहीं होते वे संसार-परिभ्रमण से छुटकारा नहीं पा सकते हैं।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार के टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने कहा है—

दृष्टिश्च तत्त्वार्थश्रद्धान, ज्ञानं च तत्त्वार्थप्रतिपत्तिः, वृत्तं चारित्रं पापक्रियानिवृत्तिलक्षणं। संति समीचीनानि च तानि दृष्टिज्ञानानि-वृत्तानि च 'धर्म' उक्त स्वरूपं।

—रत्नकरण्ड० प्रथम परिच्छेद। श्लोक ३। टीका

अर्थात् तत्त्वार्थश्रद्धान को ( सम्यग् दृष्टि ) कहते हैं, तत्त्वार्थ की जानकारी को ज्ञान कहते हैं तथा चारित्र—पापक्रिया निवृत्ति रूप होता है। मिथ्यात्वी की कुछ अंश में दृष्टि सम्यग् भी होती है, ज्ञान भी कुछ अंश में सही हो सकता है तथा आंशिक रूप से पाप से भी विरत होते हैं।

सभी पदार्थ नित्य भी है, अनित्य भी है।[2] आचार्य मल्लिषेणसूरि ने स्याद्-वाद मंजरी में कहा है।

सर्वे हि भावा द्रव्यार्थिकनयापेक्षयानित्याः, पर्यायार्थिकनयादेशात् पुनरनित्याः।

स्याद्वादमंजरी श्लो ५। टीका

अर्थात् सभी पदार्थ द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नित्य और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य है। अतः मिथ्यात्व नित्य भी है, अनित्य भी है। मत-मतान्तर के आग्रह से दूर रहने पर ही जीवन में रागद्वेष से रहित हुआ जा सकता है। मतों के आग्रह से निज स्वभाव रूप आत्मधर्म की प्राप्ति नहीं हो

---

१—हरिवंश पुराण प्रथमखंड, सर्ग २७। ४४, ४५

२—आदीपमाव्योम समस्वभावं स्याद्वादमुद्रानतिभेदिवस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापा॥

—अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका

सकती । किसी भी जाति या वेष के साथ भी धर्म का संबन्ध नहीं है । श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है—

जाति वेष नो भेद नहीं, कह्यो मार्ग जो होय ।
साधे ते मुक्ति लहे, एमा भेद न कोय ॥

—आत्मसिद्धि १०७

अर्थात मोक्ष का मार्ग कहा गया है वह हो तो किसी भी जाति या वेष से मोक्ष हो सकता है—इसमें कुछ भी भेद नहीं है । जो साधना करता है वह मुक्ति पद को प्राप्त करता है ।

मिथ्यात्व की मार्गानुसारी क्रिया की अनुमोदन करते हुए उपाध्याय विनयविजयजी ने कहा है—

"मिथ्यादृशामप्युपकारसारं, संतोषसत्यादि गुणप्रसारम् ।
वदान्यता वैनयिकप्रकारं, मार्गानुसारीत्यनुमोदयामः ॥

—शांतसुधारस

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धानचरणात्मकः ।

—अभिधानचिन्तामणिकोष

अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक-तीनों योग का उपाय है । वैदिक धर्म ने इन्हें ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के नाम से निर्देश किया है । मिथ्यात्वी इन तीनों योग की आंशिक आराधना कर सकते हैं । चूंकि सम्यक्त्व के बिना संपूर्ण आराधना सम्भव नहीं है । मिथ्यात्वी राग-द्वेष में तीव्रता न लाये । श्री संघदास गणि ने कहा है—

"ततो रागद्दोसपबंधपडिओ रयमाइयइ, तन्निमित्तं च संसारे दुक्खभायणं होइ गीयरागा ।

—वसुदेव हिंडी, प्रथम खंड पृष्ठ ११७

अर्थात् राग-द्वेष से कर्मों का बंध होता है । उसके निमित्त से संसार में दुख के भाजन-वीत-राग होते हैं । मिथ्यात्वी यथाशक्ति इनसे छूटने का प्रयास करे । मिथ्यात्वी दुष्कृत की निन्दा करे, सुकृति की अनुमोदना करे । जिससे संसार के भय और दुःखों से छुटकारा पाया जा सके । धर्म में अनुरक्त

मिथ्यात्वी कम से कम निरपराधी त्रसजीवों की सकल्पपूर्वक हिंसा का प्रत्याख्यान करे। महामिथ्यात्व मे अनुरंजित, महाकृष्ण लेश्या में मरण-प्राप्त होकर सुभूम और ब्रह्मचक्रवर्ती सातवीं नरक मे गए। कहा है—

श्रूयते प्राणिघातेन, रौद्रध्यानपरायणौ।
सुभूमो ब्रह्मदत्तश्च सप्तमं नरकंगतौ॥

—योगशास्त्र, द्वितीय प्रकाश, श्लोक २९

अर्थात् प्राणियों की हत्या से रौद्रध्यानपरायण होकर सुभूम और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सातवीं नरक मे उत्पन्न हुए।

जिसकी जड़ मे शम, शील और दया है, ऐसे जगत्कल्याण कारी धर्म को छोड़कर मिथ्यात्वियों ने हिंसा को भी धर्म की कारणभूत बता दी। अर्थात् कषायों और इन्द्रियों पर विजय रूप शम, सुन्दर स्वभावरूप शील और जीवों पर अनुकम्पा रूप दया; ये तीनों जिस धर्म के मूल में हैं, वह धर्म अभ्युदय (इहलौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (पारलौकिक कल्याण या मोक्ष) का कारण है। इसप्रकार का धर्म जगत् के लिए हितकर होता है। परन्तु खेद है कि ऐसे शम शीलादिमय धर्म के साधनों को छोड़कर हिंसादि को धर्म साधन बताते हैं और वास्तविक धर्म साधनों की उपेक्षा करते हैं। इस प्रकार उलटा प्रतिपादन करने वालों में बुद्धिमन्दता स्पष्ट प्रतीत होती है।

किसी भी वस्तु के स्वीकरण की पहली अवस्था रुचि है। रुचि से श्रुति होती है या श्रुति से रुचि—यह बड़ा जटिल प्रश्न है। ज्ञान, श्रुति, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन—ये रुचि के कारण हैं—ऐसा माना गया है। दूसरी ओर यथार्थ रुचि के बिना यथार्थ ज्ञान नहीं होता है—यह भी माना गया है। सत्य की रुचि होने के पश्चात् ही उसकी जानकारी का प्रयत्न होता है। ज्ञान से रुचि का स्थान पहला है।

मिथ्यादृष्टि के रहते बुद्धि मे सम्यग् भाव नहीं आता। यह प्रतिबंध दूर होते ही ज्ञान का प्रयोग सम्यग् हो जाता है। इस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि को सम्यग् ज्ञान का कारण या उपकारक भी कहा जाता है। ज्ञान और क्रिया के सम्यग् भाव का मूल रुचि है। इसलिए वे दोनों रुचि सापेक्ष हैं।

जब मिथ्यात्वी शुभ लेश्यादि से तीव्र कषाय रहित हो जाता है तब उसमें आत्मोन्मुखता (आत्म दर्शन की प्रवृत्ति) का भाव जागृत होता है। सम्यग्दर्शन का व्यावहारिक रूप तत्त्वश्रद्धान है।[1] आत्मदर्शी समदर्शी हो जाता है और इसलिये वह समदर्शी होता है। यह निश्चय दृष्टि की बात है और वह आत्मानुमेय या स्वानुभवगम्य है। कषाय की मंदता होते ही सत्य के प्रति रुचि तीव्र हो जाती है। उसकी गति मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर हो जाती है। उसका संकल्प ऊर्ध्व मुखी और आत्मकामी हो जाता है।[2]

जीवादि नव-तत्त्व के सही श्रद्धान से मिथ्यात्व का नाश होता है, वही सम्यक्त्व प्रवेश का द्वार है। तत्त्व श्रद्धा का विपर्यय आग्रह और अभिनिवेश से होता है अभिनिवेश का हेतु तीव्र कषाय है। सम्यक्त्व आ जाने से सत्य को सरल और सहज भाव से पकड़ लेता है। व्यवहारनय से वस्तु का वर्त्तमान रूप (वैकारिक रूप) भी सत्य है। निश्चय नय से वस्तु का त्रैकालिक (स्वाभाविक रूप) सत्य है। सत्य के ज्ञान और सत्य के आचरण द्वारा स्वयं सत्य बन जाना यही मेरे दर्शन—जैनदर्शन या सत्य की उपलब्धि का मर्म है।

प्रथम गुणस्थान में—मिथ्यात्वी के मिथ्यात्व की प्रधानता से बंध होता है।

सुमतिकीर्ति सूरि ने कहा है।

षोडशप्रकृतीनां बंधे मिथ्यात्वप्रत्ययः प्रधानः।

—पंचसंगह (दि०) अधि० १। ४८८। टीका

अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व की प्रधानता से बंध होता है। आचार्य अमितगति ने कहा है—

तेजः पद्मयोराद्यानि सप्तः। शुक्लायां त्रयोदश सयोगांतानि।

—पंचसंग्रह-संस्कृत (दि०) परिच्छेद ४। पृ० १८४

---

१—तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं।

—उत्त० २८। १५

२—आवस्सयं सुत्तं

अर्थात् तेजो, पद्मलेश्या में आदि के सात गुणस्थान हैं और शुक्ललेश्या में अन्त का एक छोड़कर तेरह गुणस्थान है। अतः मिथ्यात्वी में तेजो—पद्म शुक्ल—तीनों प्रशस्त लेश्याएँ होती हैं। प्रशस्त लेश्याओं से कर्मों का गाढ़तम बंध नहीं हो सकता। अतः मिथ्यात्वी के इन लेश्याओं से कर्म कटते हैं। यद्यपि मिथ्या-दृष्टि गुणस्थान में मिथ्यात्व आदि चारों ही बंध के कारण होते हैं।[1] आचार्य अमितगति का भी यह मतव्य रहा है कि जीव जब सम्यक्त्व से गिर कर नीचे प्रथमस्थान में आता है उस समय अनंतानुबंधी का आवली प्रमाण काल पर्यंत उदय नहीं होता अतः अनंतानुबंधी का उदय यहाँ आश्रव कारण नहीं होता।[2]

मिथ्यादृष्टि हो और व्रत रहित तथा शील रहित हो, वह यदि महा आरंभ महा परिग्रह करे तो वह अपने परिणाम को दूषित करता है और उससे वह नरकायु का बंध करता है।[3] कहा है—

निःशीलो निर्व्रतो भद्र प्रकृत्याल्पकषायक. ।
आयुर्बध्नाति मर्त्यानामल्पारंभपरिग्रहः ॥
अकामनिर्जराबालतपःशीलमहाव्रती ।
सम्यक्त्वभूषितो दैवमायुरर्जति शांतधी ।

—पंचसंग्रह-संस्कृत ( दि० ) परि० ४। श्लोक ७९।८०

अर्थात् शील रहित, व्रत रहित परन्तु भद्रपरिणामी, स्वभाव से ही कषायों को अधिक प्रज्वलित न करता हो, आरंभ, परिग्रह कम रखे—वह मिथ्यात्वी मनुष्य के आयुष्य को बांधता है।

---

(१) मिथ्यात्वाविरती योगः कषायः कथितो जिनैः ।
चत्वारः प्रत्यया मूले कर्मबंधविधायिनः ॥

पंचसंग्रह-संस्कृत ( दि० ) परिच्छेद ४। पृष्ठ १९५

(२) पंच संग्रह-संस्कृत ( दि० ) परिच्छेद ४। पृ० २०८-२०९

(३) मिथ्यादृष्टिर्व्रतापेतोबह्वारंभपरिग्रहः ।
आयुर्बध्नाप्नाति निःशीलो नारकं दुष्टमानसं ।

—पंचसंग्रह संस्कृत ४। २४४

अकाम कर्म निर्जरा करता हो, बालतप अर्थात् सम्यक्त्व रहित कायक्लेशादि तप करे, शील पाले अथवा सम्यक्त्व सहित हो, महाव्रत धारण करे, परिणामों को शांत रखें—वह मिथ्यादृष्टि वा सम्यक्त्वी देवायु का बंध करता है।

अस्तु अकाम निर्जरा और बालतप—ये दोनों मिथ्यात्वी के भी होता है जो देवगति के बंध का कारण है। शील रखना—ये भी मिथ्यात्वी कर सकते हैं। शीलरहित—व्रत रहित मिथ्यात्वी भी भद्र प्रकृति—विनीतता—अल्पारंभ, अल्प परिग्रह भी मनुष्यगति के बंधने के कारण बनते है।

उपर्युक्त सभी सद् अनुष्ठान हैं—उससे मिथ्यात्वी मनुष्यगति अथवा देवगति मे उत्पन्न होता है।

मिथ्यात्वी जब अपूर्व कारण से शुद्ध-अशुद्ध मिश्र—तीन पुंजों को नहीं करता है तथा मिथ्यात्व का क्षय नहीं करता है तब मिथ्यात्वी मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों[1] को उपशम कर उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। जैसा कि विशेषावश्यक भाष्य में कहा है—

जो वा अकयतिपुञ्जो अखवियमिच्छो लहइ सम्मं।

—विशेभा० गाथा ५२९। उत्तरार्ध

टीका—यो वा जन्तुरनादिमिथ्यादृष्टिः सन्नकृतत्रिपुञ्जो मिथ्यात्व-मोहनीयस्याऽविहित - शुद्धाऽशुद्धमिश्रपुंजत्रयविभागोऽक्षपितमिथ्यात्वो लभते सम्यक्त्व, तस्याऽन्तरकरणप्रविष्टस्यौपशमिकं सम्यक्त्वमवाप्यते। क्षपितमिथ्यात्वपुंजोऽप्यविद्यमानत्रिपुंजो भवति, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थ-मुक्तम्—अक्षपितमिथ्यात्व सन योऽत्रिपुंजः सम्यक्त्व लभते, तस्यैवौप-शमिक सम्यक्त्वमवाप्यते, क्षपितमिथ्यात्वः क्षायिकसम्यक्त्वमेव लभते इति भावः।

अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टि जीव शुद्धपुञ्ज, अर्द्ध शुद्धपुञ्ज और अशुद्धपुंज को किये बिना तथा मिथ्यात्व को क्षय किये बिना—अतरकरण में प्रवेश करते हुए औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

---

१—सात कर्म प्रकृति—मिथ्यात्व-मिश्र-सम्यक्त्व मोहनीय तथा अनंतानुबंधीय कषाय चतुष्क ( क्रोध-मान-माया-लोभ )

मिथ्यात्वी शुद्धादि तीन पुंज की प्रक्रिया एक नियम से करता है तथा उन प्रक्रिया के करने से सदनुष्ठान से सम्यक्त्वादि गुणों को प्राप्त कर लेता है। वे अध्यात्म विकास—करते हुए श्रुतादि सामायिक का लाभ ले सकते हैं परन्तु अभव्यात्मा केवल यथाप्रवृत्तिकरण को ही प्राप्त कर रह जाता है अर्थात् वह अभव्यात्मा शेष के दो करण ( अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण ) को नहीं प्राप्त कर सकता है परन्तु यथाप्रवृत्तिकरण में प्रविष्ट जीव श्रुतसामायिक का लाभ ले सकता है।

प्रायः तप—संयम से भावितात्मा वाले अनगारों को ही अवधि ज्ञानादि उपलब्धियाँ उत्पन्न होती हैं। आगम में सम्यग्दृष्टि अनगार तथा मिथ्यादृष्टि अनगार—दोनों के लिए भावितात्माका प्रयोग हुआ है।[1]

अमायी सम्यग्दृष्टि भावितात्मा अनगार भी अपनी वीर्यलब्धि से, वैक्रिय-लब्धि से और अवधि ज्ञान लब्धि से एक बड़े नगर की विकुर्वणा कर सकता है।[2] परन्तु उसका दर्शन अविपरीत ( सम्यग् ) होता है वह तथाभाव से जानता है, देखता है।

घर-बार आदि का त्यागी होने के कारण अन्यमतावलम्बी साधु को अनगार तथा उसके ( अन्यमत ) शास्त्र में कथित शम, दम आदि नियमों को धारण करने वाला होने से भावितात्मा कहा गया है। वह मायी अर्थात् क्रोधादि कषाय वाला है और मिथ्यादृष्टि है। जैसे दिग्मूढ मनुष्य पूर्व दिशा को पश्चिम दिशा मानता है उसी प्रकार उसके सम्यग् ज्ञान न होने के कारण उस अनगार का अनुभव विपरीत है। कतिपय भावितात्मा अनगार विभंग ज्ञानी वैक्रिय कृत रूपों को भी स्वाभाविक रूप मानता है अतः उसका वह दर्शन भी विपरीत है। जितने अंशों में उसका सही ज्ञान, सही दर्शन है तो उसका उतने अंशों में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन कहा जायेगा। अर्थात् वह सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन की बानगी ( नमूने ) हैं।

---

(१) भगवई श ३। उ ६। सू २२२।२२३

(२) भगवई श ३। उ ६। सू २३४।२३५

श्री जयाचार्य ने कहा है—

पहिले तीज मिथ्यात निरंतरे।

—झीणी चर्चा ढा २२ पूर्वार्ध

अर्थात् पहले और तीसरे गुणस्थान में निरंतर मिथ्यात्व आस्रव होता है। मिथ्यात्वी के भी पुण्य और पाप—दोनों का आस्रव होता है। जिस प्रकार घट का अनुरूप कारण मिट्टी के परमाणु हैं और पट का अनुरूप कारण तन्तु हैं, उसी प्रकार सुख के अनुरूप कारण पुण्य कर्म और दुःख के अनुरूप कारण पाप कर्म का पार्थक्य मानना पड़ेगा।[१] उस पुण्यका उपार्जन-अकाम निर्जरा से भी मिथ्यात्वी के होता है। कहा है—

"अकामेन—निर्जरां प्रत्यनभिलाषेण निर्जरा—कर्म्मनिर्जरणहेतु-र्बुभुक्षादिसहनं यत् सा अकाम निर्जरा तथा।"

ठाणं ठाणा ४। उ ४। सू० १३१ टीका

अर्थात् मोक्षाभिलाषा के बिना बुभुक्षा आदि को सहन करना अकाम निर्जरा है—कर्म की निर्जरा इससे भी होती है।

मिथ्यादृष्टि के शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के अध्यवसाय होते हैं। दोनों के असंख्यात-असंख्यात प्रकार हैं। नारकी जीवों मे भी असंख्यात अध्यवसाय कहे गये हैं—

लेश्या और अध्यवसाय का घनिष्ट सम्बन्ध मालूम देता है; क्योंकि मिथ्यात्वी के जातिस्मरण, विभंग ज्ञान की प्राप्ति के समय मे अध्यवसायों के शुभतर होने के साथ लेश्या परिणाम भी विशुद्धतर होते हैं। इसी प्रकार अध्यवसाय के अशुभतर होने के साथ लेश्या की अविशुद्धि घटित होती है। ऐसा मालूम देता है कि मिथ्यात्वी के भी छहों लेश्याओं में प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों प्रकार के अध्यवसाय होते हैं।[२]

---

(१) गणधरवाद पृष्ठ १३१ से १३६

(२) लेश्या कोश पृष्ठ २७७

शुद्धनय की दृष्टि से शुद्धपर्याय प्रत्येक आत्मा में समान है। कहा है—

शुद्धाः प्रत्यात्मसाम्येन पर्यायाः परिभाविता।
अशुद्धाश्चापकृष्टत्वाद् नोत्कर्षाय महामुने॥ ६। १४२॥

—ज्ञानसार, निर्भयता अष्टक

अर्थात् विचारित ( शुद्ध नय की दृष्टि से ) शुद्ध पर्याय हरेक आत्मा में समान रूप से है। सर्वनय में मध्यस्थ परिणामवाले मुनि को—अशुद्ध-विभाव रूप पर्याय तुच्छ होने से महामुनि को अभिमान के लिए नहीं होते।

अतः मिथ्यात्वी इस विषय में हरदम चिंतन करता रहे कि सत्ता की दृष्टि से सब जीवों में केवल ज्ञान-दर्शन हैं, मैं अनंत बली हूँ अतः कर्म का क्षय करने का प्रयत्न करता रहूँगा। मिथ्यात्वी अशुभ ध्यान को छोड़कर धर्म ध्यान ध्यावे। धर्म ध्यान के समय मिथ्यात्वी के या सम्यक्त्वी के पीत, पद्म और शुक्ल—ये तीन लेश्याएँ क्रमशः विशुद्ध होती हैं। परिणामों के आधार पर वे तीव्र या मंद होती है।[1] मिथ्यात्वी के आध्यात्मिक विकास में धर्मध्यान का, शुभलेश्या का होना आवश्यक है। धर्मध्यान में उपगत मिथ्यात्वी कषायों से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि मानसिक दुःखों से बाधित नहीं होता है। कर्मरूपी जंजीर को क्रमशः तोड़ डालना है। जैसे पवन से आहत बादलों का समूह क्षण में ही विलीन हो जाता है वैसे ही ध्यान रूपी पवन से कंपित कर्मरूपी बादल विलीन हो जाते है।[2]

यदि मिथ्यात्वी मिथ्या श्रद्धान से दुष्ट अष्ट कर्मों का उपार्जन तीव्रता से करता है तो वह मुक्त नहीं हो सकता है।[3] श्री योगीन्द्र देव ने कहा है कि

---

(१) होंतिकमविसुद्धाओ लेस्साओ पीयपम्हसुक्काओ।
धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्वमंदाइभेयाओ।

—ध्यानशतक, गाथा ६६

(२) ध्यान शतक गा १०२

(३) अष्टप्राभृत, मोक्षप्राभृत गा १५

मिथ्यादर्शन के कारण मोही होता हुआ जीव सुख नहीं प्राप्त कर सकता, बल्कि दुःख की प्राप्ति करता है।[१] पद्मनंदि ने कहा है —

जिसमें अरिहंत देव, सुसाधु-गुरु और तत्त्व-धर्म की यथार्थ श्रद्धा है, उस सम्यक्त्व को मैं यावज्जीवन के लिए स्वीकार करता हूँ।[२] यह दर्शन-पुरुष के व्यावहारिक सम्यग्दर्शन के स्वीकार की विधि है। इससे उसके सत्य संकल्प का ही विवरीकरण है।[३]

रत्नत्रयी ज्ञान, दर्शन ( श्रद्धा या रुचि ) और चारित्र की है। इस त्रयात्मक श्रेयोमार्ग ( मोक्ष मार्ग ) की आराधना करने वाला ही सर्वाराधक या मोक्षगामी है। श्रेयस्-साधना की समग्रता अयथार्थ ज्ञान, दर्शन, चरित्र से नहीं होती। इसलिए उसके पीछे सम्यग् शब्द और जोड़ा गया। सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चरित्र-मोक्षमार्ग हैं।[४] एक दृष्टि से ज्ञान, दर्शन और चारित्र का त्रिवेणी संगम प्राणी मात्र में होता है क्योंकि ज्ञानावरणीय आदि चार घातिक कर्मों का क्षयोपशम प्राणीमात्र में होता है।

आश्रव भव-संसार का हेतु है तथा संवर-निर्जरा मोक्ष के हेतु हैं। कहा है—

"आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपंचनम्।

—वीतराग स्तोत्र

---

(१) मिच्छादंसणमोहियउ ण वि सुह दुक्ख वि पत्तु
—योगसार टीका गा ४ उत्तरार्द्ध

(२) चत्तारि मंगलं × × × केवली पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।
—आवस्सयं सुत्तं अध्ययन ४

(३) अरिहंतो महदेवो। जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इय सम्मत्तं मए गहियं॥
—आवस्सय सुत्तं अ ४

(४) तिविहे धम्मे पण्णत्ते, तंजहा—णाणधम्मे, दंसणधम्मे, चरित्त-धम्मे।
—ठाण स्था० ३।४।११४

यही तत्त्व वेदांत में अविद्या और विद्या शब्द के द्वारा कहा गया है।

अविद्या बंधहेतुः, स्यात्, विद्या स्यात् मोक्षकारणम्।
ममेति बध्यते जन्तु, न ममेति विमुच्यते॥

पातञ्जल-योग सूत्र और व्यास भाष्य[1] में (संसार-संसार हेतु—मोक्ष, मोक्षोपाय) भी यही तत्त्व हमें मिलता है। बौद्धदर्शन मे चार आर्य का विवेचन मिलता है—

(१) दुःखहेय, (२) समुदय-हेयहेतु, (३) मार्ग-हानोपाय या मोक्ष-उपाय और (४) निरोध-हान या मोक्ष।

योगदर्शन भी यही कहता है—विवेकी के लिये यह संयोग दुःख है और और दुःखहेय है।[2] त्रिविध दुःखों के थपेड़ों से थका हुआ मनुष्य उसके नाश के लिए जिज्ञासु बनता है।[3]

अस्तु सत्य एक है—शोध पद्धतियाँ अनेक हैं। सत्य की शोध और सत्य का आचरण धर्म है। किसी भी सम्प्रदाय का व्यक्ति क्यों न हो—चाहे मिथ्यात्वी हो, चाहे सम्यक्त्वी हो—सत्य का आचरण करना धर्म है। सम्प्रदाय अनेक बन गये परन्तु सत्य अनेक नहीं बना। सत्य शुद्ध—नित्य और शाश्वत होता है।[4] साधन के रूप में वह अहिंसा है[5] और साध्य के रूप मे वह मोक्ष है। भगवान् ने कहा है—

जे निज्जिण्णे से सुहे × × × पावे कम्मे जेय कडे, जेय कज्जइ, जेयकज्जिस्सइ सव्वे से दुक्खे। —भगवई ७। ८ सू १६०

---

(१) व्यास भाष्य २।१५

(२) दुःखमेव सर्वं विवेकिनः हेयं दुःखमनागतम्।

—योग सूत्र २-१५-१६

(३) दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।

—सांख्य सूत्र १ क

(४) ओवाइयं

(५) सव्वे पाणा न हंतव्वा—एस धम्मे, धुवे, णिइए, सासए।

—आयारो १-४-१

अर्थात् निर्जरा आत्म-शुद्धि सुख है। पापकर्म दुःख है। जब मिथ्यात्वी के सद् आचरण से निर्जरा होती है—ऐसे निर्जरा होने से जब केवली भगवान् के वचनों पर श्रद्धा हो जाती है तब वह सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति होते ही मिथ्यात्व से निवृत्ति हो जाती है।[१]

आत्मा की अविकसित दशा में उस पर कषाय का लेप रहता है। इससे उसमें स्व-पर की मिथ्या कल्पना बनती है। स्व में पर की दृष्टि और पर में स्वदृष्टि का नाम मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यात्वी सद्पराक्रम से कषाय से दूर रहने की चेष्टा रखें। कर्म की गति बड़ी विचित्र है। संसार रूपी चक्रव्यूह से निकलने का प्रयास करे। सद् प्रयास से अवश्य सफलता मिलेगी।

सद् पुरुष की श्रद्धा, प्रतीति, भक्ति, आश्रय, निश्चय—ये सम्यक्त्व के कारण होने से—उस भक्ति को सम्यक्त्वरूप कहा है—

अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं।
सीलं विषयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं॥

—अष्टप्रा० ८। ४०

अर्थात् परम कृपाल श्रीमद् अरिहंत परमात्मा की उत्तम भक्ति—सम्यक्त्व है। वह व्यवहार से है। वही निश्चय में तत्त्वार्थ की श्रद्धा तथा आत्मा के अनुभव रूप सम्यग्दर्शन से निर्मल शुद्ध होता है—ऐसी शुद्ध अरिहंत भक्ति रूप सम्यक्त्व है। विषयों से विरक्त होना शील है। अतः मिथ्यात्वी के सही श्रद्धा, सही प्रतीति होने से आत्म-लाभ होता है। सद् पुरुषों के प्रति उनके वचन के प्रति अपूर्व प्रेम, भाव सहित श्रद्धा, प्रतीति अवश्यमेव आत्मार्थियों को दृढ़ करनी चाहिए।

ज्ञान के अष्ट भेदों का जहाँ उल्लेख है वहाँ प्रथम के पाँच ज्ञान सम्यग्दृष्टि के होते हैं तथा अवशेष तीन अज्ञान मिथ्यादृष्टि के होते हैं। भास्करनंदि ने कहा है—

---

(१) जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं॥२२॥

—अष्टपाहुडं—दर्शनपाहुडं

प्रतिभासो हि यो देव विकल्पेन तु वस्तुनः।
ज्ञान तदृष्टधा प्रोक्तं सत्यासत्यार्थभेदभाक्॥
मतियुक्तं श्रुतं सत्यं स मनःपर्ययोऽवधिः।
केवलं चेति सत्यार्थं सद्दृष्टेर्ज्ञानपंचकम्॥
कुमतिः कुश्रुतज्ञानं विभंगाख्योऽवधिस्तथा।
ज्ञानत्रयमिदं देव मिथ्यादृष्टिसमाश्रयम्॥

—ध्यानस्तव श्लोक ४३ से ४५

अर्थात् ज्ञान से वस्तु का प्रतिभास होता है। सत्य—असत्यार्थ के भेद से ज्ञान के अष्ट प्रकार हैं। जिस में मिथ्यात्वी के मति-श्रुत विभंग—ये तीन अज्ञान होते हैं।

पुण्य से मिथ्यात्वी या सम्यक्त्वी सुख वेदते हैं उसका उपार्जन शुभ परिणाम से होता है।[1] यद्यपि सभी नारकी-देवों के भवप्रत्यय अवधि ज्ञान होता है। देवों और नारकियों के अवधिज्ञान का कारण भव ही नहीं है किन्तु कर्म का क्षयोपशम भी कारण है। सम्यग्दृष्टि देव और नारकियों के अवधि होता है और मिथ्यादृष्टियों के विभगाऽवधि।[2]

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के काल लब्धि आदि कारणों के मिलने पर उपशम होता है। श्रुतसागरसूरि ने कहा है—

कर्मं वेष्टितो भव्यजीवोऽर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल उद्धरिते सत्यौपशमिकसम्यक्त्वग्रहणोचितो भवति। अर्द्ध पुद्गलपरिवर्तनाधिके काले सति प्रथमसम्यक्त्वस्वीकारयोग्यो न स्यादित्यर्थः। एका काललब्धि रियमुच्यते ×××। तृतीयाकाललब्धिः कथ्यते—सा काललब्धि

(१) शुभो यः परिणामः स्यादूभावपुण्यं सुखप्रदम्।
भावायत्तं च यत्कर्म द्रव्यपुण्यमवादि तत्॥५०॥

—ध्यानस्तव

(२) देवनारकाणामिति अविशेषोक्तावपि सम्यग्दृष्टिनामेव अवधिर्भवति मिथ्यादृष्टीनां देवनारकाणामन्येषाञ्च विभंगः कथ्यते।

—तत्त्वार्थवृत्ति १/२१

भावमपेक्षते । कथम् ? भव्यजीवः पंचेन्द्रियः, समनस्कः पर्याप्तिपरिपूर्णः, सर्वविशुद्धः औपशमिकसम्यक्त्वमुत्पादयति ।

—तत्त्वार्थवृत्ति २ । ३

अर्थात् कर्म युक्त भव्य जीव संसार के काल में से अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन काल शेष रहने पर औपशमिक सम्यक्त्व के योग्य होता है—यह एक काल लब्धि है। आत्मा में ( मिथ्यात्वी में ) कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति अथवा जघन्य स्थिति होने पर औपशमिक सम्यक्त्व ( मिथ्यात्वी ) नहीं प्राप्त कर सकता । × × × ।

भव्य, पंचेन्द्रिय, समनस्क, पर्याप्तक और सर्व विशुद्ध जीव औपशमिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। यह तीसरी काल लब्धि है। पातंजल योग के टीकाकार व्यास ने कहा है—

अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्व धर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः ।

—पातञ्जलयोग—टीका

अर्थात् अवस्थित द्रव्य के प्रथम धर्म के नाश होनेपर दूसरे धर्म की उत्पत्ति को परिणाम कहते हैं। अगर मिथ्यात्वी के किंचित् भी शुभ परिणाम नहीं होते तो वे कभी भी सम्यक्त्वी नहीं होते। द्रव्यों के निज-निज स्वभाव में वर्तने को परिणाम कहा है।[1]

जब मिथ्यात्वी के विभंग ज्ञान विशुद्ध लेश्यादि से उत्पन्न होता है तब यदि मिथ्यात्वी जघन्य योग वाला हो, कषाय की मदंता हो तो उसके जघन्य प्रदेश का बंध होता है। भगवंत भूतबलि भट्टारक ने कहा है—

विभंगे अट्ठण्णं क० ज० प० क० अण्ण० चदुगदि० घोडमाणज० जो अट्ठविध बं० ।

—महाबंध चतुर्थ भाग

अर्थात् विभंग ज्ञानी यदि जघन्य योग वाला हो तथा कषाय की मंदता हो तो वह जघन्य प्रदेश का बंध करता है। मिथ्यात्व के जघन्य अनुभाग का बंध करने वाला जीव अनंतानुबंधी चार कषाय का नियम से बंध करता है।

---

(१) जैन पदार्थ विज्ञान में पुद्गल पृ २१३०

किन्तु यह ध्यान में रहे कि वह जघन्य अनुभाग का भी बंध करता है और अजघन्य अनुभाग का भी बंध करता है। यदि अजघन्य अनुभाग का बंध करता है तो वह छह स्थान पतित वृद्धि रूप होता है।[1]

जब मिथ्यात्वी के कर्मों की विशुद्धि से तत्त्वों के प्रति अविपरीत श्रद्धा होती है तब सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। मिथ्यात्वी को सम्यक्त्व सामायिक भी विशेष ज्ञान तथा आवरण के भंग के तारतम्य से होती है। इस प्रकार भूषण स्थान आदि की सिद्धिरूप समत्व को प्रथम सामायिक—सम्यक्त्व सामायिक जानना चाहिए। मिथ्यात्वी भी यदि भावना मार्ग का आलंबन करता है तो वह उसे के लिए योग है।[2] आचार्य हरिभद्र ने भावना को भी योग माना है।[3] धर्म विषय का श्रवण करना भी योग माना गया है।

एक सद् गृहस्थ धार्मिक जीवन कैसे व्यतीत कर सकता है, योग को जीवन के व्यवहार में कैसे प्रयोग कर सकता है। इस पर हरिभद्र सूरि ने बहुत सारा चिंतन किया। योग शतक में आपने कहा है—

सद्धम्माणुवरोहावित्ती दाणं च तेण सुविसुद्धं।
जिणपूय—भोयणविही संझानियमोबजोगंतु॥
चियवंदण—जइविस्सामणा य सवणं च धम्मविसयं ति।
गिहिणो इमो वि जोगोकिं पुण जो भावणा मग्गो॥

—योगशतक श्लो० ३०।३१

अर्थात् जिससे सद् धर्म में बाधा न हो, ऐसी गृहस्थ को आजीविका करनी चाहिए। निर्दोष दान देना चाहिए, वीतराग-पूजा करनी चाहिए, संध्या का नियम, साधुओं को स्थान, पात्र आदि देना चाहिए। धर्म विषय का श्रवण ये सब गृहस्थ के लिए योग हैं तो फिर भावना मार्ग तो योग है ही इसमें कोई संदेह नहीं।

---

(१) महाबंध पुस्तक ५। पृ० २९

(२) एयं विसेसनाणा आवरणावगमभेयओ चेव।
इय दट्ठव्व पढमं, भूसणठाणाइपत्तिसमं॥

योगशतक गा १८

(३) योगशतक गा ३१, ३२

उपर्युक्त सद् आचरण मिथ्यात्वी भी कर सकते हैं। सुकृति का सुफल फल नहीं होता है। आचार्य शीलांक ने कहा है—

खाइयसम्मदिट्ठी खीणसत्तगो सहावजणियसुहपरिणामो सेणिओ इव दट्ठव्वो।

—चउप्पन्नमहापुरिसचरियं पृ० १५

अर्थात् श्रेणिक राजा ने शुभ परिणाम से अनंतानुबंधी चतुष्क तथा मिथ्यात्व मिश्र-सम्यक्त्व—इन सात प्रकृतियों का क्षय कर, मिथ्यात्व से निवृत्त होकर—क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया।

भगवान् महावीर के जीव ने शबर के भव में साधु के सदुपदेश से मिथ्यात्व से निवृत्त हो सम्यक्त्व को प्राप्त किया।[1] सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय शबर के विशुद्ध लेश्या थी। आचार्य पुष्पदन्त ने कहा है—

तं णिसुणिवि भुय-दंड - विहूसणु।
मुक्कु पुलिंदें महिहि सरासणु॥
पणविउ मुणि - वरिंदु सब्भावें।
लेसाभाविउ णासिय-पावें॥

—वीरजिणिंदचरिउ संधि १, कडवक ३

अर्थात् शबरी की बात को सुनकर शबर ने अपने भुजदंड के भूषण धनुष को भूमि पर पटक दिया और सद्भाव पूर्वक मुनिवर को प्रणाम किया।

मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर शबर ने मानवीय गुणों का नाश करने वाले मधु और मांस के त्याग की प्रतिज्ञा लेली। इस प्रकार वह निरक्षर शबर जीवदया में तत्पर हो गया और जिनधर्म में लग गया। काल व्यतीत होने पर वह यम द्वारा निगला जाकर मरा और सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुआ।

---

(१) स धर्मो मद्यमांसादिपंचोदुम्बरवर्जनैः।
सम्यक्त्वेन सहिंसाद्यणुव्रतैः पंचभिस्तथा॥
गुणव्रतत्रिकैः सारैः शिक्षाव्रतचतुष्टयैः।
साध्यते गृहिभिरेकदेशः स्वर्गसुखप्रदः॥

—वीरवर्धमानचरित्त अधिकार २। श्लो २९।३०

अर्जुन माली जैसे महामिथ्यात्वी के धनी व्यक्ति भी सद् संगत से संसार रूपी समुद्र को पार किया।

अर्जुनमाली राजगृह नगर का वासी था। वह मुद्गरपाणि यक्ष का भक्त था तथा वह नित्य प्रतिदिन एक स्त्री व छः पुरुषों की हत्या करता था। कहा है—

**तएणं से अज्जुणए मालागारे मोग्गरपाणिणा जक्खेणं अण्णाइट्ठे समाणे रायगिहस्स नगरस्स परिपेरंतेणं कल्लाकल्लि इत्थिसत्तमे छ पुरिसे घायमाणे घाएमाणे विहरइ।**

अंतगडदसाओ वर्ग ६। अ ३।सू २७

अर्थात् अर्जुनमाली—मुद्गरपाणि यक्ष के आश्रित होकर प्रतिदिन छः पुरुष, सातवीं स्त्री की घात किया करता था।

कालान्तर में वह अर्जुनमाली श्रमणोपासक सुदर्शन के साथ भगवान् महावीर को वंदन नमस्कार करने के लिए गया। वंदन-नमस्कार किया। भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया। अर्जुनमाली को अच्छा लगा। सम्यक्त्व को ग्रहण किया, प्रव्रज्या ग्रहण की। सर्व कर्मों का अंत किया। छह मास श्रमण पर्याय का पालन किया। पन्द्रह दिन का अनशन आया। दीक्षा के दिन से ही अर्जुनमाली ने बेले-बेले की तपस्या की। कहा है—

**उप्पण्णसमयपहुदी आमरणंतं सहंति दुक्खाइं।**
**अच्छिणिमीलयमेत्तं सोक्खं ण लहंति णेरइया॥**

—धम्मरसायण गा ७२

अर्थात् नरकगति में प्राणी उत्पत्ति के समय से लेकर मरण पर्यंत दुःखों को सहन करते रहते हैं। वे बिचारे आँख के टिमकार मात्र भी समय तक सुख नहीं पाते हैं। मिथ्यात्व में मोही जीव परमात्मा को नहीं जानता है। श्री योगीन्द्र देव ने कहा है—

**मिच्छादंसणमोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ।**
**सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुण संसारु भमेइ॥**

—योगसार टीका गा ७

अर्थात् मिथ्यादर्शन से मोहित जीव परमात्मा को नहीं जानता है। यही बहिरात्मा है—वह बार बार संसार में भ्रमण करता है—ऐसा जिनेंद्र ने कहा है—अभव्य मिथ्यात्वी कष्ट मात्र रूप ( तप ) का आचरण कर सकते हैं। यशोविजयजी ने कहा है—

कष्टमात्रं त्वभव्यानामपि नो दुर्लभं भवे।

—ज्ञानसार अष्टक १०। ५

अर्थात् कष्ट मात्र रूप ( तप ) अभव्यको भी दुर्लभ नहीं है। अर्थात् अभव्य जीव तप रूप धर्म की आराधना कर सकते हैं।

मिथ्यात्व के तीव्र उदय से धर्म अच्छा नहीं लगता है। कहा है—

मिच्छत्तं वेदन्तो जीवो विवरीयदंसणो होइ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं पि रसं जहा जरिदो॥

—पंचसंग्रह ( दि० ) अधि १। गा ६

अर्थात् मिथ्यात्व कर्म का वेदन अर्थात् अनुभव करने वाला जीव विपरीत श्रद्धावाला होता है। उसे तीव्र मोह के उदय से धर्म नहीं रुचता है, जैसे कि ज्वर युक्त मनुष्य को मधुर रस भी नहीं रुचता है।[1]

जो क्षायोपशमिक अवधिज्ञान मिथ्यात्व के संयुक्त होने के कारण विपरीत स्वरूपवाला है उसे विभंग ज्ञान कहा है।[2]

कतिपय आचार्यों की यह मान्यता है कि मिथ्यात्वी—भव्यजीव जब प्रथम बार औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं। उसके अंतर्मुहूर्त बाद ही मिथ्यात्व आता है! कहा है—

सम्मत्तपढमलंभो सयलोवसमा दु भव्वजीवाणं।
णियमेण होइ अवरो सव्वोवसमा हु देसपसमा वा॥
सम्मत्तादिमलंभस्साणंतरं णिच्छएण जायव्वो।
मिच्छासंगो पच्छा अण्णस्स हु होइ भयणिज्जो॥

—पंचसंग्रह ( दि० ) अधि १। गा १७१-१७२

---

(१) विवरीय ओहिणाणं खाओवसमियं ×××।

—पंचसंग्रह ( दि० ) अधि १। १२० पूर्वार्ध

(२) पंचसंग्रह ( दि० ) अधि १। १७०

अर्थात् भव्यजीवों के प्रथम बार उपशम-सम्यक्त्व का लाभ नियमतः दर्शन मोहनीय कर्म के सकलोपशम से ही होता है। किन्तु ऊपर अर्थात् द्वितीयादि बार सर्वोपशम अथवा देशोपशम से होता है। आदिम सम्यक्त्व के लाभ के अनंतर मिथ्यात्व का संगम निश्चय से जानना चाहिये। किन्तु अन्य अर्थात् द्वितीयादि बार सम्यक्त्व लाभ के पश्चात् मिथ्यात्व का संगम भजनीय है, अर्थात् किसी के होता भी है और किसी के नहीं भी होता है।

एक बार भी जब मिथ्यात्वी-मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है वह निश्चय से शुक्लपाक्षिक, संसारपरीत, भव्यसिद्धिक जीव है। पंचसंग्रह के कर्त्ता ने भी प्रथम गुणस्थान में छओं लेश्या स्वीकृत की है—

पढमाइचउ छलेसा

—पंचसंग्रह ( दि० ) अधि २। १८७ पूर्वार्ध

अर्थात् प्रथम गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान तक छओं लेश्याएँ होती है। यह सिद्धांत का नियम है कि मिथ्यात्वी छट्ठी नरक तक का आयुष्य बांध लेने के बाद भी विशुद्ध लेश्या व सद् क्रिया के द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन श्रमणोपासक ( पंचम गुणस्थान ) व साधु नहीं हो सकते हैं। कहा है—

चत्तारि वि छेत्ताइं आउयबंधेण होइ सम्मत्तं।
अणुवय—महव्वयाइं ण लहइ देवाउअं मोत्तुं॥

—पंचसंग्रह ( दि० ) अधि १। २०१

अर्थात् जीव के चारों ही क्षेत्रों (गतियों) में से किसी एक क्षेत्र की आयु का बंध होने पर सम्यक्त्व को प्राप्तकर सकता है किन्तु अणुव्रत व महाव्रत देवायु को छोड़कर शेषायु का बंध होने पर प्राप्त नहीं कर सकता।

मिथ्यादृष्टि मनुष्य भावों की विशुद्धि से इसी भव में क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्तकर सकते हैं परन्तु अन्य गति वाले मिथ्यादृष्टि नहीं। जो मनुष्य जिस भव में दर्शन मोहनीय कर्म की क्षपणा का प्रस्थापन करता है, वह दर्शन मोहनीय कर्म के क्षीण होने पर नियम से उससे तीन भवों का अतिक्रमण नहीं करता।

अर्थात् दर्शन मोहनीय (अनंतानुबंधी चतुष्क कषाय) के क्षीण[1] हो जाने पर तीन भव में नियम से मुक्त हो जाता है।

औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति चारों ही गतियों में हो सकती है।[2] अतः सातों ही नारकी में औपशमिक सम्यक्त्व का अभाव नहीं है। मिथ्यात्वी के तीर्थङ्कर नाम[3] कर्म का बंध न होनेपर भी अन्यान्य पुण्यप्रकृति का बंध सद् अनुष्ठान से होता ही रहता है। पंचसंग्रह के (दि०) टीकाकार आचार्य सुमतिकीर्ति ने कहा है —

य सम्यक्त्वात्पतितो मिथ्यात्वं प्राप्तस्तस्याऽनंतानुबन्धिनां आवलिकामात्रकालं उदयो नास्ति, अन्तर्मुहूर्त्तकाले मरणपि नास्तीति।

पंचसग्रह (दि०) अधि १। १०४। पृ० ११७ टीका

अर्थात् जो अनंतानुबंधी का विसंयोजक सम्यग्-दृष्टि जीव सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होता है उसके एक आवलिका मात्र तक अनंतानुबंधी कषायों का उदय नहीं होता है। तथा सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व को प्राप्त होने वाले जीव का अन्तर्मुहूर्त काल तक मरण भी नहीं होता है। विशुद्ध लेश्या का जब तक मिथ्यात्वी के प्रवर्तन होता रहता है तब तक नरक गति का आयुष्य नहीं बंधता है।[4] इस रहस्य को समझकर मिथ्यात्वी अशुभ लेश्या को छोड़े, विशुद्ध लेश्या के प्रवर्तन में चित्त को लगावें। अभव्य में एक प्रथमगुणस्थान ही होता है।[5]

---

(१) खवणाए पट्ठवगो जम्मि भवे णियमदो तदो अण्णो।
णाधिक्कदि तिण्णि भवे दंसणमोहम्मि खीणम्मि॥

—पंचसग्रह (दि०) अधि १। २०३

(२) पंचसग्रह (दि०) अधि १। २०४

(३) सम्मत्तगुणनिमित्तं तित्थयरं।

—पंचसग्रह (दि०) अधि २। १२पूर्वार्ध

(४) पंचम संग्रह (दि०) अधि ४। ३७५, ३७८, ३८१

(५) अभव्यजीवेषु मिथ्यात्वं गुणस्थानमेकम्।

—पंचसंग्रह दि०। ४। ३८५—टीका

राजा रावण अपने अशुभ कृत्यों के कारण, मिथ्यात्व का सेवन करने से चतुर्थ नरक में उत्पन्न हुआ। योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

विक्रमाक्रांतविश्वोऽपि परस्त्रीषु रिरंसया।
कृत्वा कुलक्षयं प्राप नरकं दशकन्धरः ॥६६॥

—योगशास्त्र, द्वितीय प्रकाश

अर्थात् अपने पराक्रम से सारे विश्व को कम्पा देने वाला रावण अपनी स्त्री के होते हुए भी सीता सती को काम लुब्धतावश उठाकर ले गया और उसके प्रति सिर्फ कुदृष्टि की जिसके कारण उसके कुल का नाश हो गया। लंका नगरी खत्म हो गई। और वह मरकर नरक में गया।

समभाव की महिमा ऐसी अद्भुत है कि उसके प्रभाव से नित्य वैर रखने वाले सर्प-नकुल जैसे जीव भी परस्पर प्रेम धारण कर लेते हैं। अतः मिथ्यात्वी समताभाव को जीवन के व्यवहार में प्रश्रय दें।

दृष्टि की अपेक्षा—सबसे कम सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं, उनसे सम्यग्दृष्टि जीव अनन्त गुणे हैं, क्योंकि सिद्ध जीवों का समाविष्ट है; उनसे मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त गुणे अधिक होते हैं।

भव्यसिद्धिक—अभव्यसिद्धिक की अपेक्षा—सबसे कम अभवसिद्धिक ( नियम से मिथ्यादृष्टि होते हैं ) जीव होते हैं, उनसे भव्यसिद्धिक जीव अनन्त गुणे अधिक होते हैं।

शुक्लपाक्षिक – कृष्णपाक्षिक की अपेक्षा—सबसे कम कृष्णपाक्षिक अभवसिद्धिक जीव होते हैं,[1] उनसे शुक्लपाक्षिक भवसिद्धिक मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त गुणे अधिक होते हैं, उनसे कृष्णपाक्षिक भवसिद्धिक मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त गुणे अधिक होते हैं।

संसार परीत्त-संसार अपरित्त की अपेक्षा—सबसे कम संसार परीत्त मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं, उनसे संसार अपरित्त मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त गुणे अधिक होते हैं। संसार परीत्त मिथ्यादृष्टि जीव—सिद्धों के अनन्तवें भाग में आते हैं।[2]

(१) शुक्लपाक्षिक जीव-अभवसिद्धिक नहीं होते हैं।
(२) प्रज्ञापना पद ३। ४९—मलय टीका

प्रतिपाति सम्यग्दृष्टि जो सम्यक्त्व से पतित होकर पुनः मिथ्यादृष्टि हो गये हैं, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव – कृष्णपाक्षिक अभवसिद्धिक जीवों से अनन्त गुणे अधिक होते हैं।

प्रशस्त-अप्रशस्त लेश्या की अपेक्षा—सबसे कम प्रशस्त लेशी मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं, उनसे अप्रशस्त लेशी मिथ्यादृष्टि जीव अनन्त गुणे अधिक होते हैं।

आचार्य पूज्यपाद ने कहा है—

कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः।

—तत्त्व० १। ४ सर्वार्थसिद्धि

अर्थात् मोक्ष का लक्षण सम्पूर्ण कर्म-वियोग है सर्व कर्मो से मुक्ति-मोक्ष है। घाणी आदि के उपाय से तेल खल रहित होता है वैसे ही तप और संयम के द्वारा जीव का कर्म रहित होना —मोक्ष है।

मथनी आदि के उपाय से घृत छाछ रहित होता है, वैसे ही तप—संयम के द्वारा जीव का कर्म रहित होना—मोक्ष है।

अग्नि आदि के उपाय से धातु और मिट्टी अलग होते हैं वैसे ही तप और संयम के द्वारा जीव का कर्म रहित होना—मोक्ष है।

मोक्ष सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ है। मोक्ष साध्य है और संवर-निर्जरा साधन। मोक्ष पदार्थ में सर्व गुण होते हैं। परमपद, निर्वाण, सिद्ध, शिव आदि उसके अनेक नाम हैं। मोक्ष के ये नाम गुण निष्पन्न हैं। मोक्ष से ऊँचा कोई पद नहीं है अतः वह परमपद है। कर्म रूपी दावानल शांत हो जाने से उसका नाम 'निर्वाण' है। सम्पूर्ण कृत्य कृत्य होने से उसका नाम 'सिद्ध' है। किसी प्रकार का उपद्रव नहीं है अतः मोक्ष का नाम 'शिव' है।

बेड़ी आदि से छूटना द्रव्य मोक्ष है, कर्म बेड़ी से छूटना भाव—मोक्ष है। यहाँ मोक्ष का अभिप्राय भाव मोक्ष से है। आचार्य भिक्षु ने नव पदार्थ की चोपई में—मोक्ष पदार्थ में कहा है—

परम पद उत्कृष्टो पद पामीयो,<br>तिणसूं परमपद त्यांरो नाम।

करम दावानल मिट सीतल थया,
तिणसूं निरवांण नांम छें तांम ॥

—भिक्षुग्रन्थरत्नाकर खण्ड १ पृ० ५२

अर्थात् सर्वोत्कृष्ट पद प्राप्त कर चुकने से जीव परमपद प्राप्त, कर्म रूपी दावानल को शांत कर शीतल हो चुकने से 'निर्वाण' प्राप्त, सर्व कार्य सिद्ध कर चुकने से सिद्ध और सर्व—जन्म-जरा-व्याधि रूप उपद्रवों से रहित हो जाने से 'शिव' कहलाता है। ये सब मोक्ष के पर्यायवाची नाम हैं।

जो आत्मा समस्त कर्मों से रहित होती है, वह कर्म रहित आत्मा ही मोक्ष है। मुक्त जीव इस संसार रूपी दुःख से अलग हो चुके हैं। वे निर्दोष और शीतलीभूत हैं।

मोक्ष की प्राप्ति रूप अभिलाषा के लिये मिथ्यात्वी द्वादश प्रकार का तपस्या करता रहे।

निरसंगता से, निरागता से, गतिपरिणाम से, बंधन छेद से निरींधनता से और पूर्व प्रयोग से कर्म रहित जीव की गति ऊर्ध्व मानी गई है। कहा है—

एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा, कृत्स्नकर्मवियोगलक्षणो मोक्षः।

—तत्त्वा० १, ४ सर्वार्थसिद्धि

अर्थात् कर्मों के देश—क्षय से आत्मा का देश रूप उज्ज्वल होना निर्जरा है। सम्पूर्ण रूप से कर्मों के वियोजन होने को मोक्ष कहते हैं। कर्म की पूर्ण निर्जरा ( विलय ) जो है, वही मोक्ष है। कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है। दोनों में मात्रा भेद हैं, स्वरूप भेद नहीं।[1] निर्जरा की करणी शुभयोग रूप होने से निर्मल होती है ; अतः वह निरवद्य है। तप से अनन्त संसारी मिथ्यात्वी करोड़ों भवों के कर्मों को खपाकर सिद्ध हो जाता है।

शठ, मूढ और दुष्टाशय मनुष्य मायाचार का सेवन करे, माया, मिथ्या, निदान—इन तीनों शल्यों को न छोड़े और मिथ्या मार्ग का उपदेश दे और समीचीन

---

(१) जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व पृ० १४७

को दूषण लगावे तो वह मिथ्यादृष्टि तिर्यंच का आयुष्य बांधता है।[१] तिर्यंच का आयुष्य मिथ्यात्वी मायादि शल्य से बांधते हैं। लोक में देखा जाता है कि कतिपय मिथ्यात्वी सद् वातावरण रहे हुए जिन शासन की अच्छी प्रभावना करते हैं, जैन दर्शन व प्राकृत भाषा का भी अच्छा अध्ययन करते हैं। आचार्य अमितगति ने कहा है—

जिनशासननिन्दकः नीचैर्गोत्रं प्रबध्नाति।

—पंचसंग्रह (दि०) परिच्छेद ४। ८२

अर्थात् जो मिथ्यात्वी जिन शासन की निंदा करता है वह नीच गोत्रकर्म को बांधता है। प्रथम गुणस्थान में आयुष्य सहित अष्ट ही कर्म का बंध होता है।[२] अनादि मिथ्यादृष्टि जीव करण विशेष से सम्यक्त्व को प्राप्त कर उसी भव में तीर्थंकर नाम कर्म का बंध कर सकता है। मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थान में — मिथ्यात्व, नपुंसक वेद, नरकायु, नरकगति द्वय, एकेन्द्रियादि जाति कर्म चार सूक्ष्म, साधारण, आतप, अपर्याप्त, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, हुंडक संस्थान स्थावर—ये सोलह प्रकृति बंध से विच्छिन्न होती है।[३] ये प्रकृति मिथ्यात्व के रहते हुए बंधती है, अंत में विच्छिन्न होती है। जो आयु अशुभ है उसकी उत्कृष्ट स्थिति को मिथ्यादृष्टि जीव परिणाम—संक्लेश के कारण बांधता है। आचार्य अमितगति ने कहा है—

सम्यग्दृष्टिरसद्दृष्टिः पर्याप्तौ कुरुतः स्थितिम्।
प्रकृष्टमायुषो जीवौ शुद्धिसंक्लेशभाजिनौ॥

—पंचसंग्रह ( दि० ) परिच्छेद ४। २०३

अर्थात् आयुष्य कर्म में जो शुभ आयु है उसकी उत्कृष्ट स्थिति को सम्यग्दृष्टि परिणाम—विशुद्धि के कारण बांधता है। अशुभ आयुष्य की उत्कृष्ट

---

(१) उन्मार्गदेशको मायी सशल्यो मार्गदूषकः।
आयुरर्जति तैरश्चं शठो मूढो दुराशयः॥

—पंचसंग्रह ( दि० ) —परिच्छेद ४। ७८

(२) अष्टायुषा विना सप्त षडाद्या मिश्रकं विना।

—पंचसंग्रह ( दि० ) परिच्छेद ४। ८५ पूर्वार्ध

(३) पंचसंग्रह ( दि० ) परिच्छेद ४। १९७। पृ० ७४

स्थिति का बंध मिथ्यात्वी संक्लेश परिणाम से बांधते है। अतः मिथ्यात्वी इस मर्म को समझे, अशुभलेश्या को छोड़े, शुभलेश्या मे चित्त को लगावें—इसी में उसका कल्याण है।

निगोद के जीवों की सबसे छोटी आयु होती है उसका बन्ध दुष्ट स्वभाव वाला मिथ्यादृष्टि कुभोगभुमिज करता है। कहा है—

सप्तानां जीवितव्यस्य मिथ्यादृष्टिः कुमानुषः।

—पंचसंग्रह ( दि० ) परि ४। २०४ उत्तरार्ध

अर्थात् जीवितव्य—आयु की जघन्य स्थिति को दुष्ट स्वभाव वाला मिथ्यादृष्टि कुमानुष बांधता है। कहीं-कहीं तिर्यंच का आयुष्य भी शुभ—पुण्य प्रकृति के अन्तर्गत माना गया है। आचार्य अमितगति ने कहा है—

तिर्यङ्नरसुरायुंषि संति सन्त्यष्टकर्मसु ॥२३६॥

× × ×

तिर्यङ्मर्त्यामरायूंषि तत्प्रायोग्यविशुद्धित ॥२४०॥

—पंचसग्रह ( दि ) परिछेद ४

अर्थात् तिर्यंच आयु, मनुष्यायु, देवायु – ये शुभ अथवा पुण्य प्रकृति मानी जाती है। अत. ये तीन प्रकृति, कषाय की तद्योग्य विशुद्धि से बंधन को प्राप्त होती है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि तिर्यंचादि तीन आयुओं की उलटी रीति है। अर्थात् संक्लेश वृद्धि से तीन आयु की स्थिति जघन्य होती है और विशुद्धि से उत्कृष्ट होती है।[1] मिथ्यात्वी के साता वेदनीय कर्म के बंध मे परिणामों की योग्य विशुद्धि परिणति कारण है।[2] मिथ्यात्वी —शुभप्रकृति रूप मनुष्य गति के तीव्र अनुभाग का बंध—शुभलेश्यादि से करते हैं।[3] अब मिथ्यादृष्टि संयम के

(१) उत्कृष्टा स्थितिरुत्कर्षे सक्लेशस्य जघन्यका।
विशुद्धेरन्यथा ज्ञेया तिर्यङ्नरसुरायुषाम् ॥२४२॥

—पंचसग्रह ( दि० ) परिछेद ४

(२) पंचसंग्रह ( दि० ) परिच्छेद ४। २४३ पूर्वार्ध।

(३) पंचसंग्रह ( दि० ) परिच्छेद ४। २७६ !

सम्मुख होते हैं तब मिथ्यात्व आदि सोलह प्रकृतियों में जघन्यानुभाग को बांधते हैं।[1] कहा है—

मिथ्यात्वाकुलितास्तीव्रविशुद्धिगतमानसाः।
आरोपयन्ति मन्दत्वं स्त्रीनपुंसकवेदयोः॥

—पंचसंग्रह ( दि० ) परिच्छेद ४ । ३०८

अर्थात् मिथ्यात्वी, जिनकी मानसिक विशुद्धि तीव्र हो तो वे स्त्री और नपुंसक वेद का बंध मंद रूप से करते हैं। सरधा आचार की चौपई में आचार्य भिक्षु ने कहा है—

भारी करमां जीव संसार में, ते भूल्या अज्ञानी भ्रम।
त्यां ने गुणपिण मूढ मूरख मिल्या, ते किण विध पामे जिणधर्म॥

—सरधा आचार की चौपई ढाल १४ दोहा १

अर्थात् अज्ञानी व्यक्ति कुगुरु की संगति से धर्म के मर्म को नहीं समझ सकता है।[2] वे मिथ्यात्वी कुगुरु की बात को मान बैठते हैं लेकिन सुगुरु की बात को नहीं मानते हैं अतः मिथ्यात्वी थोड़ा विवेक से काम ले। खुले दिल से सोचे। वह सुगुरु की संगति करे। नीच संगति में आत्मोद्धार नहीं होता है।

तीन प्रकार से[3] जीव के अल्पायुष्य का बंधन होता है, यथा—हिंसा करने से, असत्य बोलने से व साधुओं को अशुद्ध अहार-पानी देने से।[4] इसके विपरीत तीन प्रकार से दीर्घायुष्य को बांधता है—यथा अहिंसा का प्रतिपालन करने से, सत्य बोलने से व साधुओं को निर्दोष आहार-पानी देने से। अतः मिथ्यात्वी कम से कम स्थूल हिंसा से बचने का प्रयास करे, कम से कम मोटी झूठ न बोले व साधुओं

---

(१) पंचसंग्रह ( दि० ) परिच्छेद ४ । ३०० ।

(२) अनादी रो जीव गोता खाय, समकित पथ हाथ नहीं आवे।
मिथ्यात माँहि कलिया, करम जोग गुरु माठा मिलिया॥
—आचार्य भिक्षु

(३) भगवई श ५ । उ ६ । सू १२४, १२५

(४) सरधा आचार की चौपई ढाल १५ वीं । १

को अशुद्धि दान न देकर शुद्ध—त्रिकरण—त्रिशुद्धि से दान दे। मिथ्यात्वी शुभ परिणाम युक्त भावना का चिंतन करे। कहा है—

तल्लेश्यः—तस्यशुभपरिणामविशेष इति भावना।

—अणुओगद्दाराइं हारिभद्रीय टीका पृ० १६

अर्थात् शुभपरिणाम विशेष को भावना कहते हैं। भावना से मिथ्यात्वी के कर्मों की विशेष निर्जरा होती है। देखा जाता है कि कतिपय मिथ्यात्वी प्राणी मात्र को हित का उपदेश करते हैं।[1] अच्छी धर्म की प्रभावना करते हैं। आप्त के वचन को आगम कहते हैं।[2] आगम असत्य नहीं होते हैं क्योंकि आप्त राग-द्वेष-मोह रहित होते हैं। मिथ्यात्वी आगम-वाणी का अनुसरण करे।

यद्यपि शुद्ध जीव द्रव्य का क्रोध परिणाम नहीं है। यह एक देशीय नय का विषय है। कर्म और नो कर्म से बंध को प्राप्त हुए जीव को क्रोध कर्म के उदय होने पर क्रोध रूप परिणति हो जाती है। यह क्रोध आत्मा के चारित्र गुण का विभाव परिणाम है।[3] तीव्र क्रोध से मनुष्य कोटि वर्षों के तप का फल नष्ट कर सकता है। अतः मिथ्यात्वी क्रोधादि कषायों से अधिक से अधिक दूर रहे। कहा जाता है कि अष्टक ब्रह्मचर्य महाव्रत होने के कारण वारिषेण मुनि के स्वकीय सुन्दर स्त्रियों में भी पुंवेद जन्य भाव उत्पन्न नहीं हुये और पुष्पडाल के कुरुप एकाक्षिणी स्त्री के निमित्त से पुंवेद का तीव्र उदय होने पर राग-भाव हो गये थे।[4] कर्म की गति बड़ी विचित्र है। मंद अज्ञानी थोड़ा विवेक से काम ले। सद्संगति में ध्यान दें। जब मिथ्यात्वी के दर्शन मोहनीय का क्रमशः उदय घटता जाता है, ऐसे घटते-घटते जब दर्शन मोहनीय का उदय नहीं रहता है तब

---

(१) हितोपदेशरूपत्वादुपदेशनमुपदेशः।

—अणुओगद्दाराइं—हारिभद्रीयवृत्ति पृ० २२

(२) आप्तवचनं आगम इति।

—अणुओगद्दाराइं—हारि० टीका पृ० २२

(३) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार पृ० ११

(४) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार पृ० १२

जीव को सम्यग् दर्शन की उपलब्धि होती है। जैसा कि आचार्य विद्यानन्द ने कहा है—

दर्शन मोहरहितस्य पुरुषस्वरूपस्य वा तत्त्वार्थश्रद्धानशब्देनाभिधानात् सरागवीतरागसम्यग्दर्शनयोस्तस्य सद्भावाव्याप्तेः स्फुटं विध्वंसनात्।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार अ १ सू २ टीका। द्वितीय खंड पृ० १६

अर्थात् दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से रहित हो रहे आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप का तत्त्वार्थों का श्रद्धान करना—इस शब्द से कहा गया है। वह निर्दोष लक्षण सभी सम्यग्दर्शनों में घटित हो जाता है।

मोह, संशय, विपर्यास—इन तीनों मिथ्यादर्शनों के व्यवच्छेद से उन तत्त्वार्थों में दर्शन हुआ है वही सम्यग्दर्शन है। ज्ञान में भी सम्यग् शब्द लगाने से संशय, विपर्यय और अज्ञान का व्यवच्छेद करना कहा गया है।[1]

अस्तु तत्त्वार्थ में किसी-किसी जीव के तीन प्रकार के मिथ्यादर्शन हो सकते हैं, यथा—

(१) अविवेक मिथ्यादर्शन—यह जीव का मोहनीय कर्म के उदय होने पर मोहरूप भाव है। अव्युत्पन्न जीव को हित-अहित नहीं सूझता है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि तत्त्वों के निर्णीत विश्वास करने का नाश हो जाना।

(२) संशय मिथ्यादर्शन—एक विषय में दृष्टि ज्ञान न होने पर चलायमान कई अवान्तर ज्ञप्तियों के होने को संशय कहते हैं, जैसे कि यह जीव है? या अजीव अथवा ठूठ या पुरुष? इत्यादि प्रकार से धर्मों में संशय करके किसी भी एक कोटि मे अवस्थित (दृढ) हो न रहना अथवा क्या जीव नित्य है? अथवा अनित्य है? और इस ढंग से व्यापक है या अव्यापक? इस प्रकार संशय करते हुए किसी भी एक धर्म में निश्चित रूप से अवस्थित न होना संशय है।

---

(१) मोहारेकाविपर्यासविच्छेदात्तत्र दर्शनम्।
सम्यगित्यभिधानात्तु ज्ञानमप्येवमीहितम्।

तत्त्वार्थ श्लो० अ २। सू २। टीका—श्लोक ६ खंड २

(३) विपर्यास मिथ्यादर्शन—अतत् मे तत् रूप से विपरीत निर्णय करना उसको विपर्यास कहते हैं। यथा—सीप मे चाँदी का ज्ञान कर लेना।

विस्तार करने पर मिथ्यात्व के संख्यात तथा असंख्यात तथा व्यक्ति भेद से अनन्त भेद भी हो जाते हैं। तत्त्वार्थों का श्रद्धान करना आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है। जब मिथ्यात्वी विशुद्ध लेश्या आदि से अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया लोभ का उदय में नहीं आने देना और मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियों का उदय न हो तथा उदीरणा भी न हो—ऐसी दशा मे होने वाली आत्मा की उत्कृष्ट शांति को प्रशम कहते हैं जो सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण है।[1]

किन्हीं किन्हीं मिथ्यादृष्टियों के भी क्रोध आदि का तीव्र उदय नहीं देखा जाता। इस कारण उनकी आत्मा मे शांति, क्षमा, उदासीनता आदि रूप गुण पाये जाते हैं। अनेक यवन, ( मौलवी ) ईसाई, ( पादरी ) त्रिदंडी आदि पुरुषों मे शान्ति पायी जाती है। देश सेवक लोग भी तीव्र कषायी दिखाई नहीं देते हैं। —ये गुण निरवद्य हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि के अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क का उदय कभी नहीं होता है यह कहा नहीं जा सकता है। यद्यपि पचाध्यायीकार ने प्रशमादि चार गुण मिथ्यादृष्टि और अभव्यों मे भी स्वीकार किया है। आंशिक रूप से शांति का अनुभव कतिपय मिथ्यादृष्टि भी करते हैं—इसमे कोई संदेह नहीं है। जीव तत्त्व मे अज्ञान होना ही मिथ्यात्व का एक विशेष स्वरूप है। पाँच प्रकार के मिथ्यात्व मे से अज्ञान नाम का मिथ्यात्व भी अधिक बलवान् है।

व्यक्तिगत रूप से मिथ्यादर्शन अनादि काल का नहीं है, किन्तु उस उस मिथ्यात्व कर्म अनादि काल से प्रवाहित होकर चला आ रहा है। अतः मिथ्यादर्शन को अनादिपना कहना ठीक नहीं है। वह मिथ्यादर्शन धाराप्रवाह रूप से अनादि कारण वाला है, स्वयं अनादि नहीं है चूँकि संतान ( धाराप्रवाह ) की अपेक्षा से मिथ्यात्व कर्म को अनादिपन है। पर्याय की अपेक्षा से मिथ्यात्व कर्मों

(१) तत्रानन्तानुबंधिनां रागादिनां मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्चानुद्रेक प्रशमः।

—तत्त्वार्थश्लो० अ१। सू १ श्लोक १२ पर टीका। खंड २ पृ० ३०

को और कर्मों से जनित भावों को सादि कहा है। जैसे भारतवर्ष में अनादि से अनंतकाल तक मनुष्य पाये जाते हैं, यह कथन संतान, प्रति संतान की अपेक्षा से है, किन्तु एक विवक्षित मनुष्य तो कुछ वर्षों से अधिक जीवित नहीं रह सकता। वैसे ही एक बार का उपार्जित किया हुआ मिथ्यात्व द्रव्य अधिक से अधिक सत्तर कोटा-कोटी सागर तक स्थित रहता है[१], फिर भी इन कर्मों का प्रवाह अनादिकाल से चला आया है। भावों की विशुद्धि की ओर मिथ्यात्वी ध्यान दें। मरुदेवी माता का सबक उत्तम है। आचार्य शीलांक ने कहा है –

"मरुदेवासामिणी × × × संसारे संसरंताण कम्मवसगाणं जीवाणं सव्वोसव्वस्स पिया माया बंधू सयणो सत्तू दुज्जणो मज्झत्थो" त्ति। एयं च चितयंतीए उत्तरुत्तरसुहऽज्झवसायारूढसम्मत्ताइगुणट्ठाणाए सहस त्ति पावियाऽपुव्वकरणाए पत्ता खवगसेढी, खवियं मोहजालं, पणासियाणि णाण-दंसणावरणं—ऽतरायाणि, समासाइयं केवलणाणं। तयाणंतरमेवसेलेसीविहाणेणा खविय कम्मसेसा गयखंधारूढा चेव आउयपरिक्खए अंतगडकेवलित्तणेणं सिद्धा 'इमिए ओसप्पिणीए पढमसिद्धो"।

—चउप्पन्नमहापुरिसचरियं पृ० ४२

अर्थात् गजपर आरुढ मरुदेवी माता ने संसार अनित्य है, कर्म के वशीभूत प्राणी संसार में परिभ्रमण करते हैं, ऐसी भावना का चिंतन किया। भावों की उत्कृष्ट विशुद्धि से मिथ्यात्व छूटा—सम्यक्त्व प्राप्त किया—चारित्र आया। क्षपकश्रेणी पर आरूढ होकर घनघातिक कर्मों का क्षय कर डाला। फलस्वरूप केवल ज्ञान—केवल दर्शन उत्पन्न हुआ। शैलेशी अवस्था प्राप्त कर चार अघातिक कर्मों का क्षय कर निर्वाण पद प्राप्त किया।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि मिथ्यात्वी या सम्यक्त्वी के आदि आस्रव द्वारों के कारण आत्मप्रदेशों में हलचल होती है तथा जिस क्षेत्रों में प्रदेश हैं उसी क्षेत्र में रहे हुए अनंतानंत कर्म योग्य पुद्गल जीव के साथ बंध को

---

(१) मिच्छत्तवेयणिज्जस्स × × × उक्कोसेणं सत्तरिंकोडाकोडीओ।

—पण्णवणासुत्तं पद २३। सू १७००

प्राप्त होते हैं। जीव और कर्म का यह मेल ठीक वैसे ही होता है जैसे दूध और पानी का या अग्नि या लोह पिण्ड का।[1] आचार्य शीलांक ने कहा है—

अण्णे वि तिरिय-मणुय-देवा अट्टज्झाणोवगया कोह-माण-माया-लोभवट्टिणो णिस्सीला णिव्वया सुहपरिणामरहिया संसारसूयरा माया-विवि-पुत्त-कलत्तणेहणियलिया तिरिएसु उववज्जंति! जे पुण पययीए भद्दया मंदकसाया धम्मरुचिणो दाणसीला ईसीविसुहज्झवसाया ते मणूएसु उववज्जंति।

—चउप्पन्न० पृ० ५२

अर्थात् जो मिथ्यात्वी आर्त्तध्यान में तल्लीन रहते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ की तीव्रता वाले हैं, शील रहित, व्रत रहित, शुभपरिणाम रहित, माया-कपट वाले हैं वे तिर्यंच योनि में उत्पन्न होते हैं तथा जो मिथ्यात्वी प्रकृति से भद्रिक हैं, मंदकषाय वाले हैं, धर्म के प्रति श्रद्धा रखते हैं, सुपात्र दान देते हैं, शुभ अध्यवसाय वाले हैं वे मनुष्य योनि में उत्पन्न होते हैं।

मुग्धभट्ट ने मिथ्यात्व से निवृत्त होकर सद्संगति से सम्यक्त्व को प्राप्त किया। उसकी सम्यक्त्व बड़ी दृढ थी। सम्यक्त्व की स्थिरीकरण के लिए उसका नाम प्रसिद्ध है। शालिग्राम नगर था। उसमें दामोदर नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम सोमा था। उसके पुत्र का नाम मुग्धभट्ट था।[2] उसकी जिन वचनों में दृढ श्रद्धा थी। ऐसी दृढ श्रद्धा कम देखने में आती है।

योग का दूसरा नाम ध्यान भी है। ध्यान के मुख्यतः दो भेद हैं—सालंबन और निरालंबन। स्थूल आलंबन का ध्यान सालंबन योग और सूक्ष्म आलंबन का ध्यान निरालंबन योग है। हरिभद्र सूरि ने कहा है—

आलंबण पि एयं, रूवमरूवी य इत्थ परमुत्ति।
तग्गुणपरिणइरूवो, सुहुमोऽणालंबणो नाम॥

—योगविंशिका श्लोक १९

---

(१) कीरइ जीएण हेउहिं जेणन्तो भण्णए कम्मं।

—कर्मग्रन्थ

(२) चउप्पन्न० पृ० ५३।

अर्थात् आलंबन के भी रूपी और अरूपी—इस प्रकार दो भेद हैं। परम अर्थात् मुक्त आत्मा ही अरूपी आलंबन है। उस अरूपी आलंबन के गुणों की भावना रूप जो ध्यान है वह सूक्ष्म ( अतीन्द्रिय विषयक ) होने से आलंबन योग कहलाता है।

सालंबनध्यान के अधिकारी मिथ्यात्वी भी हो सकते हैं लेकिन निरालंबन ध्यान के नहीं।

व्यवहार हो या परमार्थ, सब जगह उच्च वस्तु के अधिकारी कम ही होते है, उदाहरणतः—जैसे रत्नों के परीक्षक (जौहरी) कम होते हैं, वैसे ही आत्म-परीक्षक कम होते हैं। शास्त्रानुसार वर्तन करने वाला एक ही व्यक्ति हो तो वह महाजन ही है। अनेक लोग भी अगर अज्ञानी हैं तो वे सब मिलकर भी अंधों के समूह की तरह वस्तु को यथार्थ नहीं जान सकते।

सदनुष्ठान क्रिया में अनुरक्त रहने वाले मिथ्यात्वियों की अपेक्षा असदनुष्ठान ये दत्तचित्त मिथ्यात्वी अनत गुणे अधिक हैं। समता भाव में रमण करने वाले मिथ्यात्वी भी कम हैं।

विधि मार्ग के लिए निरंतर प्रयत्न करते रहने से कभी किसी एक व्यक्ति को भी शुद्ध धर्म प्राप्त हो जाय तो उसको चौदह लोक में अमारीपटह बजवाले की सी धर्मोन्नति हुई, समझना चाहिये। अर्थात् विधि पूर्वक धर्म क्रिया करने वाला एक भी व्यक्ति अविधि पूर्वक धर्म क्रिया करने वाले हजारों लोगों से अच्छा है।[1]

आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि "अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षेप—इन पाँच योगों का समावेश चारित्र में हो जाता है। अब यह प्रश्न उठता है कि जब चारित्री में ही योग का संभव है तब निश्चय दृष्टि से चारित्र हीन किन्तु व्यवहार मात्र से श्रावक या साधु की क्रिया करने वाले को उस क्रिया से क्या लाभ[2]। प्रत्युत्तर में कहा गया है कि व्यवहार मात्रा से जो क्रिया अपुनर्बंधक ( मिथ्यात्वी का एक प्रकार ) और सम्यग् दृष्टि के द्वारा की जाती है, वह योग नहीं वह योग का कारण होने से योग का बीज मात्र है।[3]"

---

(१) योगविंशिका श्लोक १६। टीका।

(२) योगविंशिका श्लोक १५—टीका।

(३) योगविंशिका श्लोक ३—टीका।

अन्तर्द्वीपज मनुष्य ( युगलिये ) नियम से मिथ्यादृष्टि ही होते हैं वे अपने पूर्व जन्म—मनुष्य या तिर्यंच पंचेन्द्रियके भव मे कृत सुकर्मों का सुफल भोगते हैं। सुकृति का फलनिष्फल नहीं जाता हैं। अकर्मभूमिज मनुष्य—युगलिये जो मिथ्यादृष्टि भी होते हैं और सम्यग्दृष्टि भी, लेकिन सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते हैं। मिथ्यादृष्टि मनुष्य या तिर्यंच ही सुकृति के कारण अकर्मभूमिज—मनुष्य मे उत्पन्न होते हैं। भद्रादि महारंभ व महापरिग्रह से रहित होने के कारण वे सब देवगति मे उत्पन्न होते हैं।

मिथ्यादृष्टि शुभयोग की प्रवृत्ति से विविध पुण्य प्रकृतियों का बंध करता है। आचार्य अमितिगति ने कहा है—

सुरद्वितयमादेयं सुभगनृसुरायुषी।
आद्ये सहृतिसंस्थाने सुस्वरःसन्नभोगति।
असात विक्रियाद्वंद्वमित्येता यास्त्रयोदश।
तासां सद्दृष्टिदुर्दृष्टी बंधोत्कृष्टत्वकारिणौ॥

—पंचसंग्रह संस्कृत ( दि० ) परिच्छेद ४। श्लो० ३५८-५९

अर्थात् देवगति, देवगत्यानुपूर्वी—ये दो, आदेय, सुभग, मनुष्य, देवायु, प्रथम वज्रर्षभनाराचसंहनन, समचतुरस्र संस्थान, सुस्वर, प्रशस्त विहायोगति, असाता-वेदनीय, वैक्रियिक द्वय-वैक्रिय शरीर, वैक्रियिक शरीरांगोपांग—ये दो— सर्व मिलकर—ये तेरह प्रकृति होती है। इन तेरह के उत्कृष्ट प्रदेशबंध को मिथ्या-दृष्टि कर सकते हैं।

मिथिला नगरी के राजा जनक के पुत्र भामंडल ने पूर्व जन्म में सुकृति के कारण मिथ्यात्व अवस्था में मनुष्य का आयुष्य बांधा। विमलसूरि ने कहा है—

पेच्छामि तत्थ समणं, तवलच्छिविभूसियसरीरं॥२१॥
तस्समणपायमूले, धम्मं सुणिऊण भावियमणेणं।
गहिय अणामिसवयं, मद्धम्मे मन्दसत्तेणं॥२२॥
जिणवरधम्मस्स इमं, माहप्प एरिसं अहो लोए।
घणपावकम्मकारी, तह वि अहं दुग्गइं न गओ॥२३॥

नियमेण सजमेण य, अणन्नदिट्ठित्तणोणं मरिऊणं ।
जाओ य विदेहाए, समय अन्नेणं जीवेणं ॥२४॥
—पउमचरियं उद्देशक उ० ३० । श्लो० २१ से २४

अर्थात् भामंडलजी पूर्व भव में विदर्भनगरी के राजा थे। राजा का नाम कुण्डल मंडित था। काम के वशीभूत होकर राजा ने एक ब्राह्मण की भार्या का अपहरण किया था। कालान्तर में अनरण्य राजा से पकड़े गये। छूटने पर घूमते हुए भामंडल के जीव ने एक श्रमण को देखा। मुनि ने धर्मोपदेश दिया फलस्वरूप आपने मांस-भक्षण का प्रत्याख्यान किया।

जिनेश्वरदेव द्वारा प्ररूपित धर्म का ऐसा महात्म्य है। पाप में रमण करने वाला—भामंडल का साधु-संगति से आत्मोद्धार हुवा। सुकृति से मनुष्य की आयु बांधी। मरण प्राप्त कर जनक राजा की धर्मपत्नी के कुक्षि से जन्म लिया। भामंडल नाम रखा गया।

भारतीय दर्शन की बौद्धिक विचारधारा के विद्वान् स्व० डा० राधाकृष्णन ने कहा है—

Late Dr. S. Radhakrishnan said "In common with other system of Indian thoughts and beliefs, Jainism belives in the possibility of non-jains reaching the goal of salvation only if they follow the ethical rules laid down." In support of his statement he wrote in a magazine 'MANAV' published on the occassion of 2500 Lord Mahavirs anniversiry by 'Mahavir Parished' from HUBLI (Madras) that Ratanshekhar Suri in the opening lines of his 'SAMBODHASATOTRI.' has Stated as follows.

"No matter he is Swetamber or Digamaber, Buddhist or a follower of any other creed, one who has realised the self-sameness of his soul i. e. looks on all creatures as his own attains Salvation."

स्व० डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने कहा था कि भारतीय संस्कृति के अन्य विचार व विश्वास धारा के अनुरूप जैन धर्म भी अन्य धर्मावलम्बी के शुद्धाचरण

के नियमो का पालन करने से मुक्ति प्राप्ति मे विश्वास व्यक्त करता है, अपने वक्तव्य के समर्थन में महावीर निर्वाण की २५०० वीं शताब्दी पर कुवली ( मद्रास ) से प्रकाशित 'मानव पथ' पत्र में रत्नशेखर सूरिकृत संबोधाष्टोत्तरी के प्रारम्भिक पृष्ठों का उद्धरण देते हुए वे लिखते हैं "कोई बात नहीं चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बुद्ध अनुयायी हो या अन्य धर्मावलम्बी हो जिसने दूसरे की आत्मा को अपनी आत्मा तुल्य समझ लिया अर्थात् सब जीवों को अपनी आत्मा तुल्य मानता है, वह मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी है।"

मिथ्यादृष्टि स्त्रीवेद, नपुंसक—इन दो प्रकृतियों में जघन्य अनुभाग बंध को भी करते हैं। शुभ लेश्यादि से मिथ्यात्व का विच्छेद होते ही, उसके अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क के बंध का भी विच्छेद हो जाता है। अनादि मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व प्रकृति तथा सम्यग्-मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता भी नहीं बताई गई है।

मिथ्यादर्शन से युक्त कषाय ही एक ऐसी विशिष्ट शक्ति को धारण करता जिससे नरकायु आदि का बंध हो सके। यहाँ पर कषाय में जो विशिष्ट शक्ति उत्पन्न होती है वह मिथ्यादर्शन के निमित्त से होती है। इसलिये नरकायु आदि कुछ प्रकृतियों का कारण कषाय को बताकर विशिष्टताधारक मिथ्यादर्शन को बताया गया है।

लोक मे कतिपय मिथ्यात्वी देखे जाते हैं कि वे मद्य-मांस का आजीवन त्याग करते हैं। वह उनका प्रत्याख्यान-निरवद्यानुष्ठान। जब मिथ्यात्वी निरवद्यानुष्ठान से सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है तब उसके नारक, तिर्यंच, नपुंसक वेद या स्त्रीवेद का बंध नहीं होता है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार में आचार्य समंतभद्र ने कहा है—

"सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका॥"

—रत्नाक० परि० १।३५

अर्थात् मिथ्यात्व से निवृत्ति होने के बाद जब सम्यग् दर्शन आ जाता है तब नारक, तिर्यंच, नपुंसक वेद व स्त्रीवेद का बंध नहीं होता है। मिथ्यात्वी के कर्म

निर्जरा आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी स्वीकार की है किन्तु संवर उसके नहीं होता है ।[१] यद्यपि दर्शन से भ्रष्ट अनगार से सम्यक्त्व सहित गृहस्थ को उत्कृष्ट बतलाया गया है ।[२] बाल तपस्वी अर्थात् आत्मस्वरूप को न जानकर अज्ञान पूर्वक काय-क्लेश आदि तप करने वाला—मिथ्यादृष्टि जीव देवगति के आयुष्य को बांधता है ।[३]

अस्तु आप्त-वाणी अन्यथा हो नहीं सकती । यद्यपि दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यात्वी अर्हन्त का अवर्णवाद बोलता है । कहा है—

तत्र यदर्हदवर्णवादहेतुलिंगं अर्हदादिश्रद्धानविघातकं दर्शनपरीषह-कारणं तन्मिथ्यादर्शनं ।

—अणुओगद्दाराइं सुत्त पर हारिभद्रीय टीका पृ० ६३

अर्थात् दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से मिथ्यात्वी अर्हत प्रणीत तत्त्वों के प्रति अश्रद्धान करता है तथा उनका अवर्णवाद बोलता है । क्षयोपशम भाव के भेदों में मिथ्यादृष्टि का भी उल्लेख है जिससे मिथ्यात्वी तत्त्वों के प्रति श्रद्धान करता है ।

जिस प्रकार नगर में प्रविष्ट होने पर भी मार्ग भ्रष्ट मूढ मनुष्य भटकता है उसी तरह धर्म से रहित जीव भी संसार में भटकता रहता है ।[४] पूर्व जन्म में पाप करके नरकों में गये हुए नारकी लोग अग्नि की ज्वाला से व्याकुल होकर घोर दुःख का अनुभव करते हैं तथा पाप कर्म के कारण ही तिर्यंच जाति के जीव वध, बंधन, छेद, मारण, ताड़न तथा तिरस्कार आदि अनेक विध कष्टों का अनुभव करते हैं ।[५] करवत, यंत्र ( कोल्हू आदि ), शाल्मलि ( सेमल का वृक्ष ) के तलवार

(१) रत्नकरण्डक श्रावकाचार परि० १ । ३२ —टीका

(२) गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥
—रत्नकर० परि १ । ३३

(३) कर्मविपाक—प्रथम कर्म ग्रन्थ गा० ५७

(४) जह नयरम्मि पविट्ठो, मूढो परिभमइ मग्गनासम्मि ।
तह धम्म विरहिओ, हिण्डइ जीवो वि संसारे ॥
—पउमचरियं ६ । १३०

(५) पउमचरियं ६ । १२७ से १२९

जैसे पत्तों के गिरने से तथा कुंभिपाक ( घड़े के आकार जैसे पात्र में पकना ) आदि से जीव बड़ा भारी दुःख पाते है। राग किंवा द्वेष वश जो पुरुष अपनी हत्या करते हैं वे पाप से विमोहित बुद्धि वाले संसार रूपी अरण्य में भटका करते है।[1] अतः मिथ्यात्वी आत्म हत्या न करे।

विश्वावसु का शिखी नामक पुत्र सुकृति के कारण चमरकुमार का भवनाधिपति देव हुआ।[2] अतः मिथ्यात्वी की भी सुकृति निष्फल नहीं जाती।

ध्यान दीपिका में उपाध्याय सकलचंद्रजी ने कहा है—

जीवो ह्यनादिमलिनो मोहांधोऽयं च हेतुना येन।
शुध्यति तत्तस्य हित तच्च तपस्तच्च विज्ञानम्॥

—ध्यान दीपिका १। ४

अर्थात् अनादि काल मलिन और मोहांध इस जीव की तप और विज्ञान से शुद्धि होती है। ये वस्तुएँ आत्मा के हित की साधन हैं। देखा जाता है कि गर्भ में स्थित जीव भी मर जाते है यह मिथ्यात्व से कृत कर्मों का फल है। मिथ्यात्वी माया-कपट से अनंत काल संसार-भ्रमण कर सकता है—माया से दूर रहे। श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय ने कहा है—

नग्न मास उपवासीया सुणो संताजी,
शील लीये कृश अन्न गुणवंता जी;
गर्भ अनंता पामशे सुणो संताजी,
जे छे माया मन्न, गुणवंता जी।

अर्थात् मिथ्यात्वी मास क्षमण की तपस्या करे, फिर भी मायादि से अनंत गर्भ के दुःखों को प्राप्त हो सकता है। वैराग्य भावना से कठिन कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।[3] मन को वश में करने से ध्यान में सफलता मिलती है अतः मिथ्यात्वी मन को एकाग्रचित्त करे। आप्त पुरुषों के द्वारा प्ररुपित धर्म का अनुसरण कर अनंत मिथ्यात्वियों ने संसार रूपी समुद्र को पार किया है।

---

(१) पउमचरियं १२। २८

(२) पउमचरियं १२। ३२,३३

(३) ध्यान विचार पृष्ठ ५२

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक उल्लेख है कि अमावस्या की रात्रि में सोमा देवता की पूजा के लिए कृकलास ( गिरगिट ) की भी हिंसा न करे।[1] अतः मिथ्यात्वी भावनाओं के द्वारा चारित्रांशका उद्योतन करता है तथा तप का भी। मिथ्यात्वी विशुद्ध लेश्या से प्रथम सम्यग्दर्शन परिणाम से परिणत होता है। तदनन्तर उत्तर काल में उसमें चारित्र परिणाम उत्पन्न होता है। शिवकोटि आचार्य ने मूलाराधना में कहा है—

दुविहा पुणजिणवयणे भणिया आराहणा समासेण।
सम्मत्तम्मि य पढमा विदिया य हवेचरित्तम्मि॥

—मूलाराधना अ १। गा ३

अर्थात् जिनागम में संक्षेपतः आराधना के दो भेद हैं—यथा—(१) सम्यक्त्व आराधना और चारित्र आराधना। कहा है कि मिथ्यात्वी के शुभ परिणाम आदि से श्रद्धान और विरति परिणामों की युगपत्काल में भी—उत्पत्ति होती है। जिसने माया का त्याग किया है वही तप की सम्यग् प्रकार से आराधना करने का अधिकारी है। अतः मिथ्यात्वी माया से दूर रहने की प्रचेष्टा करे। स्वाध्याय और श्रुत भावना में जो मिथ्यात्वी अपने चित्त को लगाता है वह चारित्रांशकी आराधना करता है। श्रुत भावना से आत्मा के ज्ञान, दर्शन, तप और संयम में परिपक्वता आती है। जो मिथ्यात्वी तप की आराधना में तत्पर रहते हैं, मोक्षाभिलाषा से तप करते हैं वे शीघ्र ही चारित्र धर्म को प्राप्त कर सकेंगे। भगवती आराधना में तप को चारित्र का परिकर कहा है।[2] कपट का त्याग करके जो तप किया जाता है उसका फल अत्यधिक है।

किसी प्रकार की बाधा जिसमें नहीं है ऐसा मोक्ष का सुख प्राप्त कर लेना यह आत्मा का इष्ट प्रयोजन है उसकी सिद्धि का उपाय-ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की आराधना ही है। मूलाराधना के टीकाकार श्री अपराजित सूरि ने कहा है—

"मोहो द्विविधो दर्शनमोहश्चारित्रमोहश्च। तत्र दर्शनमोहजन्यं

---

(१) बृहदारण्यक—एतां रात्रिं 'प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या, एवं देवताया अपचित्यै—१।५।१४

(२) भगवती आराधना, आश्वास १। १०—टीका

अश्रद्धानं शंकाकांक्षाविचिकित्सा अन्यदृष्टि प्रशंसासंतस्व रूपं। चारित्रमोहजन्यौ रागद्वेषौ।

—मूलाराधना १ । ११—विजयोदया टीका

अर्थात् दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय—इस प्रकार मोह कर्म के दो भेद हैं। उसमें दर्शन मोह के उदय से जीवादि तत्वों पर अश्रद्धान उत्पन्न होता है। इसके शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टि संस्तव—ऐसे उत्तर भेद हैं। चारित्र मोह से राग-द्वेष होते हैं। यद्यपि मिथ्यात्वी के उपरोक्त दोनों का आंशिक मात्रा में क्षयोपशम रहता ही है फिर भी वह शुभ अध्यवसाय आदि से और अधिक विशुद्धि मे पनपे—इसी मे उसका क्रमशः आध्यात्मिक विकास है।

जितनी पापयुक्त क्रियायें हैं वे सब दु.ख उत्पन्न करती हैं इसका जब आत्मा को ज्ञान हो जाता है व श्रद्धान हो जाता है तब आत्मा दुःखकारी क्रियाओं से छूटने का प्रयास करता है। कर्म की गति बड़ी विचित्र है कि जो अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुए हैं, जिसका चारित्र दृढ़ है ऐसा मुनि भी परीषह के भय से यदि संक्लेश परिणाम भी होगा तो उसको दीर्घकाल तक संसार भ्रम रहेगा। शिवकोटि आचार्य ने कहा है—

समिदीसु य गुत्तीसु य दंसणणाणे यणिरदि चाराणं।
आसादणबहुलाणं उक्कस्सं अंतरं होई।

—मूलाराधना १ । १६

आशा टीका— × × × आसादण बहुलाणं मरणकाले परीषह-पराभवात्सम्यित्वादिषु पुनः संक्लेशं कुर्वता। उक्कसं अंतरं अर्द्ध-पुद्गलपरिवर्तनकालमात्रमंतरालं। मरणे रत्नत्रयाकच्युताः पुनस्तावति काले अतिक्रांते तल्लभते इतिभावः॥

अर्थात् एक सयमी—साधु आत्म हितकारक आचरणों मे जो संक्लेश परिणाम रखते हैं तो उन्हें दीर्घ काल तक संसार भ्रम रहेगा, मरण के समय यदि परीषहों से उद्विग्न हो जाते हैं व रत्नत्रय से च्युत हो जाते हैं तो वे उत्कृष्ट अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल तक संसार में परिभ्रमण करेंगे। मिथ्यात्वी इस पाठ से सबक ले कि वह जागरूक रहे—सद् अनुष्ठानिक क्रियायें दत्तचित्त होकर करें। मरण के

समय में आराधना की विराधना करने से उत्कृष्टतः अनन्त संसार की प्राप्ति होती है। आगम—साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि मिथ्यात्वी देश आराधना के द्वारा भी एक अथवा दो—अथवा तीन या इससे अधिक भवकर के मोक्ष प्राप्त किया है, करेंगे। शिवकोटि आचार्य ने कहा है —

दिट्ठा अणादिमिच्छादिट्ठी जह्मा खणेण सिद्धा य।
आराहया चरित्तस्स तेण आराहणा सारो।

—भगवती आराधना १।१७

आशा टीका—अणाइमिच्छाइट्ठी अनादिकालं मिथ्यात्वोदयोद्रेकान्नित्यनिगोदपर्यायमनुभूय भरतचक्रिण पुत्रा भूत्वा भद्रविवर्द्धनादयस्त्रयोविंशत्यधिकनवशतसंख्याः पुरुदेवपादमूले श्रुतधर्मसाराःसमारोपितरत्नत्रयाः खणेण अल्पकाले नैव सिद्धा य सिद्धाः संप्राप्तानंतज्ञानादिस्वभावाश्चशब्दान्निरस्तद्रव्यभावकर्मसंहतयश्च। चरित्तस्स रत्नत्रयस्य तेण तेन कारणेन आराहणा आयुरन्ते रत्नत्रयपरिणति। सारो सर्वाचरणानां परमाचरणम्।

अर्थात् चारित्र की आराधना करने वाले अनादि मिथ्यादृष्टि जीव भी अल्प-काल में सपूर्ण कर्मों का नाशकरके मुक्त हो गये हैं —ऐसा देखा गया है अतः जीवों को आराधना का अपूर्व फल मिलता है।

अनादि काल से मिथ्यात्व का तीव्र उदय होने से अनादि काल पर्यंत जिन्होंने नित्य निगोद पर्याय का अनुभव किया था ऐसे ९२३ जीव निगोद पर्याय छोड़कर भरत चक्रवर्ती के भद्रविवर्धनादि नाम धारक पुत्र उत्पन्न हुए थे। उनको आदिनाथ भगवान के समवसरण में द्वादशांग वाणी का सार सुनने से वैराग्य हो गया। वे राज पुत्र इस ही भव में त्रसपर्याय को प्राप्त हुए थे। इन्होंने जिन दीक्षा लेकर रत्नत्रयाराधना से अल्पकाल में ही मोक्ष लाभ किया। अर्थात् मरण समय में इन्होंने रत्नत्रय की विराधना नहीं की अतः उनको आराधना का उत्कृष्ट फल—मोक्ष प्राप्त हुआ। ऐसे अनादि मिथ्यादृष्टियों का भी रत्नत्रय से सर्व कर्म नष्ट होता है व अनंत-ज्ञानादि रूप सिद्धत्व प्राप्त होता है।

जिसने दीक्षादिकाल में सम्यग्दर्शनादिकों की अच्छी भावना युक्त अभ्यास किया है उस को मरण समय में बिना क्लेश के रत्नत्रयाराधना सिद्ध होगी।[1] विष्णुपुराण में कहा है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

—विष्णुपुराण १-२०-११

अर्थात् अज्ञानी (मिथ्यात्वी) जनों की जैसी गाढ प्रीति इन्द्रियों के भोग के नाशवान् पदार्थों पर रहती है, उसी प्रकार की प्रीति भगवान् में हो और तेरा स्मरण करते हुए मेरे हृदय से वह कभी दूर न होवे। मनशुद्धि से परमात्मा का सतत और निरंतर स्मरण होता है।[2] मिथ्यात्वी के इन्द्रिय-विषय-भोग की मात्रा जितनी कम हो, उतना ही उसका जीवन उच्चतर होता है।

मिथ्यात्वी को इस पाठ से शिक्षा लेनी चाहिए कि वह अधिक से अधिक अहिंसक बने। योग का दूसरा नाम अध्यात्म मार्ग या आध्यात्म विद्या है। योग कल्पतरु के समान श्रेष्ठ है।[3] उस अध्यात्म विद्या का मिथ्यात्वी अनुसरण करे।[4] उस योग का मिथ्यात्वी अवलंबन ले। अप्रशस्त योग पाप बंध का और प्रशस्त योग पुण्य बंध का कारण है।[5] कठोपनिषद् में कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य—
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।

—कठोपनिषद्-१-३-११

---

(१) भगवती आराधना १। १९—आशा टीका

(२) प्रेमयोग पृष्ठ १, ६

(३) योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः
योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धे स्वयं ग्रहः ॥३७॥
—योगबिंदु

(४) अध्यात्म विद्या विद्यानाम्—भगवद् गीता १०। ३२

(५) अष्टांग योग पृष्ठ ७

अर्थात् तुम भले ही संसार की सारी पुस्तकें पढ़ जाओ, पर प्रेम वाक्शक्ति द्वारा प्राप्य नहीं है, न तीव्र बुद्धि से और न शास्त्रों के अभ्यास से ही। जिसे ईश्वर की चाह है, उसी को प्रेम की प्राप्ति होगी। आध्यात्मिक जीवन से मिथ्यात्वी पवित्र बनते हैं। आचार्य भिक्षु ने कहा है—

पोथी पढ़ पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
अढाई अक्षर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥

मिथ्यात्वी समता रूप प्रेम की बातें सीखें। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य की स्तवना करे। धर्म आत्मा से होता है। वह सचमुच मूर्ख है जो गंगा के किनारे रहकर पानी के लिये कुआँ खोदता है। कहा है—

उषित्वा जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मत।

स्वामी विवेकानंद ने कर्म योग मे कहा है—"केवल वही व्यक्ति सबकी अपेक्षा उत्तम रूप से कार्य करता है जो पूर्णतया निःस्वार्थ है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता सब अन्दर ही है।"[1] सत्ता की दृष्टि से मिथ्यात्वी या सम्यक्त्वी—सब एक समान है। मिथ्यात्वी का कर्तव्य है कि वह अपना आदर्श लेकर उसे अपने जीवन में ढालने का प्रयत्न करे। झूठ बोलकर, दूसरों को धोखा देकर तथा चोरी करके आजीविकोपार्जन करे। अधिक से अधिक इन सावद्य कार्यों से बचने का प्रयास करे। जो मिथ्यात्वी किसी दूसरी स्त्री का कलुषित मन से चिंतन करता है, वह घोर नरक में जाता है।[2] मिथ्यात्वी को अत्यन्त निद्रा, आलस्य, देह की सेवा, केशविन्यास तथा भोजन-वस्त्र आसक्ति का यथाशक्ति त्याग करना चाहिये। उसे आहार, निद्रा, भाषण, मैथुन इत्यादि सब बातें परिमित रूप से करनी चाहिये। मिथ्यात्वी को चाहिये कि वह अपना बल, पौरुष, दूसरों की बताई हुई गुप्त बात तथा दूसरों के प्रति उसने जो कुछ उपकार किया है, इन सब का वर्णन सर्व साधारण के सम्मुख न करे।

मिथ्यात्वी को चाहिये कि वह यत्नपूर्वक विद्या, यश और धर्म का उपार्जन करे तथा व्यसन (द्यूत—क्रीड़ादि) कुसंग, मिथ्या भाषण एवं परद्रोह का

(१) कर्मयोग पृष्ठ १। २

(२) कर्मयोग पृष्ठ २६

परित्याग करे। सबसे पहले ज्ञानलाभ के लिए चेष्टा करनी चाहिए। उसे सत्य, मृदु, प्रिय तथा हितकर वचन बोलने चाहिये। वह अपने उत्कर्ष की चर्चा न करे और दूसरों की निंदा करना छोड़ दे। भक्तिसूत्र में नारद जी ने कहा है —

सा तु अस्मिन् परम प्रेम रूपा

—नारद भक्तिसूत्र, प्रथम अनुवाद, द्वितीय सूत्र

अर्थात् भगवान् के प्रति उत्कृष्ट प्रेम ही भक्ति है। मिथ्यात्वी भगवान्-राग द्वेष रहित पुरुष का भजन करे। भक्ति कर्म से श्रेष्ठ है और योग से भी उच्च है। निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज को भक्तियोग कहते हैं।[1] भगवान् में विशिष्ट गुण होते हैं जिन गुणों का स्मरण भक्ति ऋषि मुनि करते है।[2] कहा है —

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः,
स्वयं धीराः पंडितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा,
अंधे नैव नीयमाना यथान्धाः॥

—मुण्डकोपनिषद्, १।२।८

अर्थात् अज्ञान से घिरे हुए, अत्यन्त निर्बुद्धि होने पर भी अपने को महान् समझने वाले मूढ़ व्यक्ति, अंधे के नेतृत्व में चलने वालों अंधों के समान चारों ओर ठोकरें खाते हुए भटकते फिरते हैं।

"पर्वत उपदेश देते हैं, कलकल बहने वाले झरने विद्या बिखरते जाते हैं[3] और सर्वत्र शुभ ही शुभ है"—ये सब बातें कवित्व की दृष्टि से भले ही बड़ी सुन्दर हों पर जब तक स्वयं मनुष्य मे सत्य का बीज अपरिस्फुट भाव में भी नहीं है, तब तक दुनिया की कोई भी चीज उसे सत्य का एक कण तक नही दे

(१) भक्तियोग पृ० १

(२) श्रीमद् भागवत पुराण १।७।१०

(३) And this our life Exempt from public haunt finds tongues in tree, Books in the runnig brooks, surmons in stones and goodsin evreything.

—Shekespeares' As you live it' Act i, Sc.

सकती।[1]—मिथ्यात्वी को आसक्ति, द्वेष और मोह से दूर हटकर विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। मिथ्यात्वी अंतःकरण को पवित्र करे। छान्दोग्य उपनिषद् शांकर भाष्य में कहा है कि सत्व शुद्धि हो जाने से अनंत पुरुष के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान और अविच्छिन्न स्मृति की प्राप्ति हो जाती है।[2] मिथ्यात्वी अभ्यास और वैराग्य से सफलता को प्राप्त हो सकता है। विष्णुपुराण में कहा है—

तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा।
तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्या गोपकन्यका॥

—विष्णुपुराण, ५।१३।२१-२२

अर्थात् जिस प्रकार भाग्यशालिनी गोपी पाप और पुण्य के बंधनों से मुक्त हो गयी थी। भगवान् के ध्यान से उत्पन्न तीव्र आनंद ने उसके समस्त पुण्य कर्म जनित बंधनों को काट दिया। फिर भगवान् की प्राप्ति न होने की परम आकुलता से उसके समस्त पाप धुल गये और वह मुक्त हो गयी।

वैदिक दर्शन में भी भक्ति की विवेचना में पहला स्थान 'श्रद्धा' कहा है।[3] एक बर्तन से दूसरे बर्तन में तेल डालने पर जिस प्रकार एक अविच्छिन्न धारा में गिरती है, उसी प्रकार अभ्यास से मिथ्यात्वी का मन जब शुभ ध्यान में केंद्रित हो जाता है तो वह कर्मों के बंधनों को शीघ्र ही तोड़ डालता है—फलतः उसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाती है।

हिंसा को सुख का कारण समझना—विपरीत मिथ्यात्व है। मरण के सतरह प्रकार में से एक मरण-बाल मरण भी है।[4] बाल मरण के पाँच भेद हैं। अज्ञानी जीवों के मरण को बाल मरण कहते हैं—

(१) भक्तियोग पृ० ३७
(२) सत्त्व शुद्धौ च सत्यां यथावगते भूमात्मनि ध्रुवा अविच्छिन्ना स्मृतिः अविस्मरणं भवति।
—छान्दोग्य उपनिषद् शांकरभाष्य ७।२६।२
(३) शांडिल्य सूत्र २।१।४४
(४) भगवती आराधना १।२५—अपराजितसूरि—टीका

(१) अव्यक्त बाल, (२) व्यवहार बाल, (३) दर्शनबाल, (४) ज्ञान बाल और (५) चारित्र बाल।

तत्त्वार्थ श्रद्धान जिन को नहीं है—ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव-दर्शन बाल हैं।[1] दर्शन बाल के संक्षेपतः दो भेद हैं, यथा—इच्छा प्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त। कहा है—

इच्छया प्रवृत्तमनिच्छयेति च। तयोराद्यमग्निना, धूमेन शस्त्रेण, विषेण, उदकेन, मरुत्प्रपातेन उच्छ्वासनिरोधेन, अतिशीतोष्णपातेन, रज्ज्वा, क्षुधा, तृषा जिह्वोत्पाटनेन, विरुद्धाहारसेवनया बाला मृतिं ढौकन्ते, कुतश्चिन्निमित्ताज्जीवितपरित्यागैषिणः काले अकाले वा अध्यवसानादिना यन्मरणं जिजीविषोः तद् द्वितीयं। एतैर्बालमरणै-र्दुर्गतिगामिनो म्रियन्ते। विषयव्यासक्तबुद्धयः अज्ञानपटलावगुंठिताः ऋद्धिरससातगुरुकाः। बहुतीव्रपापकर्मास्रवद्वाराण्येतानि बाल-मरणानि जातिजरामरणव्यसनापादनक्षमाणि।

—मूलाराधना १। २५—टीका

अर्थात् अग्नि से, धूम से, शस्त्र से, विष से, पानी से, पर्वत पर से कूदने से श्वासोच्छ्वास रोकने से, अति शीतोष्ण के पड़ने से, भूख और प्यास से, जिह्वा को उखाड़ने से, प्रकृति के विरुद्ध—आहार का सेवन करने से आदि कारणों से जीवन का त्याग करने की इच्छा से जो मिथ्यात्वी प्राण त्याग करते हैं वे इच्छा प्रवृत्त मरण करने वाले बाल हैं—योग्यकाल में अथवा अकाल में ही मरने का अभिप्राय धारण न करते हुए भी दर्शन बालों का जो मरण होता है वह अनिच्छा प्रवृत मरण है। जीने की इच्छा होते हुए भी जो मरण होता है वह अनिच्छा-प्रवृत मरण है।

जो दुर्गति को जाने वाले हैं, जिनका चित्त विषयों में आसक्त है, जिनके हृदय में अज्ञानांधकार आच्छादित हैं, जो ऋद्धि में आसक्त है, रसों में आसक्त हैं, जो सुख का अभिमान रखते हैं, अर्थात् मैं बड़ा सुखी हूं, मेरे को अच्छे-अच्छे पदार्थ

---

(१) मिथ्यादृष्टयः सर्वथा तत्त्वश्रद्धानरहिताःदर्शनबालाः।

—भगवती आराधना १। २५। टीका

खाने को मिलते हैं, और मैं बड़ा भोगेश था—इत्यादि तीन शल्यों से युक्त हैं ऐसे जीव बाल मरण से मरते हैं। इन बाल मरणों से बहुत तीव्र पाप कर्मों का आस्रव होता है। ये बाल मरण जरा, मरण आदि संकटों में जीवों को फेंकते हैं।

उपर्युक्त वर्णन बाल मरण के रहस्य को मिथ्यात्वी सद्गुरु के पास समझे तथा समझकर उससे बचने का प्रयास करे। कहा जाता है कि मिथ्यात्वी धर्मानुष्ठानिक क्रियाओं में तत्पर रहता है वह यदि तेजो, पद्म, शुक्ललेश्या में मरण को प्राप्त होता है तो वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है। सुकृति की महिमा अद्भुत है। दुर्गति में पड़ते हुए मिथ्यात्वी को सद्गति में ले जाती है।

रत्नत्रयमार्ग में दूषण लगाना, मार्ग का नाश करना, मिथ्या मार्ग का निरूपण करना, रत्नत्रयमार्ग में चलने वाले लोगों का बुद्धि भेद करना—ये सब मिथ्यादर्शन शल्य के प्रकार हैं।[1]

क्रोधांध होकर अपने शत्रु को मैं उत्तर भव में मार सकूं—ऐसी इच्छा रखना—जैसे वशिष्ठ मुनि ने उग्रसेन राजा का नाश करने की इच्छा की थी। वह वशिष्ठ मुनि मरकर कंस हुआ था। उसने अपने पिता का राज्य छीन लिया था और उसको कारागृह में कैद किया था[2]—इस निदान शल्य से मिथ्यात्वी बचने का प्रयास करे। आराधना आराधक के बिना नहीं होती, आराधक आराधना का स्वामी है। जीव के बिना आराधना नहीं होती है।

कहीं-कहीं ग्रन्थों में चतुर्थ गुणस्थान में मरण प्राप्त होने वालों के लिए भी बाल मरण का व्यवहार किया है वह अविरति की अपेक्षा से है।[3] किसी अपेक्षा

(१) मार्गस्य दूषणं, मार्गनाशनं, उन्मार्गप्ररूपणं, मार्गाप्ररूपणं, मार्गस्थानां भेदकरणं मिथ्यादर्शनशल्यानि।

—मूलाराधना-१। २५ टीका—

(२) क्रोधाविष्टस्य स्वशत्रुवधप्रार्थना वशिष्ठस्येवोग्रसेनोन्मूलने।

—मूलाराधना १। २५ टीका

(३) अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि।

—मूलाराधना १। ३०

से वस्तु का प्रतिपादन किया जा रहा है—इस पर गहराई से सोचना चाहिये। न समझ में आये तो सद्गुरुओं से पूछना चाहिये।

जिस प्रकार सारे क्लेशों का मूल अविद्या है, उसी प्रकार सारे यमों का मूल अहिंसा है। जो अपने अन्तःकरण को हिंसा के क्लिष्ट संस्कारों के मल से दूषित करता है वे घोर हिंसक हैं। ईशोपनिषद् में कहा है—

असूर्यानाम ते लोका अंधेन तमसाऽऽवृत्ताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

—ईशोपनिषद् मं० ३

अर्थात् जो कोई आत्मघाती लोग हैं। अर्थात् अंतकरण को मलिन करने वाले हैं; वे मरकर उन लोकों में ( योनियों में ) जाते हैं जो असुरों के लोक कहलाते हैं और घने अन्धकार से ढके हुए हैं अर्थात् ज्ञान रहित असद् अनुष्ठान से नीच योनियों में जाते हैं। मिथ्यात्वी ऐसी सत्य भाषा बोले—जिसमें प्राणियों का हित हो। सत्य बोलना अच्छा है, परन्तु सत्य भी ऐसा बोलना अच्छा है जिससे सब प्राणियों का ( वास्तविक ) हित हो, क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त ( वास्तविक ) हित होता है—वह सत्य है।[१] अंग्रेजी में कहावत है—

Every Bit of hatred that goes out of the heart of man comes back to him in full force, nothing can stop it and every Impulse of life comes back to him.

अर्थात् घृणा का प्रत्येक विचार जो मनुष्य के अन्दर से बाहर आता है वह वापस अपने पूरे बल के साथ उसी के पास आ जाता है; और ऐसा करने में उसको कोई वस्तु रोक नहीं सकती। इसी प्रकार कोई मनुष्य अनुमान नहीं कर सकता कि अज्ञानता से विचारे हुए घृणा, प्रतीकार और कामी तथा अन्य घातक विचारों को भेजने से कितने नष्ट होंगे और कितनों को हानि होगी। इसलिये विचार शक्ति के महत्व को समझो और उसको सर्वदा पवित्र और निर्मल रखने का प्रयत्न करो।

---

(१) सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम।

—महाभारत, शान्तिपर्व

अपराजित सूरि ने कहा है—

दुर्गतिप्रस्थित जीवधारणात्, शुभे स्थाने वा दधाति इति धर्मशब्देनोच्यते।

—भगवती आराधना १। ४६ टीका

अर्थात् दुर्गति को जाने वाले जीव को जो धारण करता है अर्थात् उसका उद्धार करता है और शुद्ध इन्द्रादि पदवी पर जो स्थापन करता है वह धर्म है। उस धर्म की आराधना मिथ्यात्वी देश रूप में करने के अधिकारी माने गये हैं।

मिथ्यात्वी-मिथ्यात्व को छोड़कर जब सम्यक्त्वी हो जाता है। असंयत सम्यग्दृष्टि भी विशुद्ध और तीव्र लेश्या का धारक होने से अल्प संसारी होता है। जिसके तीन शुभलेश्या के तीव्र निर्मल परिणाम है वह सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग् दर्शन की आराधना से चतुर्गति में थोड़ा भ्रमण करके मुक्त होता है। अल्प संसार रहजाना वह सम्यग् दर्शनाराधना का फल है।[1] अतः मिथ्यात्वी सद्गुरु के निकट बैठ कर वैयावृत्य करे, तत्त्वार्थ को समझे।

यदि मिथ्यात्वी शुभ लेश्यादि से सम्यक्त्व को प्राप्त करलेता है। फिर वह सम्यक्त्वमें मरण प्राप्त हो जाता है तो वह जघन्यतः एक भव करके उत्कृष्टतः संख्यात-असंख्यात भव प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करेगा ही।[2] जघन्यरूप से सम्यक्त्वाराधना करने वाले के संख्यात या असंख्यात भव कहे गये हैं परन्तु अनन्त नहीं। अमितगति आचार्य ने कहा है—

मुहूर्त्तमपि ये लब्ध्वा जीवा मुञ्चन्ति दर्शनम्।
नानन्तानन्तसंख्याता तेषामद्धा भवस्थितिः॥

—भगवती आराधना १। श्लोक ५७

अर्थात् जो जीव सम्यग्दर्शन के मुहूर्त काल पर्यन्त भी प्राप्त करके अनंतर छोड़ देते हैं वे भी इस संसार में अनंतानंत काल पर्यन्त नहीं रहते हैं अर्थात्

---

(१) अल्प संसारता सम्यक्त्वाराधनायाः फलत्वेन दर्शिता।

—भगवती आराधना १।४८। टीका

(२) भगवती आराधना १।५१-५२। टीका

उन सम्यक्त्व से पतित मिथ्यात्वियों को अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल तक ही परिभ्रमण करना पड़ता है। इससे अधिक काल तक वे परिभ्रमण नहीं करते हैं। आचार्य शिवकोटी ने कहा है—

जस्स पुण मिच्छदिट्ठिस्स णत्थि सीलं वदं गुणोचावि।
सो मरणे अप्पाणं कह ण कुणइ दीहसंसारं॥

—भगवती आराधना १।६१

अर्थात् जो मिथ्यादृष्टि शील व्रत और गुणों से रहित है वह मरण के अनन्तर दीर्घ संसारी क्यों न होगा? अवश्य होगा। जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित एक अक्षर पर भी जो मनुष्य श्रद्धान नहीं करता है वह कुयोनियों में चिरकाल भ्रमण करेगा[1] मूलाराधना के टीकाकार आचार्य अपराजित ने कहा है—

वस्तुयाथात्म्यावहिश्चेतस्तथा योगः संबंधो ध्यानयोग इति यावत्। वस्तुयाथात्म्यावबोधो निश्चलो य स ध्यानमिष्यते।

—मूलाराधना २।७१। टीका

अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने में चित्त की एकाग्रता होना योग अथवा ध्यान है। जब वस्तु के यथार्थ ज्ञान से निश्चितता प्राप्त होती है तब उससे ध्यान संज्ञा प्राप्त होती है। अस्तु मिथ्यात्वी ध्यान योग का अभ्यास करे। यद्यपि समता रहित केवल तप विपुल निर्जरा का कारण नहीं होता है अतः तपश्चरण में निर्जरा हेतुता (सकाम निर्जरा) स्वयं नहीं है किन्तु वह समता का साहाय्य पाकर होती है।[2] स्वस्वरूप की अपेक्षा से जो वस्तु है वही पर स्वरूप की अपेक्षा से अवस्तु होती है। पूर्व कर्म की निर्जरा करने की इच्छा मिथ्यात्वी को हरदम रखनी चाहिए।

---

(१) अरोचित्वाजिनाख्यातं एकमप्यक्षरं मृतः।
निमज्जतिभवाम्भोधौ स सर्वस्यारोचक न किम्।

—भगवती आराधना १।६१। श्लोक

(२) न हि समता शून्यात्तपसो विपुला निर्जरा भवति ततस्तपसो निर्जराहेतुना परवशेतिप्रधान समता।

—भगवती आराधना २।७१। टीका

मिथ्यात्वादि जो पाँच बंध हेतु हैं उनमें से पूर्व हेतु विद्यमान होनेपर उत्तर हेतु विद्यमान रहते हैं किन्तु उत्तर हेतु हों तो पूर्व हेतु हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं—इसकी भजना समझनी चाहिए।[1] यथा—प्रथम गुणस्थान मे मिथ्यात्वदि पाँच बंध हेतु हैं किन्तु चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्व को बाद चार बंध हेतु हैं।

सत्ता की दृष्टि से आत्मा की शक्ति समान है। मुनि श्री नथमलजी ने कहा है।

"अव्यवहार राशि"[2] की आत्मा में जो शक्ति है वही व्यवहार राशि की आत्मा में है। दोनों में शक्ति का कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल अभिव्यक्ति का है। व्यवहार राशि की आत्माओं में चेतना की केवल एक रश्मि प्रकट होती है। वह है स्पर्श बोध ×××।

—सत्य की खोज पृ० ७६

अस्तु अव्यवहार राशि के जीव नियमतः मिथ्यादृष्टि होते हैं।

मिथ्यात्व कर्म के उदय से सर्वत्र संशय रूप ही तत्त्वों मे अरुचि पैदा होती है, इस अरुचि को संशय ज्ञान का सहाय्य मिलता है। अतः इसको संशय मिथ्यात्व कहते हैं। आगम कथित जीवादिक पदार्थों में ज्ञानावरण कर्म के उदय से और सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो यह वस्तु स्वरूप है या यह है ऐसी जो चंचल मति होती है उसको शंका अतिचार कहते हैं; वह अतिचार सम्यग्दर्शन को मलिन बनाता है। इसलिए यह अतिचार है। डोरी, साँप, पुरुष, ठूंठ आदि मे जो संशय होता है वह अतिचार माना जायेगा तो सम्यग्दर्शन का निःशंकितांग ही दुर्लभ हो जायगा। अर्थात् सम्यग्दर्शन छद्मस्थों को भी डोरी, सर्प, ठूंट, मनुष्य इत्यादि पदार्थों मे यह रज्जु है? या सर्प है? यह ठूंठ है या मनुष्य है इत्यादि अनेक प्रकार का संशय उत्पन्न होता है तो भी वे

---

(१) आर्हत दर्शन दीपिका, चतुर्थ उल्लास, बंध अधिकार पृ० ९७५

(२) अनादि निगोद-नित्य निगोद को अव्यवहार राशि कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि ही है। जिनेश्वर ने वस्तु स्वरूप जाना है, वह वैसा ही है[1] ऐसी मैं श्रद्धा रखता हूँ ऐसी भावना करने वाले भव्य के सम्यक्त्व की हानि कैसी होगी अर्थात् शंका नाम के अतिचार से उसका सम्यग्दर्शन समल होगा परन्तु नष्ट न होगा।

बुरे कर्मों के अनुष्ठान से संपत्ति का नाश अवश्यम्भावी है। नशा का सेवन चौरस्ते की सैर, समाज ( नाच-गान ) का सेवन, जूआ खेलना, दुष्ट मित्रों की संगति तथा आलस्य में फसना—ये छओं सपत्ति के नाश के कारण हैं।[2] बुद्ध धर्म के तीन महनीय तत्व हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा, अष्टांगिक मार्ग के प्रतीक। शील से तात्पर्य सात्विक कार्यों से है। बुद्ध के दोनों प्रकार के शिष्य थे—गृहत्यागी प्रव्रजित भिक्षु तथा गृहसेवी गृहस्थ। कतिपय कर्म इन दोनों प्रकार के बुद्धानुयायियों के लिए समभावेन मान्य हैं। जैसे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और मद्य का निषेध—ये 'पंचशील' कहलाते हैं और इनका अनुष्ठान प्रत्येक बौद्ध के लिए विहित है। पातजल योग मे कहा है—

मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥३३॥

अर्थात् सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों के विषय मे यथाक्रम मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षा की भावना के अनुष्ठान से चित्त प्रसन्न और निर्मल होता है। प्राणीमात्र सद्भावना के अधिकारी हैं। धीर विद्वान्-पुरुष लोहे, लकड़ी तथा रस्सी के बंधन को दृढ़ बंधन नहीं मानते। वस्तुतः दृढ बंधन है—सारवान् पदार्थों मे रक्त होना या मणि, कुंडल, पुत्र तथा स्त्री मे इच्छा का होना।[3] मिथ्यात्वी इन बंधनों से छुटने का अभ्यास करे। मज्झिमनिकाय में कहा है "यही तृष्णा जगत के समस्त विद्रोह और विरोध की जननी है। ××× तृष्णा ही दुःख का कारण है, इसी का समुच्छेद करना प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है।"

---

(१) तमेव सच्चं निसक जं जिणे पवेइयं।

—आयारो

(२) दीर्घनिकाय, सिगोलोवाद सुत्त ३१ पृष्ठ २७१-२७३।

—पातंजल योग प्रदीप

(३) धम्मपद् गा ३४५

निर्वाण प्रत्येक प्राणी का गन्तव्य स्थान है। उस तक पहुँचाने वाले का मार्ग का नाम बौद्धदर्शन में अष्टाङ्गिक मार्ग है। आठ अंग ये हैं—

| | |
|---|---|
| (१) सम्यक्दृष्टि<br>(२) सम्यक् संकल्प<br>(३) सम्यक् वाचन | प्रज्ञा |
| (४) सम्यक् कर्मान्त<br>(५) सम्यक् आजीविका | शील |
| (६) सम्यक् व्यायाम<br>(७) सम्यक् स्मृति<br>(८) सम्यक् समाधि | समाधि |

धम्मपद में कहा है—

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानाञ्च चक्खुमा॥
एसो व मग्गो नत्थञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतहि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं॥

—धम्मपद २० । १-२

अर्थात् निर्वाणगामी मार्गों में अष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है। लोक में जितने सत्य हैं उन में आर्य सत्य श्रेष्ठ हैं। सब धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों में चक्षुष्मान ज्ञानी बुद्धश्रेष्ठ हैं। ज्ञान की विशुद्धि के लिये तथा मार को मुर्च्छित करने के लिये यही मार्ग (अष्टांगिक मार्ग) आश्रयणीय है। 'लक्खणसुत्त' में बुद्ध ने निम्न जीविकाओं को गर्हणीय बतलाया है—तराजू की ठगी, कंस (बटखरे) की ठगी, मान ( नाप की ) की ठगी, रिश्वत, वंचना, कृतघ्नता, साचियोग (कुटिलता), छेदन, वध, बंधन, डाका-लूट-पाट की आजीविका। मिथ्यात्वी इन सब आजीविकाओं से दूर रहे।

मिथ्यात्वी यदि पूर्णतया ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता है तो वह ब्रह्मचर्य के नाश करने वाले पदार्थों के भक्षण तथा कामोद्दीपक दृश्यों के देखने

और इस प्रकार की वार्त्ताओं के सुनने तथा ऐसे विचारों को मन में लाने से भी बचता रहे। कहा है—

"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत:॥

—अथर्ववेद अध्याय ३। सू० ५। मं० १९

अर्थात् ब्रह्मचर्य रूप तप से देवताओं ने काल को भी जीत लिया है। इन्द्र निश्चय से ब्रह्मचर्य द्वारा देवताओं में श्रेष्ठ बना है।

काम्य वस्तु के उपयोग में कभी वासना की निवृत्ति नहीं होती, वरन् घृताहुति के द्वारा अग्नि के समान वह तो और भी बढ़ जाती है। कहा जाता है कि सन् १८५७ ई० मे गदर के समय एक मुसलमान सिपाही ने एक संन्यासी महात्मा को बुरी तरह घायल कर दिया। हिन्दु विद्रोहियों ने उस मुसलमान को पकड़ लिया और उसे स्वामीजी के पास लाकर कहा—"आप कहें तो इसकी खाल खींच ले। स्वामीजी ने इसकी ओर देखकर कहा, भाई तुम्हीं वही हो, तुम्हीं वही हो—त्वमसि। और यह कहते कहते उन्होंने शरीर छोड़ दिया है।[1] यह भी एक प्रकार का साहस है। अहिंसा का यह एक ज्वलंत उदाहरण है।

अमृत्व प्राप्ति की इच्छा रखने वाले कोई कोई व्यक्ति विषयों से दृष्टि फेरकर अन्तरस्थ आत्मा को देखा करते हैं।[2] स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—"यदि उपयोगितावादियों के मत में सुख का अन्वेषण करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है तो जिन्हें आध्यात्मिक चिंतन मे सुख मिलता है, वे क्यों न आध्यात्मिक चिंतन मे सुख का अन्वेषण करे।[3]

लौकिक और लोकोत्तर के भेद से मिथ्यात्व के दो भेद होते हैं। हरिहर ब्रह्मादि को प्रणाम करना—लौकिक मिथ्यात्व है तथा परतीर्थिक संग्रहीत जिन

---

१—ज्ञानयोग पृ० ३१,६२

२—कठोपनिषद् २।१।८१

३—ज्ञानयोग पृ० २८३

बिम्बादि की अर्चना करना—लोकोत्तर मिथ्यात्व है।[1] मिथ्यादृष्टि को तत्त्व श्रद्धान से सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने से मिथ्यात्व का व्यवच्छेद हो जाता है।[2] भगवान महावीर के पास जमाली दीक्षित हुआ लेकिन विपरीत अभिनिवेश के कारण अपने जीवन को सम्यग् प्रकार से सुधार न सका। कहा है—

मइभेएण जमाली, पुव्विं वुग्गाहिएण गोविंदो,
संसग्गीए भिक्खू, गोट्ठामाहिलअहिणिवेसे।

—व्यवहार भाष्य

अर्थात् जमाली में मतिभेद-अभिनिवेश मिथ्यात्व परिणत हो गया था। भगवान के द्वारा प्ररूपित किसी सिद्धान्त में मतभेद हो जाने के कारण उसे जिन शासन छोड़ना पड़ा। भगवान महावीर के शासन में सात निह्नव हुए। उनमें से प्रथम निह्नववाद का प्रवर्तक जमाली था। यद्यपि उसने सद् अनुष्ठानिक क्रियाओं का पालन कर तीसरे किल्विषी में उत्पन्न हुआ लेकिन पूर्ण रूप से आराधक पद की प्राप्ति नहीं कर सका।

व्यवहार नय की एकान्त दृष्टि को लेकर जमाली भगवान् महावीर के मत को मिथ्या समझता है। उसका कहना है—"क्रियमाण कृत नहीं हो सकता" जब कि भगवान् ने क्रियमाण को कृत कहा है। तथापि जमाली शुक्ल पाक्षिक व परीत संसारी है। कहा है—

सम्यग्दृष्टिव्यतिरिक्तानां सर्वथा निर्जरा नास्त्येव? काचिदस्ति—वा इति? प्रश्ने, उत्तरम्—सम्यग्दृष्टिव्यतिरिक्तानां जीवानां सर्वथा-निर्जरा नास्त्येव इति वक्तुं न शक्यते।

"अणुकंपऽकामनिज्जर, बालतवे दाणविणयविब्भंगे।
संयोगविप्पओगे, वसूणसवइड्डिसक्कारे॥ १॥"

---

(१) मिथ्यात्वं च लौकिकलोकोत्तरभेदात् द्विधा।

—अभिधा० भाग ६। पृ०२७२

(२) सम्मद्दिट्ठीजीवो, उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहइ।
सद्दहइ असब्भावं, अणभोगा गुरुणिओगा वा।

—उत्त० निर्युक्ति

इति आवश्यकनिर्युक्तौ मिथ्यादृशां सम्यक्त्वप्राप्तिहेतुत्वेऽकाम-निर्जरायां उक्तत्वात् केषाञ्चिच्चरकपरिव्राजकादीनां स्वाभिलाषपूर्वकं ब्रह्मचर्यपालनादत्तादानपरिहारादिभिर्ब्रह्मलोकं यावद्गच्छतां सकाम-निर्जराया अपि संभवाच्चेति ॥१७॥

—अभिधा० भाग ६ । पृ० २७५

अर्थात् सम्यग्दृष्टि के अतिरिक्त निर्जरा नहीं होती है—यह कथन सम्यग् नहीं है । अकाम निर्जरा को भी आवश्यक निर्युक्ति में सम्यक्त्व प्राप्ति का कारण माना है । कोई-कोई चरक, परिव्राजक स्वाभिलाषा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, अदत्तादान को छोड़ते हैं आदि कारणों से ब्रह्मदेवलोक में उत्पन्न होते हैं । उनकी यह क्रिया-सकाम निर्जरा की हेतु है । आजीविक संप्रदाय को मानने वालों की गति बारहवें देवलोक तक कही गई है । उनके शिष्यों के चार प्रकार का तप कहा है—

(१) उग्रतप, (२) घोरतप, (३) रसपरित्याग और (४) जिह्वा-प्रतिसंली-नता ।[1] द्रव्यलिंगी-चारित्र को ग्रहण कर ग्रैवेयक तक जाते हैं ।[2] दयालुता, मधुर आदि गुण मिथ्यात्वी में भी मिलते हैं । कहा है—

"दक्खिन्नदयालुत्तं, पियभासित्ताइविविहगुणनिवहं ।
सिवमग्गकारणं जं, तमहं अणुमोअए सव्वं ॥ १ ॥
सेसाणं जीवाणं० ॥ २ ॥
एमाइं अन्नं पि अ० ॥ ३ ॥"

एतदाराधनापताकागाथात्रयनुसारेण मिथ्यादृष्टीनां दाक्षिण्य-दयालुत्वादिकं प्रशस्यते, न वेति ? प्रश्ने, उत्तरम्– एतदाराधनापताका-

---

(१) ठाणं ४।४

(२) द्वादशे स्वर्गे गोसालकमतानुसारिण आजीविका मिथ्यादृशो व्रजन्ति ग्रैवेयके तु यतिलिंगधारिनिह्नवादयो मिथ्यादृष्टौ व्रजन्तीत्यौप-पातिकादौ प्रोक्तमस्तीति ।

—सेन प्रश्नोत्तर उल्लास ३

—अभिधा० भाग ६ । पृ० २७५

प्रकीर्णकसंबंधिमकथाद्वयसहित सम्यग्दृष्टि मति ॥१॥ देशविरतिकसंबंधका ॥२॥ ऽविरत—सम्यग्दृष्टि ॥३॥ जिनशासनसंबंधिभिर्विनाऽन्येषां दाक्षिण्य-दयालुत्वादिकं प्रशस्यतयोक्तं, ततो युक्तं ज्ञातं नास्ति, यत एते गुणाः श्री जिनैरानेतव्याः एव कथितास्सन्तीति ।

—अभिधा० भाग ६ । पृ० २७५

अर्थात् जिन शासन से बिना संबधित मनुष्यों में भी नम्रता, दयालुता आदि गुण प्राप्त होते हैं । ये सब गुण जिन शासन देव के धर्म से संबधित है। आराधना पताका में कहा है—

सेसाणं जीवाणं, दाणरुइत्तं सहावविणियत्तं ।
तह पयणु कसायत्तं, परोवगारित्त भव्वत्तं ॥३१०॥
दक्खिन्नदयालुत्तं, पियभासित्ताइविविहगुणनिवहं ।
सिवमग्गकारणं ज, त सव्वं अनुमयं मज्झं ॥३११॥
इअ परकयसुकयाणं, बहूणमणुमोअण्णा कया एवं ।
अह नियसुचरियनियरं, सरेमि संवेगरंगेण ॥३१२॥

—आराधना पताका—

अर्थात् स्वभाव से भद्रता, विनीतता, अल्प कषाय, नम्रता, दयालुता, प्रिय वचन आदि विविध गुण—मोक्ष मार्ग के कारण हैं । प्राणीमात्र इन सब गुणों की आराधना कर सकते हैं—इन गुणों की आराधना करनी निरवद्य है।

सेन प्रश्नोत्तर में कहा है—

चतुरश्शरणेऽपि, अथ च मिथ्यात्वीनां परपक्षिणां च दयामुखः कश्चिदपि गुणो नानुमोदनीय इति ते वदन्ति तेषां संमा मति कथं कथ्यत इति ।

—सेनप्रश्नोत्तर उल्लास ४

अर्थात् मिथ्यात्वी में प्राप्त दयादि गुणों का जो किंचित् भी अनुमोदन नहीं करते हैं उन्हें सम्यग्दृष्टि कैसे कह सकते हैं । अस्तु मिथ्यात्वी में दयादि गुणों का सद्भाव पाया जाता है ; वे गुण निरवद्य हैं । कहा है—

तामलितापसआदीनां तु शास्त्रेष्विन्द्रत्वादिप्राप्तिः कथितास्ति, सा च सकामनिर्जरया भवति ।

—सेन प्रश्नोत्तर उल्लास ४

अर्थात् तामली तापस आदि ने सकाम निर्जरा के द्वारा इन्द्रत्व पद को प्राप्त किया ।

मिथ्यात्वी के कायक्लेश तथा प्रतिसंलीनता तप आदि से सकाम निर्जरा होती है । आगम मे इन्हें बाह्य तप कहा है ।[1] तप रूप धर्म की आराधना मिथ्यात्वी कर सकते हैं, आतापना, कायक्लेश आदि तप मिथ्यात्वी क्यों नहीं कर सकते हैं अर्थात् कर सकते हैं ।[2] आचार्य भिक्षु ने कहा है—

त्याग किया बिना हिंसा टाले
तो पिण कर्म निर्जरा थावे जी

अर्थात् प्रत्याख्यान किये बिना भी जो हिंसा से निवृत्त होते हैं उनके भी निर्जरा होती है । देखा जाता है कि कतिपय मिथ्यात्वी बिना मतलब किसी को पीड़ा नहीं देते हैं, न सताते हैं क्या वे अहिंसा की अंशतः आराधना नहीं कर सकते ।

सामान्यतः यथाप्रवृत्तिकरण आदि के भेद होने से योग का बीज प्रस्फुटित होता है ।[3] इसके पूर्व मिथ्यात्वी के सकाम निर्जरा भी नाममात्र की होती है । महा मिथ्यात्व में ग्रसित मिथ्यात्वी के सकाम निर्जरा सम्भव नहीं है । कटुक मिथ्यात्व की निवृत्ति होने से किंचित् मधुरता पनपती है ।[4] यह स्थिति अभव्य के भी

---

१—अभिधान राजेन्द्रकोष भाग ३। पृ० २७६

२—तत्त्वार्थ भाष्य अ ९।६ पर सिद्धसेनगणि टीका पृ० १९९

३—तस्य सामान्येन यथाप्रवृत्तिकरणभेदत्वात्तस्य च योगबीजत्वानुपपत्तेः । एतत्सर्वमेव सामस्त्यप्रत्येकभावाभ्यां योगबीजं मोक्षयोजकानुष्ठान कारणम् ।

—योगदृष्टिसमुच्चय श्लोक २३—टीका

४—योगदृष्टिसमुच्चय श्लोक २४—टीका

होती है। यद्यपि वे यथाप्रवृत्ति करण के पश्चात् के करणों में प्रवेश नहीं करते हैं। यद्यपि मिथ्यात्वी के महान् कार्य वाला सदनुष्ठान का अभाव है क्योंकि वह अभी हिताहित विवेक शून्य बाल है।[1] परन्तु उनका जो भी सद्अनुष्ठान है वह फलतः निर्जरा का कारण बनता है। सिद्धान्त का नियम है कि मिथ्यात्वी निर्जरा धर्म के बिना सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकते हैं। हरिभद्रसूरि ने कहा—

श्रुताभावेऽपि भावेऽस्या, शुभभावप्रवृत्तितः।
फलं कर्मक्षयाख्यं स्या—त्परबोधनिबंधनम्॥

—योगदृष्टि समुच्चय श्लोक ५४

अर्थात् श्रुत अर्थात् सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन के अभाव में भी शुभ भाव की प्रवृत्ति से कर्म क्षय होता है।

मिथ्यात्वी को चाहिए कि वह अहिंसा और तप धर्म की आराधना आत्म-शुद्धि की भावना से करे, प्रत्युत सकाम निर्जरा होगी। आचार्य भिक्षु ने कहा है—

सुभ जोग संवर निश्चें नहीं, सुभयोग निरवद् व्यापार।
ते करणी छें निर्जरा तणी, तिणसूं कर्म न रुकें लिगार।
सुभ जोग नें संवर जूआ जूआ छें,
त्यां दोयां रा जूओं जूओं छें सभाव।
त्यां दोयां नें एक सरधें अग्यांनी,
तिण निश्चेंइ कीधों छें मोटो अन्याव॥

—नव पदार्थ की चोपई

अर्थात् शुभ योग निश्चय ही संवर नहीं है। शुभ योग निर्जरा की करणी है अतः उससे कर्मों का निरोध नहीं होता है। अस्तु शुभ योग और संवर अलग-अलग है। जो इन दोनों को एक श्रद्धता है वह मोटा अन्याय है। मिथ्यात्वी के संवर नहीं होता है परन्तु शुभ योगादि से निर्जरा होती है। निर्जरा की करणी निर्मल है, भगवान की आज्ञा के अन्तर्गत की क्रिया है। अतः

(१) योगदृष्टि समुच्चय श्लोक ३० टीका।

मिथ्यात्वी अहिंसा तथा तप धर्म की अपेक्षा मोक्ष मार्ग के देशाराधक कहे गये हैं। सब निरवद्य क्रियाओं के द्वारा वे आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं।

आचार्य भिक्षु ने भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर खण्ड १ में कहा है—

उपसम खायक खय उपसम भाव निरमला,
ते निज गुण जीव रा निर्दोष हो।
ते तो देस थकी जीव उजलो,
सर्व उजलो ते मोक्ष हो॥

—नव पदार्थ की चोपई, निर्जरा पदार्थ की ढाल १।१३

अर्थात् उपशम, क्षायिक और क्षयोपशम—ये तीनों निर्मल भाव हैं। ये जीव के निर्दोष स्वगुण है। इन से जीव देश रूप निर्मल होता है। वह निर्जरा है और सर्व रूप निर्मल होता है, वह मोक्ष है। यद्यपि मिथ्यात्वी के मोहनीय कर्म का उपशम तथा ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षय नहीं होता है परन्तु ज्ञानावरणीयादि चार घातिक कर्मों का क्षयोपशम होता है। उस क्षयोपशम भाव से मिथ्यात्वी निर्मल होता है, वह निर्जरा है। अधिक क्या कहे अहिंसा और तप से मिथ्यात्वी अनन्त संसारी से परीत संसारी हो जाता है। सद्-अनुष्ठान की महिमा निराली है। प्राणि-वध, मृषावाद, चोरी, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रि भोजन के करने से मिथ्यात्वी बचने का प्रयास करे। ये सब निरवद्य अनुष्ठान हैं मिथ्यात्वी के आध्यात्मिक विकास में ये सब परम उपयोगी हैं।

निर्जरा आत्म-प्रदेशों की उज्ज्वलता है; इस अपेक्षा से वह निरवद्य है। निर्जरा की करनी शुभ योग रूप होने से निर्मल होती है अतः निरवद्य है। आध्यात्मिक विकास के द्वार सबके लिए खुले हुए हैं अतः मिथ्यात्वी दत्तचित्त होकर सद्अनुष्ठान का अवलम्बन ले।

—:o:—

# : परिशिष्ट :

## प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

| ग्रन्थ का नाम | प्रकाशक या लेखक का नाम |
|---|---|
| (१) अणुत्तरोववाइयदसाओ | जैन विश्व भारती, लाडनूं |
| (२) अणुओगद्दाराइं (हारिभद्रीयवृत्ति) | श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई |
| (३) अंतगडदसाओ | जैन विश्व भारती, लाडनूं |
| (४) अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका | परम श्रुत प्रभावक मंडल, अगास |
| (५) अनुकम्पा री चोपई | आचार्य भिक्षु |
| (६) अभिधान चिंतामणि कोष (अभिधान०) | आचार्य हेमचन्द्र |
| (७) अभिधान राजेन्द्र कोष | श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय जैन श्वे० समस्त संघ, रतलाम |
| (८) अष्टप्रकरण ( श्री हरिभद्र सूरि) | श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई |
| (९) अष्ट प्राभृत | परम श्रुत प्रभावक मंडल, रतलाम |
| (१०) आत्म सिद्धि | मनसुखलाल रवजीभाई बंबई |
| (११) आतुर प्रत्याख्यान | आगमोदय समिति, बंबई |
| (१२) आनंदघन चतुर्विंशतिका (आनंदघन ) | |
| (१३) आयारो ( आया० ) | जैन विश्व भारती, लाडनूं |
| (१४) आराधना | श्री भक्ताचार्य |
| (१५) आराधना पताका | वीरभद्र |
| (१६) आवश्यक निर्युक्ति (मलयगिरि टीका) (आव० नि०) | आगमोदयसमिति, बंबई |
| (१७) आवस्सय सुत्तं | श्री श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट |
| (१८) आर्हत् दर्शन दीपिका | हीरालाल रसिकलाल कापड़िया |
| (१९) ईशोपनिषद् | |
| (२०) उत्तरज्झयणाइं (उत्त०) | श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता |

| ग्रन्थ का नाम | प्रकाशक या लेखक का नाम |
|---|---|
| (२१) उत्त० निर्यु क्ति | आचार्य भद्रबाहु |
| (२२) उत्त० टीका | सो० मणीबाई राजकरण छगनलाल, पालनपुर |
| (२३) उपनिषद् | |
| (२४) उवासगदाओ | जैन विश्व भारती लाडनूं |
| (२५) ऋग्वेद | |
| (२६) ओवाइयं (ओव०) | श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कलकत्ता |
| (२७) कठोपनिषद् | |
| (२८) कप्पवडिंसियाओ | गुर्जर ग्रन्थ कार्यालय, अहमदाबाद |
| (२९) कप्पसुत्तं | साराभाई मणीलाल नवाब अहमदाबाद |
| (३०) कर्म ग्रन्थ टीका—(कर्म) | श्री आत्मानन्द सभा, भावनगर |
| (३१) कर्म ग्रन्थ हिन्दी टीका | श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा |
| (३२) कर्मयोग | श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर |
| (३३) कर्म प्रकृति | भगवानदास हर्षचन्द्र जोशी अहमदाबाद |
| (३४) कल्पभाष्य | |
| (३५) कसाय पाहुडं—(कसा पा०) | जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय विदिशा (M.P.) |
| (३६) क्रियाकोष | जैन दर्शन समिति, कलकत्ता |
| (३७) गणधरवाद | गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद |
| (३८) गतागत का थोकड़ा | |
| (३९) गोम्मटसार (कर्म काण्ड) | परम श्रुत प्रभावक मंडल, आगास |
| (४०) गोम्मटसार (जीव काण्ड) | ,, ,, |
| (४१) चउप्पन्नमहापुरिसचरियं (चउप्पन्न) | प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी |
| (४२) चंदपण्णत्ती | लाला सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद, हैदराबाद |
| (४३) श्री चंद्रप्रभ चरित्र | श्रीमति गंगाबाई जैन चेरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई |
| (४४) चौबीसी | श्री महालचंद बैद, कलकत्ता |
| (४५) छांदग्योपनिषद् (शांकर भाष्य) | |

| ग्रन्थ का नाम | प्रकाशक या लेखक का नाम |
|---|---|
| (४६) जंबूदीवपण्णत्ती | देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार फंड, सूरत |
| (४७) जिनाज्ञा री चौपई | आचार्य भीखणजी |
| (४८) जीव-अजीव | श्री जैन श्वे० ते० सभा, श्रीडूंगरगढ़ |
| (४९) जीवाजीवाभिगमो | देवचंद लालभाई जवेरी, सूरत |
| (५०) जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व | मोतीलाल बेंगानी चेरिटेबल ट्रष्ट, कलकत्ता |
| (५१) जैनागमों में अष्टांग योग ( अष्टांग योग ) | छोटेलाल मानकचन्द पालावत जैन, अलवर |
| (५२) जैन पदार्थ विज्ञान में पुद्गल | श्री जैन श्वे० ते० महासभा कलकत्ता |
| (५३) जैन भारती-१९५३ | श्री जैन श्वे० ते० महासभा, कलकत्ता |
| (५४) जैन सिद्धान्त दीपिका | आदर्श साहित्य संघ, सरदारशहर |
| (५५) जैन सिद्धान्त बोल संग्रह | अगरचन्द भैरूंदान सेठिया बीकानेर |
| (५६) झीणी चर्चा | श्री मज्जयाचार्य |
| (५७) ठाणं | जैन विश्व भारती, लाडनूं |
| (५८) तत्त्वार्थसार | सनातन जैन ग्रन्थमाला, बंबई |
| (५९) तत्त्वार्थ सूत्र (तत्त्वा) | हिन्दी व्याख्या- पं सुखलालजी |
| (६०) तत्त्वार्थ सूत्र सभाष्य | श्री परम श्रुत प्रभावक मंडल, बंबई |
| (६१) तत्त्वार्थवार्तिक | भारतीय ज्ञान पीठ, काशी |
| (६२) तत्त्वार्थ-सर्वार्थसिद्धि | ,, |
| (६३) तत्त्वार्थ-सिद्धसेनगणि टीका | देवचंद लालभाई, अहमदाबाद |
| (६४) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार— | श्री आचार्य कुंथुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर |
| (६५) तिलोय पण्णत्ती | जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर |
| (६६) तीन सौ छः बोल की हुंडी | श्री मज्जयाचार्य |
| (६७) तुलसी कृत रामायण | |
| (६८) दसवेआलियं | श्री जैन श्वे० ते० महासभा कलकत्ता |
| (६९) द्वादशानुप्रेक्षा | पाटनी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला मारोठ (राजस्थान) |
| (७०) दशासुयक्खधो (दशाश्रुत०) | जैन शास्त्र माला कार्यालय, लाहौर |

| ग्रन्थ का नाम | प्रकाशक या लेखक का नाम |
| --- | --- |
| (७१) दीर्घ निकाय | |
| (७२) ध्यान दीपिका | देवीदास हेमचंद बोरा, खड़गपुर (बंगाल) |
| (७३) धम्मपद | |
| (७४) धर्मोपदेशमाला-सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्या भवन, बम्बई | |
| (७५) धम्मरसायण | एम० डी० बी० बम्बई |
| (७६) ध्यान विचार | श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर |
| (७७) ध्यान शतक | आदर्श साहित्य संघ, चूरू |
| (७८) धर्मशर्माभ्युदयम् | भारतीय ज्ञान पीठ, काशी |
| (७९) ध्यानस्तव | ,, |
| (८०) धर्मसंग्रह | देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धारक फंड, बम्बई |
| (८१) नवतत्त्वप्रकरणम् | पं० भगवान दास हर्षचन्द, अहमदाबाद |
| (८२) तत्त्वार्थवृत्ति-श्रुतसागरीयवृत्ति | भारतीय ज्ञानपीठ, काशी |
| (८३) नवतत्त्वसाहित्य संग्रह | श्री माणेक लाल भाई |
| (८४) नंदी सुत्तं | श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई |
| (८५) नव पदार्थ की चौपई | आचार्य भिक्षु |
| (८६) न्याय दीपिका | श्री जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई |
| (८७) न्यायशास्त्र | जय कृष्णदास गुप्ता, विद्या विलास प्रेस बनारस |
| (८८) नायाधम्मकहाओ | जैन विश्व भारती, लाडनूं |
| (८९) नारद भक्ति सूत्र | |
| (९०) निरयावलियाओ | गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद |
| (९१) पउमचरियं | प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी |
| (९२) पंच संग्रह-संस्कृत (दि०) | बालचंद कस्तुरचन्द गांधी, धाराशिव |
| (९३) पंच संग्रह ( दि० ) प्राकृत | भारतीय ज्ञान पीठ, काशी |
| (९४) पंच संग्रह ( श्वे० ) प्राकृत | श्रावक हीरालाल हंसराज जामनगर |
| (९५) पंचाध्यायी | नाथारंग गांधी कोल्हापुर |
| (९६) पंचास्तिकाय | श्री परम श्रुत प्रभावक जैन मंडल, बम्बई |

| ग्रन्थ का नाम | प्रकाशक या लेखक का नाम |
|---|---|
| (९७) पण्णवण्णा सुत्तं | श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई |
| (९८) परमात्म प्रकाश | श्री मणीलाल रेवाशंकर जौहरी बम्बई |
| (९९) पण्हावागरणाइं | जैन विश्व भारती, लाडनूं |
| (१००) पाना की चर्चा | कुं भकरण टीकमचंद चोपड़ा, गंगाशहर |
| (१०१) पातंजल योग सूत्र | आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा |
| (१०२) पातंजल योग प्रदीप | गीता प्रेस, गोरखपुर |
| (१०३) प्रेमयोग | श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर |
| (१०४) प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार | वादिदेवसूरि |
| (१०५) प्रज्ञापना टीका | आगमोदय समिति, बम्बई |
| (१०६) प्रवचन सार | श्री परम श्रुत प्रभावक जैन मंडल, बम्बई |
| (१०७) प्रवचनसारोद्धार | देवचन्द लालभाई, जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई |
| (१०८) प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध | श्री धनसुखदास हीरालाल, आँचलिया, गंगाशहर |
| (१०९) प्रशमरतिप्रकरणम् | श्री जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर |
| (११०) पुद्गल कोश | अप्रकाशित |
| (१११) पुप्फचूलियाओ | श्री गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद |
| (११२) पुप्फियाओ | " |
| (११३) पुरुषार्थ सिद्ध्युपायो | |
| (११४) बृहद्द्रव्य संग्रह-(द्रव्यसंग्रह) | जैन साहित्य प्रचारक कार्यालय, लाहौर |
| (११५) बृहदारण्यक | |
| (११६) बिहुकप्पो | आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर |
| (११७) भगवई | जैन विश्व भारती, लाडनूं |
| (११८) भगवती टीका | अभयदेव सूरि |
| (११९) भगवती की जोड़ | श्री मज्जयाचार्य |
| (१२०) भगवद् गीता | गीता प्रेस, गोरखपुर |
| (१२१) भक्तियोग | श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर |
| (१२२) भिक्षुशब्द रत्नाकर भाग १ | श्री जैन श्वे० ते० महासभा कलकत्ता |

| ग्रन्थ का नाम | प्रकाशक या लेखक का नाम |
|---|---|
| (१२३) भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर खण्ड २ | श्री जैन श्वे० ते० महासभा, कलकत्ता |
| (१२४) भिक्षु न्याय कर्णिका | आदर्श साहित्य संघ, चुरु |
| (१२५) भ्रमविध्वंसनम् | श्री ईसरदास चोपड़ा, गंगाशहर |
| (१२६) मज्झिम निकाय | महाबोधि सभा, कलकत्ता |
| (१२७) मनुस्मृति | |
| (१२८) मनोनुशासनम् | युग प्रधान आचार्य श्री तुलसी |
| (१२९) महाबंध | भारतीय ज्ञान पीठ, काशी |
| (१३०) महाभारत | |
| (१३१) मानव पथ (भगवान महावीर) | श्री महावीर परिषद् हुबली, मद्रास |
| (१३२) मिथ्याती री करणी री चोपई | आचार्य भिक्षु |
| (१३३) मूँडकोपनिषद् | |
| (१३४) मूलाराधना (अपरनाम भगवती आराधना) | धर्मवीर राव श्री सखाराम दोशी; सोलापुर |
| (१३५) योगदृष्टि समुच्चय | जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद |
| (१३६) योगबिंदु | ,, ,, |
| (१३७) योगविंशिका | श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक, मंडल आगरा |
| (१३८) योगसार टीका (श्री योगीन्दु देव) | मूलचंद किसन दास कापड़िया, सूरत |
| (१३९) योगसार (आचार्य अमितगति) | भारतीय ज्ञान पीठ, काशी |
| (१४०) योग सूत्र | |
| (१४१) योगशतक | गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद |
| (१४२) योग शास्त्र | श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ, दिल्ली |
| (१४३) रत्नाकरण्डक श्रावकाचार | माणिकचंद्र दि० जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई |
| (१४४) रायपसेणइयं | गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद |
| (१४५) लक्खणसुत्तं | |
| (१४६) लेश्या कोश | श्री मोहनलाल बांठिया, कलकत्ता |
| (१४७) लोक प्रकाश | श्री जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद |

| ग्रन्थ का नाम | प्रकाशक या लेखक का नाम |
|---|---|
| (१४८) वण्हिदसाओ | गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, अहमदाबाद |
| (१४९) ववहारो | डा० जीवराज घेला भाई डोसी, अहमदाबाद |
| (१५०) वसुदेव हिंडी | श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर |
| (१५१) विष्णुपुराण— | |
| (१५२) विवागसुयं | जैन विश्व भारती, लाडनूं |
| (१५३) विशेषावश्यक भाष्य (विशेभा) | दिव्य दर्शन कार्यालय, अहमदाबाद |
| (१५४) वीतराग स्तोत्र | हेमचन्द्राचार्य |
| (१५५) वीरजिणदचरिउ | भारतीय ज्ञान पीठ, वाराणसी |
| (१५६) वीरवर्धमानचरित्त | ,, ,, |
| (१५७) व्यासभाष्य | |
| (१५८) व्यवहार भाष्य | जिनभद्रगणि |
| (१५९) षट्खंडपाहुड—चरित्रप्राभृत | आचार्य कुन्दकुन्द |
| (१६०) षट्खंडपाहुड, दर्शन प्राभृत | ,, |
| (१६१) षट्खंडागम ( षट् ) | जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, भेलसा (मध्यप्रदेश) |
| (१६२) शतकचूर्णिका | |
| (१६३) शांतसुधारस | श्री विनयविजयजी |
| (१६४) शांडिल्य सूत्र | |
| (१६५) श्रीमद् भागवत पुराण | |
| (१६६) समयसार | श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मंडल, बम्बई |
| (१६७) समवाओ | जैन विश्वभारती लाडनूं |
| ,, | ( टीका ) श्रेष्ठि माणेकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद |
| (१६८) समाधि शतक | सनातन जैन ग्रन्थमाला, बम्बई |
| (१६९) संबोधाष्टोत्तरी ? | रत्नशेखर सूरि |
| (१७०) संयमप्रकाश | आ० श्रुतसागर दिगम्बर ग्रन्थमाला समिति, जयपुर |
| (१७१) सत्य की खोज—अनेकांत के आलोक में | जैन विश्वभारती, लाडनूं |

| ग्रन्थ का नाम | प्रकाशक या लेखक का नाम |
|---|---|
| (१७२) सरधा आचार री चोपई | सुमेरमल कोठारी, चूरू |
| (१७३) सांख्य सूत्र | |
| (१७४) सूयगडांग | जैन विश्वभारती लाडनूं |
| (१७५) सूरपन्नत्ती | आगमोदय समिति, मेहसाना |
| (१७६) सेन प्रश्नोत्तर | |
| (१७७) स्याद्वाद मंजरी | परम श्रुत प्रभावक मंडल, अगास श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम |
| (१७८) हितोपदेश | |
| (१७९) हरिवंशपुराण | माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई |
| (१८०) त्रिषष्ठि शलाकापुरुषचरित्र | श्रीमती गंगाबाई जैन चेरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई |
| (१८१) ज्ञान योग | श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर |
| (१८२) ज्ञान सार | श्री विश्वकल्याण प्रकाशन, मेहसाना |
| (१८३) ज्ञानार्णव | परम श्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई |
| (१८४) अथर्ववेद | |
| (१८५) सी, बी० ई० बी० | डा० हर्मन जेकोबी |
| (१८६) As your live it | Shokespear's |


—:o:—